जेम्स एस० रॉस

शिक्षण-सिद्धान्त के मूल आधार

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली - जालन्धर - लखनऊ

शिक्षण-सिद्धान्त

के

मूल आधार

जेम्स एस० रॉस

[illegible]

शिक्षण-सिद्धान्त के मूल आधार

शिक्षण-सिद्धान्त के मूल आधार

(Groundwork of Educational Theory)

लेखक

जेम्स एस० रॉस सी० बी० ई०

एम० ए०, बी० एस-सी० (सेंट एंड्रूज), एम० ए० (लंदन)

आचार्य, वेस्टमिंस्टर ट्रेनिंग कालेज

१९५७

एस० चंद एण्ड कम्पनी

दिल्ली : जालंधर : लखनऊ

Published in India by S. Chand & Co. Fountain, Delhi—
by Arrangement with M/S. George G. Harrap
& Co. Ltd., London.

एस० चंद एण्ड कम्पनी

आसफअली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
माईहीरां गेट जालन्धर
लाल बाग लखनऊ

मूल्य ५)

मुद्रक—हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली ।

दो शब्द

यह पुस्तक 'Groundwork of Educational Theory' (अप्रैल १९५५ संस्करण) का हिन्दी अनुवाद है। इसके लेखक श्री जेम्स एस. रॉस इंग्लैंड के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हैं और उन्होंने शिक्षा-विषयक अनेक पुस्तकें लिखी हैं जो अध्यापन के पेशे में जाने वाले छात्रों को पाठ्य-पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाती हैं।

पुस्तक में 'शिक्षा में धर्म का स्थान' शीर्षक अध्याय भारतीय विचारकों के लिए विशेष रूप से मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि राज्य से सहायता पाने वाले स्कूलों में किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा न देने का प्रतिबंध किसी समय इंग्लैंड में भी उसी तरह लागू था जिस तरह यह आज भारत में लागू है। इंग्लैंड के विभिन्न संप्रदायों के नेताओं ने जिस प्रकार आपसी मेल-जोल से इस समस्या को हल कर लिया, वह हमारे लिए प्रेरणादायक और पथ-प्रदर्शक हो सकता है।

हिन्दी में इस तरह की विचार-पूर्ण पुस्तकों का बिलकुल अभाव है। आशा है कि उसकी कुछ पूर्ति इस प्रकाशन से हो सकेगी।

प्रकाशक

दिल्ली

जनवरी, १९५७

भूमिका

इस पुस्तक में शिक्षण की समस्याओं पर जो विचार किया गया है वह मेरी पहले प्रकाशित पुस्तक 'Groundwork of Psychology' में प्रस्तुत विचार का पूरक है, और इसे उसकी सहायक पुस्तक ही समझना चाहिए। यह कहना तो बड़ी अतिशयोक्ति करना होगा कि शिक्षा में मनोवैज्ञानिक आन्दोलन खतम हो चुका, पर तो भी इतनी बात सत्य है कि सभ्यता के कदम द्वितीय महायुद्ध के महाविनाश की ओर तेजी से बढ़ने से शिक्षा-क्षेत्र और आम जनता में यह बात अधिक स्पष्ट रूप में महसूस की जाने लगी है कि शिक्षण-विज्ञान शिक्षण के दर्शन का अनुगामी होना चाहिए, और बाल-प्रकृति का ज्ञान और शिक्षण की कला चाहे जितने उन्नत हों, पर वे शिक्षा के किसी समुचित लक्ष्य की सिद्धि के उपकरण मात्र हैं। इसलिए यदि शिक्षा को अपना वह लक्ष्य पूरा करना है जिसकी इससे आशा की जाती है तो हमें शिक्षा के प्रयोग के बुनियादी दर्शन पर विचार करने के कारण क्षमा-याचना करने की आवश्यकता नहीं।

मुख्यतः उन छात्रों की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए जो अध्यापन-वृत्ति की तैयारी कर रहे हैं, मैंने शिक्षा के सिद्धांतों और प्रयोग पर मोटे दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया है। बात को स्पष्ट और सुबोध बनाये रखने के लिए मैंने उन बारीकियों को दूर रखा है जो दर्शन के व्यवस्थित अध्ययन की विशेषता होती है। मैं जानता हूँ कि यदि किसी दर्शन-शास्त्री को यह पुस्तक देखने का मौका हुआ तो वह मुझ पर यह दोष लगाएगा कि मैंने दार्शनिक मतों को अनुचित सरलता का रूप दे दिया है, और उनके प्रभेदों को बड़े सीधे ढंग से पेश कर दिया है, तथा अपने मतलब की बात छाँट ली है और बाकी छोड़ दी है। मेरा जवाब यह है कि अनुभव से मैंने यह देखा है कि छात्रों को अधिक बारीकियों वाली और कठिन पुस्तकें उत्साहपूर्वक पढ़ने की प्रवृत्ति तब आसानी से होती है जब उन्होंने उस विषय की मोटी रूपरेखा सरल शब्दों में पढ़ रखी हो। यदि मेरी इस रचना से भावी अध्यापक को यह निश्चय हो जाए कि उसे जीवन और शिक्षा के दर्शन का व्यवस्थित रूप में अध्ययन करना चाहिए, यदि इससे उसे उस दर्शन की खोज शुरू करने और जारी रखने को बढ़ावा मिले, तो इसका उद्देश्य पूरा हो जाएगा, और मैं अपने आपको उन पाठकों की क्षमा का पात्र समझूँगा जो दर्शन-शास्त्र के पंडित हैं।……

जेम्स एस० रॉस

वेस्टमिन्स्टर कालेज

विषय-सूची

28.7.58.

शिक्षण-सिद्धान्त के मूल आधार

अध्याय १

दर्शन और शिक्षा

(Philosophy and Education)

चैस्टर्टन ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि मकान-मालिक के लिए यह जानना तो महत्त्वपूर्ण है ही कि उसके बनने वाले किरायेदार की आमदनी क्या है, पर यह जानना उसके लिए और भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके जीवन की फिलासफी या उसका जीवन-दर्शन क्या है। अगर पाठक यह मान सकता है कि यह बात कमरे किराये पर उठाने के दुनियावी काम के बारे में सच हो सकती है, तो उसे इस बात पर चौंकना न चाहिए कि शिक्षा-सम्बन्धी सब प्रश्न अन्ततः फिलासफी या जीवन-दर्शन के प्रश्न हैं; उसे यह न सोचना चाहिए कि इस तरह की बात कहकर व्यावहारिक और तात्कालिक बात को अमूर्त और दूर-कालिक बात में बदल देने की कोशिश की जा रही है, या इस कथन का यह अर्थ है कि किसी विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले अन्यमनस्क स्वप्नदर्शी को, स्कूलों में वस्तुतः पढ़ाने वाले अध्यापक को रास्ता बताने के लिए, बुलाया जा रहा है पर यदि वह कुछ जिज्ञासा रखे तो 'फिलासफी' और 'शिक्षा' शब्दों के अर्थों के बारे में थोड़ी सी भी जाँच-पड़ताल से यह निश्चय हो जाएगा कि ये दोनों भाव (Notions) उसी तरह एक ही वस्तु के विभिन्न दृष्टिकोणों को सामने लाते हैं, और कि एक दृष्टिकोण दूसरे को उसी तरह ध्वनित करता है, जैसे एक सिक्के के दो पहलू।

तो, 'फिलासफी' क्या चीज है? पढ़ने-लिखने वाले लोग 'नेचुरल फिला-सफी' 'मेंटल फिलासफी' और 'मॉरल फिलासफी' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इनसे उनका आशय क्रमशः नेचर यानी प्रकृति, माइंड यानी मन, और मॉरल यानी सदाचार सम्बन्धी अध्ययन से होता है। पर विश्वविद्यालयों के

पाठ्यक्रम में भी एक 'फिलासफी' विषय है जिसके साथ कोई विशेषण नहीं लगा हुआ है। इस शब्द का अर्थ प्लेटो की पुस्तक **रिपब्लिक** में स्पष्ट रूप में मिलता है: "जिसे हर तरह के ज्ञान में रुचि है, और जो नई बातें जानने का कुतूहल रखता है और कभी सन्तुष्ट नहीं होता, उसको फिलासफर (यानी दार्शनिक) नाम देना उचित होगा"[१]। यह वह व्यक्ति है जिसे ज्ञान प्राप्त करने का शौक है; उसकी ज्ञान की प्यास कभी नहीं बुझती और वह उत्सुकतापूर्वक विविध विज्ञानों को जानने का यत्न करता है और मानव-ज्ञान के एक क्षेत्र के बाद दूसरे में घुसता चला जाता है। पर वह एक सुनिश्चित उद्देश्य से ऐसा करता है—वह ज्ञान के कण इकट्ठे भर नहीं कर लेता—वह विविध विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत ईंटों से एक भवन का निर्माण करने का यत्न करता है और इसके लिए वह उनके अलग-अलग निष्कर्षों को एक सर्वांगीण समष्टि बनाने के लिए परस्पर सम्बन्धित और संश्लेषित करता है। वह "ज्ञान के सिर्फ एक भाग का प्रेमी न होकर, उसकी समष्टि का प्रेमी होता है"[१]। कोई चीज उसके क्षेत्र से बाहर नहीं; वह सारे ज्ञान को अपना भ्रमण-क्षेत्र समझता है और अपनी दृष्टि को किसी सीमा से नहीं बंधने देता। उसकी इच्छा है "जीवन को लगातार देखते रहना और वह इसे समष्टि रूप में देखना चाहता है"। जब ग्लाकन ने पूछा था: "सच्चे फिलास्फर (यानी दार्शनिक) कौन हैं?" तब सुकरात ने उत्तर दिया था: "सच्चे दार्शनिक वे हैं जो सत्य ज्ञान के प्रेमी" हैं। वे उस तरह के ज्ञान के प्रेमी हैं "जो उन्हें उस चिरन्तन प्रकृति का दर्शन कराता है जो उत्पत्ति और विकृति से परिवर्तित नहीं होती।'

इस प्रकार दार्शनिक जिज्ञासा का विषय स्वयं सत्य सा वास्तविकता (Reality) है। ऐसा होते हुए दर्शन का मुख्य प्रश्न हमेशा वही रहा है और हमेशा वही रहेगा जो गीतकार (Psalmist) ने प्राचीन काल में पूछा था: "मनुष्य क्या है?" आकाश, चन्द्रमा और तारों का [illegible] जीवन की प्रकृति, मनुष्य की प्रकृति, उसके उद्गम और नियति (Destiny) [illegible]कृति, और उसके प्रयत्नों के लक्ष्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों से हमेशा पीछे [illegible] फिलासफर या दार्शनिक ऐसे प्रश्नों की खोज में चलता है; विभिन्न दर्शन उनके इतने विभिन्न

---

१. **रिपब्लिक**, V. 475.

उत्तर ही तो हैं। सच पूछिए तो यह कहा जा सकता है कि वे सब लोग, जो सचाई से और साहस से इन प्रश्नों के कोई उत्तर देने की कोशिश करते हैं, और जिनमें कुछ सुसंगति (Consistency) और तर्कबद्धता है, फिलास्फर या दार्शनिक हैं, चाहे वे भौतिकवादी (जैसे चार्वाक) हों, जीव-शास्त्रवादी (Biologists) हों, ईश्वर-विज्ञानवादी (Theologists) हों, या अज्ञेयवादी (Agnostics) हों। वे प्राचीन मनीषी, जिन्होंने प्राकृतिक प्रतीतियों को देवताओं का रूप दिया; १९वीं शताब्दी के वे वैज्ञानिक[1] जिन्होंने परमाणु, गति और ऊर्जा (Energy) के रूप में दुनिया को समझने का यत्न किया; किसी भी युग के धार्मिक लोग जो मनुष्यों के मामलों में ईश्वर का सीधा हस्तक्षेप देखते आए हैं; ये सब के सब लोग उतनी दूर तक दार्शनिक हैं जितनी दूर तक उन्होंने इन मूलभूत बातों पर एक तर्कानुमोदित दृष्टिकोण पेश करने की कोशिश की है। शायद यह कहना गलत न होगा कि ऐसे प्रश्न पूछना और उनका उत्तर देने की कोशिश करना ही जीवन के प्रति दार्शनिक रुख है, चाहे पेश की गई उपपत्तियाँ (Theories) सम्भाव्य (Probable) हों, या असम्भाव्य (Improbable), ऊँची हो या नीची, सुसंगत हों या असंगत।

बात यह है कि इस बात का बड़ा महत्त्व है कि किसी मनुष्य का जीवन के सम्बन्ध में क्या विश्वास है। प्रोफेसर जॉन ड्यूई ने व्यावहारिक फिलासफी का पक्ष-पोषण करते हुए कहा है : "जब कभी फिलासफी को गम्भीरता से समझा गया है, तब ह[illegible]ा यह धारणा रही है कि इसका अर्थ कोई ऐसी अकलमन्दी की बात (Wisdom) या ज्ञान प्राप्त कर लेना है, जो जीवन मार्ग को प्रभावित करे"[1]। एलडस हक्सले ने कहा है :

"मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में अपनी फिलासफी तथा संसार के बारे में अपनी धारणा के आ[illegible] ही जीवन बिताते हैं। यह बात अधिक-से-अधिक विचारहीन लोगों [illegible] में भी सच है। बिना किसी आध्यात्मिक विचार (Metaphysics[illegible] जीवन चलाना असम्भव है। हमें यह नहीं सोचना है कि कोई आध्यात्मिक धारणा रखें या न रखें; हमें सदा यह सोचना होता है कि अच्छी आध्यात्मिक धारणा रखें या बुरी; ऐसी आध्यात्मिक धारणा रखें जो

---

१. Democracy and Education, p. 378.

प्रत्यक्ष और अनुमानित वास्तविकता के साथ युक्ति-युक्ति रीति से बहुत कुछ मेल खाती है, या ऐसी आध्यात्मिक धारणा रखें जो इसके साथ मेल नहीं खाती[1] ।"

यदि कोई आदमी प्रतिकूल परिस्थितियों में शान्त रहता है और परेशान नहीं होता तो साधारण बोलचाल में हम कहा करते हैं कि वह घटनाओं को दार्शनिक दृष्टि से देखता है। इसका अर्थ यह होता है कि उसका साधारण दृष्टि-कोण ऐसा है कि वह सामान्य जीवन के विक्षोभों को ठीक पृष्ठभूमि में देख सकता है, कि जीवन के बारे में उसकी अपनी ऐसी फिलासफी है, जो उसके लिए कुछ उपयोगी है। यदि किसी मनुष्य का जीवन के बारे में कोई विश्वास है, और वह विश्वास सिर्फ दिमागी विश्वास है, तो वह उस विश्वास का एक जीता-जागता उदाहरण पेश करता होगा। सच्चा जीवन-दर्शन अपने धारक के लिए उस मात्रा तक महत्वपूर्ण होता है जहाँ तक वह उसके अनुसार ही जीवन बिताने की, कम-से-कम, कोशिश तो करे।

तो, विभिन्न जीवनदर्शनों के परिणामस्वरूप, जीवन के विभिन्न मार्ग बन जावेंगे। किसी उमरखय्याम को, जो यह विश्वास रखता है कि "जो फूल एक बार खिल चुका है वह सदा के लिए नष्ट हो जाता है", यह बिलकुल स्वाभाविक और ठीक लगता है कि "जो आज मिल रहा है वह ले लो, और बाकी का ध्यान छोड़ दो", कि "प्याला भरो" और आनन्द करो। ऐसे निराशावादी जीवन-दर्शन से हम यह आशा नहीं करते कि वह संटपाल की तरह, 'जो धर्म के उस मुकुट की खोज में, जो पुण्य का फैसला करने वाला ईश्वर उसे देगा……,' और अच्छी तरह लड़ता है, और अपने आपको उसके योग्य बनाने के लिए अपने शरीर को कष्ट देकर काला और नीला बना लेता है, कठोर परिश्रम का जीवन बिताएगा। हम उससे यह आशा नहीं करते कि वह उस [illegible] आगस्टाइन की तरह साक्षात् तपस्या बन जाएगा, जो यह कह सका : "[illegible] ाता है, जिससे हम तेरी स्तुति करके आनन्दित हों, क्योंकि तूने हमें अपने लि[illegible]या है और हमारा हृदय तब तक अशांत रहता है जब तक यह तुझमें विश्राम नहीं करता।" एल्डस हक्सले ने अपनी ऊपर उद्धृत बड़ी मनोरंजक पुस्तक में अपने दृष्टिकोण के परि-

---

१. Ends and Means.

वर्तन का वर्णन किया है जो पहले प्राचीन उमरखय्याम का "आनन्द करो" के जीवन का दृष्टिकोण था, पर बाद में वह अधिक ऊँचे, अधिक आदर्शवादी दार्शनिक धरातल पर पहुँच गया, जहाँ खड़ा होकर वह यह उद्घोषणा कर सकता है कि मनुष्य-जीवन का आदर्श लक्ष्य मानव-दया की वृद्धि है, और ऐसी स्थिति के सब परिणाम अपने ऊपर ले सकता है। इसी प्रकार, जिस मनुष्य को अपनी वैयक्तिक पवित्रता के महत्त्व का ही सबसे अधिक ध्यान है वह बुरे आदमियों की दुनिया से दूर हट जाने को प्रेरित होगा और जो आदमी समाज सेवा का जीवन-दर्शन रखता है वह इससे ठीक उल्टा कार्य करेगा। संक्षेप में, फिलासफी या जीवन-दर्शन एक विशेष जीवन-मार्ग बना देता है, और इस उपपत्ति का विलोम भी सच है। क्या हम किसी मनुष्य की जीवन-पद्धति से उसकी फिलासफी या जीवन-दर्शन का अनुमान नहीं करते ? क्या हम यह नहीं कहा करते कि मनुष्य की बातों की अपेक्षा उसके कार्य उसका अधिक स्पष्ट परिचय देते हैं ? क्या हम यह उद्धरण नहीं दिया करते : "तुम उन्हें उनके फलों (अर्थात् कार्यों) से पहचान जाओगे ?" मनुष्य की जीवन-रीति उसके विश्वास के अनुसार होती है—यह कथन इतना सच है कि हम मनुष्य के आचरण को उसके वचन की संजीदगी की कसौटी बनाते हैं।

पर जो व्यक्ति महत्त्वपूर्ण बातों के बारे में कोई प्रबल विश्वास रखता है, वह आमतौर से अपने ही जीवन को उसके अनुसार चला कर संतुष्ट नहीं होता। उसमें प्रचार के उत्सा[ह] और दूसरों को अपनी तरह सोचने के लिए प्रेरित करने की आग होती है और वह दूसरों को भी अपने विचार के अनुसार चलने वाला बनाना चाहता है। इस प्रवृत्ति के उदाहरणों की कमी नहीं। स्काटिश कावेनेंटरों को मौके-बे-मौके अपने बारे में सबूत देना पड़ता था और वे झगड़े में पड़ने से सिर्फ इस कारण [बच]े रह सके कि उनमें चुप रहने की समझ थी। किसी रविवार को हम [हाइड] पार्क में जाकर देख सकते हैं कि दुनिया भर के धार्मिक विश्वासों का स[...] से प्रचार किया जा रहा है। कम्युनिस्ट और फासिस्ट भी इसी तरह [अप]ने राजनीतिक विश्वासों को दूर-दूर फैलाने की कोशिश करते हैं, और ईसाई चर्च के जीवन और काम का एक महत्वपूर्ण भाग इसका धर्म-प्रचार कार्य है। इस प्रकार, हम किसी विश्वास की प्रबलता का फैसला उसे रखने वाले लोगों की जीवन-रीति से ही नहीं करते; हम यह भी देखते हैं कि वे दूसरों

को अपना दृष्टिकोण समझाने में कितना उत्साह दिखाते हैं। किसी ने अच्छा कहा है कि जो चर्च धर्मप्रचार नहीं करता वह निर्जीव चर्च है। यह बात भी इतनी ही सच है कि जो चर्च शिक्षा में दिलचस्पी नहीं रखता, वह मरा हुआ है, क्योंकि सफल धर्म-प्रचार के लिए सबसे अधिक अच्छा क्षेत्र बच्चों में है। जेसुइट लोग हमेशा यह समझते रहे, और आज रोमन कैथोलिक चर्च भी स्कूलों में अपना पाँव जमाने के लिए बड़ा उत्सुक रहता है। मतलब यह हुआ कि यदि कोई विश्वास सचमुच प्रबल है, तो वह, आवश्यक रूप से, शिक्षा देने के प्रयत्न का रूप ले लेता है। सर जान एडम्स अपने छात्रों से कहा करते थे कि शिक्षा फिलासफी या दर्शन का क्रियात्मक (Dynamic) पहलू है। यह दार्शनिक विश्वास का सक्रिय पहलू और जीवन के आदर्शों को वास्तविक रूप देने का क्रियात्मक साधन है। हमने अपनी बात यहाँ से शुरू की थी कि दर्शन और शिक्षा एक सिक्के के दो पार्श्वों की तरह है; यहाँ पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दर्शन विचारात्मक पहलू है, और शिक्षा क्रियात्मक पहलू। तो, मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि शिक्षा वह प्रभाव है, जो किसी प्रबल विश्वास से युक्त व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर इस उद्देश्य से डाला जाता है कि वह दूसरा व्यक्ति भी यही विश्वास अपना ले। इस जगह शिक्षा के अर्थ पर थोड़ा और विचार कर लेना फायदेमन्द होगा। इस प्रसंग में हम एडम्स द्वारा प्रस्तुत उत्तम विश्लेषण से लाभ उठा सकते हैं।

अध्यापन का काम करने वाले हम लोगों में से जो प्रौढ़ आयु के लोग हैं, उन्हें स्मरण होगा कि हमारी छात्रावस्था में हमें यह बताया गया था कि एजुकेशन यानी शिक्षा 'बाहर ले चलने या निकालने (Leading out) की कला है और यह बात एडुकेशन शब्द की व्युत्पत्ति से सिद्ध की जाती थी। 'E' का अर्थ है 'में से' और 'Duco' का अर्थ है 'मैं ले चलता हूँ' ([illegible] lead)। इस आरम्भिक प्रतिपादन के आधार पर हमें यह समझाया जाता [illegible] बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक, सारी शिक्षा का मतलब यह है कि ब[illegible] [illegible]तर सहज रूप से मौजूद ज्ञान, गुणों और शक्तियों को बाहर निकाला जा[illegible] इस तरह से गुप्त शक्तियों को वास्तविक शक्तियाँ बना दिया जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विचार में थोड़ी बहुत सचाई है क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, पर जाहिर है कि अधिकतर बौद्धिक शिक्षा के बारे में उपर्युक्त व्युत्पति

बिल्कुल बेहूदा है। दुनिया का चतुर से चतुर अध्यापक भी हेस्टिंग्स के युद्ध की तिथि या Amo शब्द के रूप उस छात्र में से नहीं निकाल सकता जो उन्हें पहले से नहीं जानता। उसे ये बातें और अन्य बहुत-सी बातें छात्र के मस्तिष्क में बैठानी ही होंगी। और इसमें भी बड़ा सन्देह है कि नैतिक भाव Moral Sentiment सिर्फ बाहर निकालने के प्रक्रम के परिणामस्वरूप पैदा होते हैं : नैतिक शिक्षा के बारे में सम्भव्यतः यह कल्पना अधिक सही है कि न्याय और सत्यपरायणता आदि गुण ऊपर की पीढ़ी से नीचे की पीढ़ी में पहुँचाने की जरूरत है। कहने का आशय यह है, जैसा कि एडम्स ने बताया था, कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। लेटिन शब्द कोष से भी मामला जहाँ का तहाँ रहता है। उसमें Educere शब्द अवश्य है, जिसका अर्थ है 'बाहर ले चलना या निकालना' (To lead out,) पर उसी में Educare शब्द भी मिलता है जिसका अर्थ है 'शिक्षित करना' 'पालन-पोषण करना', और इस पिछले शब्द से ही हमारा 'एडूकेशन' शब्द सीधा निकला है। इसलिए यद्यपि हम उस अध्यापक की खुले दिल से प्रशंसा करेंगे जो चतुराई से प्रश्नोत्तर करके छात्र को स्वयं सोचने के लिए, एक तथ्य का दूसरे के साथ सिलसिला जोड़ने के लिए और स्वयं एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए, प्रेरित कर सकता है, परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं, वह इतनी ही चीज नहीं है। यदि हम इसे फिलासफी यानी दर्शन का क्रियात्मक पहलू (Dynamic si[illegible]) मान कर चलें तो इस शब्द की वास्तविक या कल्पित व्युत्पत्ति की अपेक्षा क[illegible] अधिक अच्छा और व्यापक अर्थ हमारे सामने आता है और इस तरह हम [illegible]क्षा का सारा अर्थ उतना ही, अर्थात् 'बाहर निकालना' मात्र, समझने से बच [illegible]ाते हैं, यद्यपि वह कार्य अध्यापक की कला का निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण भाग है।

हम देख चुके [illegible] जिस व्यक्ति को शिक्षित किया जा रहा है, उस पर प्रभाव (Influen[illegible]ला जाता है। इस प्रकार शिक्षा प्राकृतिक परिवर्धन (Natural De[illegible]pment) का एक रूपभेदन (Modification) है—शिक्षा के कारण जैसा परिवर्धन होता है, शिक्षा के अभाव में वह वैसा न होता। इस लिए यदि हमारा दृष्टिकोण सही है तो अंततः शिक्षा प्रभाव के बिना नहीं हो सकती। आजकल प्रचलित इस सिद्धान्त में कुछ परिवर्तन करना होगा कि

सर्वोत्तम शिक्षा यह है कि बच्चे को सब प्रभावों से दूर रखा जाए और उसे पूरी तरह अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार परिवर्द्धित होने दिया जाए। कोई ए० एस० नील भी, जो बच्चों की आजादी को बड़ों के हस्तक्षेप से बचाने का बड़ी चतुराई और प्रबलता से प्रतिपादन करता है, स्वयं अपने विद्यालय से दूर नहीं हो जाता, और बहुत सम्भव यही है कि उसकी उपस्थिति का उसके शिष्यों के परिवर्धन पर कुछ प्रभाव पड़ता है। इसलिए हम फिर यह कहते हैं कि शिक्षा में प्राकृतिक परिवर्धन का रूपभेदन होता है।

यह रूपभेदन किन-किन कारकों (Agents) से पैदा होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एडम्स ने जान स्टुआर्ट मिल के सेंट एंड्रूज में दिए गए प्रसिद्ध उद्घाटन भाषण से यह उद्धरण दिया है :

"शिक्षा में न केवल वह सब कार्य शामिल है जो अपने आपको अपनी प्रकृति की परिपूर्णता (Perfection) के कुछ अधिक निकट लाने के स्पष्ट प्रयोजन से हम अपने वास्ते करते हैं और अन्य लोग हमारे वास्ते करते हैं; इसमें इससे कुछ अधिक चीज शामिल है; इसके व्यापकतम रूप को लिया जाए तो इसमें वे परोक्ष प्रभाव भो शामिल हैं जो चरित्र और मानवीय क्षमता पर उन वस्तुओं से पड़ते हैं जिनके प्रत्यक्ष प्रयोजन बिल्कुल दूसरें थे; जैसे वे प्रभाव जो कानूनों, शासन के रूपों, औद्योगिक कलाओं, सामाजिक जीवन की रीतियों से, यहाँ तक कि उन भौतिक तथ्यों से भी जो मानवीय इच्छा (Will) पर निर्भर नहीं हैं—जैसे जल वायु, धरती और स्थानीय स्थिति पड़ते हैं। जो भी चीज़ मनुष्य का निर्माण करने में, मनुष्य को उसके वर्तमान रूप में लाने में सहायक है, या उसे जिस रूप में वह नहीं है उससे बचाने में सहायक है, वह सब उसकी शिक्षा का हिस्सा है।"

मिल ने जो कारक गिनाए हैं, उनके प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता, और उनसे नैसर्गिक परिवर्धन का जो रूपभेदन होता है वह बहुत गहरा है, पर क्या उन्हें हमें शिक्षा सम्बन्धी अपनी धारणा में शामिल करना चाहिए ? स्पष्ट है कि हम ऐसा नहीं कर सकते, और तो भी हमारी यह मान्यता है कि शिक्षा फिलासफी यानी दर्शन का क्रियात्मक पहलू है। [illegible] स्वयं शिक्षा सम्बन्धी धारणा को इस छोटे रूप में ले आता है कि "वह संस्कृति, जो हर पीढ़ी अपनी बाद वाली पीढ़ी को जान-बूझ कर इसलिए देती है जिससे वह बाद वाली पीढ़ी अब तक के सुसंस्कार के स्तर को कायम रख सके और यदि संभव हो तो उसे

ऊँचा उठा सके।" यहाँ उसकी शिक्षा सम्बन्धी यह धारणा कि यह एक सप्रयोजन या सौद्देश्य प्रक्रम है, हमारी ऊपर बताई गई धारणा से मेल खाती है। हम यह समझ सकते हैं कि शिक्षा का अर्थ कोई भी प्रभाव नहीं है, बल्कि सप्रयोजन प्रभाव है, और क्योंकि प्रयोजन के साथ किसी व्यक्ति का होना आवश्यक है इसलिए शिक्षा में वैयक्तिक शिक्षक या गुरु अवश्य होगा।

तो शिक्षा में अनिवार्यतः दो व्यक्ति होंगे, जिनमें से एक, अर्थात् शिक्षक या गुरू, दूसरे के परिवर्धन को रूपभेदित करने के लिए विचार पूर्वक यत्न कर रहा है। चुम्बक की तरह शिक्षा में भी दो ध्रुव होंगे; यह दो-ध्रुवीय प्रक्रम है। एक ध्रुव पर तो शिक्षक है। दूसरी ओर के व्यक्ति को क्या कहा जाए? 'छात्र' (Pupil) शब्द ज़बान पर आता है, पर 'छात्र' को प्रभावित करने वाला 'अध्यापक' या 'टीचर' कहलाता है, और साधारणतया सब लोग इस बात पर सहमत हैं कि 'शिक्षक या गुरु' (Educator) 'अध्यापक' (Teacher) की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ वाला पद है। एडम्स ने इसके लिए (Educand) शब्द सुझाया है जिसका अर्थ है 'वह व्यक्ति जिसे शिक्षित किया जा रहा है।' हिन्दी में हम उसे शिष्य या शिक्ष्यमाण कह सकते हैं, और स्पष्ट विचार में इस शब्द का प्रयोग सहायक सिद्ध हो सकता है।

अब शिक्षक या गुरु वह व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क में उस प्रक्रम का प्रयोजन रहता है। वह ही शिष्य या शिक्ष्यमाण पर प्रभाव डालने के विमर्षित आशय की धारणा रखता है और प्रभाव डालने की कोशिश करता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब शिष्य या शिक्ष्यमाण स्वयं अपनी प्रकृति को रूप भेदित करने के प्रयोजन को अपना लेता है तब यह वास्तविक अर्थ में स्वयं अपना शिक्षक बन जाता है। स्वयं-शिक्षण (Self-Education) का अर्थ यह होना चाहिए कि वह [illegible] ऐसे साध्य के साधन के रूप में अध्यापकों, विद्यालयों और पुस्तकों का [illegible] कर रहा है, जिसे उसने स्वयं थोड़ा बहुत स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष कर [illegible]। इस अर्थ में स्वयं-शिक्षण शिक्षणात्मक प्रक्रम में एक बड़ी सन्तोषजनक [illegible]जिल को सूचित करता है। जब प्रेरणा स्वयं शिष्य या शिक्ष्यमाण में से आती है, तब पहले वाला वैयक्तिक शिक्षक यह अनुभव कर सकता है, और उसका यह अनुभव करना उचित होगा, कि वह सफल हो गया है और वह इस विषय में निश्चित हो सकता है कि शिक्षण का प्रक्रम बिना उसके

प्रयत्नों के चलता रहेगा।

यदि हमारा यह कथन सही है कि 'शिक्षण' (Education) शब्द 'अध्यापन' (Teaching) शब्द की अपेक्षा अधिक व्यापक **अर्थ** का वाचक है, तो वह किस दृष्टि से अधिक व्यापक अर्थ वाला है? **अध्यापन** शब्द का प्रयोग आमतौर से ज्ञान और कौशल प्रदान करने के लिए होता है और क्योंकि ये प्राकृतिक परिवर्धन का एक महत्वपूर्ण रूपभेदन हैं, इसलिए यह स्पष्ट है कि अध्यापन अवश्य शिक्षण का एक साधन है, पर अध्यापन में शिक्षक का वैयक्तिक प्रभाव शामिल नहीं है; यही शिक्षा का दूसरा मुख्य पहलू है, और यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार शिक्षा के साधन दो हुए—एक तो अध्यापन या ज्ञान और कौशल प्रदान करना और दूसरे शिक्षक का वैयक्तिक प्रभाव। जैसे-जैसे शिक्षा उस मंजिल की ओर बढ़ता है जिस पर उसे स्वयं-शिक्षण कहना उपयुक्त होगा, और चरित्र दृढ़ हो जाता है और इच्छा तथा प्रयोजन (Will and purpose) परिवर्धित हो जाते हैं, वैसे वैसे शिक्षक के वैयक्तिक प्रभाव का महत्त्व अध्यापन की तुलना में कम होता जाता है।

एडम्स ने शिक्षा विषयक अपने विश्लेषण को निम्नलिखित सूत्रों में रखा है:

(१) यह एक दो-ध्रुवी प्रक्रम है जिसमें एक व्यक्तित्व दूसरे के परिवर्धन को रूपभेदित करने के वास्ते उस दूसरे पर प्रभाव डालता है।

(२) यह प्रक्रम न केवल एक सचेत (Conscious) प्रक्रम है बल्कि एक विमर्षित (Deliberate) प्रक्रम है। शिक्षक या गुरु के [illegible] में स्पष्ट रूप से यह आशय होता है कि वह शिष्य या शिक्ष्यमाण के परिवर्धन को रूपभेदित करे।

(३) शिक्ष्यमाण के परिवर्धन को रूपभेदित करने के साधन दो हैं: (क) शिक्षक के व्यक्तित्व का शिक्ष्यमाण के व्यक्तित्व पर सीधे प्रभाव डालना और (ख) ज्ञान के विभिन्न रूपों का उपयोग।

शिष्य या शिक्ष्यमाण की प्रकृति का रूपभेदन किस [illegible] होना चाहिए? गुरु यानी शिक्षक को किन प्रमाणों (Standards) अ[illegible]ों (Values) की दिशा में अपना प्रभाव डालना चाहिए? सबसे अधिक उ[illegible] शिक्षा कौन सी है? दुर्भाग्य से यह बात सच है कि इन मूलभूत प्रश्नों का कोई सर्वमान्य उत्तर नहीं। अरस्तू के दिनों की तरह आज भी,

"इस विषय में सबका एक मत नहीं है कि बच्चे को, अच्छाई पैदा करने

या श्रेष्ठ जीवन बनाने की दृष्टि से, क्या शिक्षा पानी चाहिए और न इस बात का फैसला हुआ है कि हमें बुद्धि (Intellect) पर मुख्य ध्यान देना चाहिए या चरित्र पर। यदि हम अपने आस-पास दी जा रही शिक्षा पर ग़ौर करें तो यह निश्चय नहीं हो पाता कि शिक्षा जीवन के लिए उपयोगी बातों का अभ्यास होनी चाहिए, या अच्छाई को बढ़ाने की प्रवृत्ति वाली बातों का अभ्यास होनी चाहिए या बाहरी विषयों का अभ्यास कराने वाली होनी चाहिए। इनमें से प्रत्येक दृष्टिकोण के कुछ न कुछ समर्थक हैं लेकिन इस बात पर भी कोई मतैक्य नहीं है कि कौनसी बातें अच्छाई को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि सब लोग एक ही तरह की अच्छाई को पसन्द नहीं करते और इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उनमें इस विषय पर मतभेद हो कि क्या शिक्षा दी जाए ?"

एक मत न होने का कारण स्पष्ट है। "शिक्षा सम्बन्धी लक्ष्य जीवन के आदर्शों के साथ जुड़े हुए हैं" और जब तक ये आदर्श अलग-अलग हैं तब तक शिक्षा-सम्बन्धी लक्ष्य भी एक नहीं हो सकते। १९वीं शताब्दी के अज्ञेयवादी (Agnostic) हरबर्ट स्पेन्सर का यह कहना था कि शिक्षा का लक्ष्य पूर्ण जीवन (Complete living) है; पर सोसायटी ऑफ जेसस (Society of Jesus) के संस्थापक लोयोला ने "ईश्वर की यशोवृद्धि" को लक्ष्य बनाया था और **पैराडाइज़ लास्ट** (Para dise Lost) के लेखक का यह विचार था कि शिक्षा का लक्ष्य "ईश्वर को फिर ठीक-ठीक जानकर अपने प्रथम जनको (Parents)की त्रुटियों को दूर करना और उस ज्ञान के द्वारा उससे प्रेम करना, उसका अनुकरण करना, और उसके जैसा बनना है ताकि हम सच्चे पुण्यमय आत्मा से सम्पन्न होकर उसके अधिक से अधिक समीप हो जाएं। यह सच्चा पुण्यमय आत्मा श्रद्धा के स्वर्गीय सौन्दर्य से जुड़ा होता है और इसलिए अधिकतम पूर्णता की स्थिति प्राप्त करता है।" लोयोला औ[illegible]न की दृष्टि परमात्मा पर थी, पर स्पेन्सर इस लोक के जीवन को श्रे[illegible] चाहता था और शिक्षा के सम्बन्ध में इन दोनों विचारों का समन्वय करने की कोशिश व्यर्थ है।

इस पुस्तक का प्रयोजन यह है कि इस सूत्र का विस्तार किया जाए कि शिक्षा फिलासफी या दर्शन का क्रियात्मक रूप है, कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों की रूप-रेखा दी जाए और उन शिक्षा सम्बन्धी लक्ष्यों और विधियों पर विचार

किया जाए जो उनके परिणामस्वरूप स्वतः सामने आते हैं। ऐसा करके ही हम यह आशा कर सकते हैं कि विचारों की गड़बड़ी से बच सकें और अन्त में एक स्थिर शिक्षा सम्बन्धी आस्था की ठोस धरती पर खड़े हो सकें।

यदि इस बात के पक्ष में और युक्ति की आवश्यकता हो कि शिक्षा दर्शन पर ही आधारित है तो यह तथ्य पेश किया जा सकता है कि महान दार्शनिक महान शिक्षा-शास्त्री भी हुए हैं। शिक्षा के इतिहास की किसी पुस्तक पर ज़रा-सी नज़र डालने से यह पता चल जाएगा कि शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलन विविध दार्शनिक स्थितियों से ही पैदा हुआ और इस पुस्तक में पाए जाने वाले प्रमुख नाम अधिकतर वही होंगे जो किसी दर्शन के इतिहास में मिलेंगे। इसका कारण हम पहले बता चुके हैं; अगर कोई व्यक्ति सचमुच दार्शनिक है तो वह स्वभावतः शिक्षा-शात्री बन जाता है। इस विषय में कुछ वास्तविक उदाहरण पेश किए जा सकते हैं।

सुकरात कोई लिखित चीज नहीं छोड़ गया और उसे हम प्लेटो जैसे उसके प्रशंसकों और शिष्यों की या एरिस्टोफेनस जैसे उसके निन्दकों की निगाहों से ही देख सकते हैं। क्योंकि यह निश्चय कभी भी नहीं हो सकता कि ये निन्दक लोग कहाँ तक उसके अपने शब्द दे रहे हैं और कहाँ तक वे उसे एक नाटकीय पात्र के रूप में काम ला रहे हैं, इसलिए यह पूरी तरह निश्चय करना कठिन है कि वह वास्तव में क्या सोचता और कहता था। पर हमें पता चलता है कि वह परम्परागत आदर्शों के औचित्य पर आपत्ति उठ[illegible]ा था, और कि इसी कारण उस पर सोफिस्ट (Sophist) होने का दोषारोपण किया गया। सोफिस्ट वे दार्शनिक कहलाते थे जो लाभप्रदता (Expediency) को महत्त्व देते थे और अपने छात्रों को यह सिखाते थे कि किसी नगर-राज्य के सार्वजनिक जीवन में कैसे आगे बढ़ा जाए और उन्हें वक्तृत्व-कला और तर्क[illegible]ने की कला सिखाते थे जिनसे "घटिया दलील को बढ़िया सिद्ध किया जा[illegible] पर सुकरात को इस विचार पर प्रबल आपत्ति थी कि जो लाभप्रद है, [illegible] अच्छा है; वह यह कहता था कि कुछ स्थायी आदर्श होने चाहिए जिनसे नैतिक निर्णयों को नापा जा सके, और उसका यह विश्वास था कि ऐसे सिद्धान्त, जिन्हें सर्वत्र मान्यता मिले, कुदरती तौर से मौजूद हैं। ये विश्वव्यापी या सार्वभौम विचार निर्भयतापूर्वक सत्य का अनुसन्धान करने से मिल सकते हैं। वे प्रत्येक मनुष्य के मन में गुप्त

रूप से मौजूद हैं पर उन्हें स्पष्ट चेतन अवस्था में लाने की जरूरत है। मालूम होता है कि ऐसे विश्वास से प्रेरित होकर ही उसने अपने साथियों के मनों में ऐसे विचारों की जोत जगाना अपने जीवन का मुख्य कार्य बना लिया था। अपने इस दर्शन में विश्वास के कारण वह एक सक्रिय शिक्षा-शास्त्री बन गया। हम उसे संसार के महानतम शिक्षकों में गिनते हैं और अपने विद्यालयों में, जानकर या अनजाने में, उसकी प्रश्न और प्रति-प्रश्न करने की अध्यापन-पद्धति अब भी लागू करते हैं।

उसका शिष्य प्लेटो शायद आज तक का सबसे बड़ा दार्शनिक था। दर्शन में उसके योगदान का महत्त्व मापने की सीमा से परे है और पश्चिमी विचारणा पर उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। उसके मुख्य सिद्धान्त पर हम बाद में विचार करेंगे। यहाँ हम इस तथ्य को देखते हैं कि उसकी पुस्तक **रिपब्लिक** (Republic) को शिक्षा-शास्त्री अपना महानतम ग्रन्थ मानते हैं, पर यदि आप **रिपब्लिक** के शुरू के पृष्ठ पढ़ें तो उसमें आपको सुकरात और उसके मित्रों का न्याय की प्रकृति के बारे में विचार करने का वृत्तान्त मिलेगा, जो निस्सन्देह अत्यन्त अमूर्त (Abstract) दार्शनिक विषय है। सुकरात यह बताने के बाद कि न्याय-सम्बन्धी विचार को चलती हुई परिभाषाओं से स्पष्ट नहीं किया जा सकता, अपनी कल्पना में एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो आदर्श न्याय से सम्पन्न होगा। पर न्याय-सम्पन्न राज्य बनाने के लिए अनिवार्य है कि पहले न्याय-सम्पन्न नागरिक पैदा किए जाएँ और इस प्रकार अनिवार्यतः न्याय की प्रकृति के बारे में प्लेटो की समीक्षा शिक्षाविषयक ग्रन्थ बन जाती है। तथ्य यह है कि **रिपब्लिक** का अधिकाँश सीधे शिक्षा पर विचार करता है।

रिपब्लिक के उदाहरण से एक और महत्त्वपूर्ण बात सामने आती है। यदि शिक्षा दर्शन का क्रियात्मक रूप है तो राजनीति भी तो वही है। अंततोगत्वा राजनैतिक प्रणाली भी दार्शनिक अवस्थितियों का परिणाम है। इस देश (इंग्लैंड) की परम्परागत उदारता के पीछे जो दर्शन है वह उस दर्शन से बहुत भिन्न है जिससे फासिस्ट, नाजी या बोलशेविस्ट शासन संचालित होते हैं। किसी राष्ट्र की राजनीति उसके दर्शन का मूर्त्तरूप ही है और यदि किसी राजनीतिक प्रणाली ने अपने को जीवित रखना है तो उसे कोई उपयुक्त शिक्षा सम्बन्धी नीति और पद्धति विकसित करनी होगी। उदाहरण के लिए, युवकों की नियन्त्रित शिक्षा की

तुलना में ब्रिटेन में शिक्षा में बहुत आजादी मिलती है। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे देश में मताधिकार का ज्यों-ज्यों विस्तार हुआ, त्यों-त्यों शिक्षा का अवसर भी बढ़ा, क्योंकि यदि लोकतन्त्र ने ठीक तरह चलना है तो नागरिकों का शिक्षित होना अनिवार्य है। इस तरह प्रत्येक दर्शन के साथ उसकी एक राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी प्रणाली होती है।

दर्शन, राजनीति और शिक्षा के घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध का एक और उदाहरण हमें अरस्तू के लेखों में मिलता है। मध्यकालीन विचारक अरस्तू को एकमात्र दार्शनिक मानते थे। मध्य युग में उसकी रचना सब विद्याओं का आधार थी, और पुनर्जागरण (Renaissance) के काल तक वह सर्वोपरि प्रमाण थी। उसकी जिज्ञासा के वस्तुगत (Positive) रूप के कारण उसे आधुनिक विज्ञान का पिता समझा जाता है। जीवन के सम्बन्ध में उसका दर्शन क्या था ? सुख या अच्छाई प्राप्त करना ही शुभ कर्म है; ध्यान की निष्क्रिय अवस्था के बजाए संकल्प-शक्ति का प्रयोग ही शुभकर्म है, और इसमें अच्छा होने (सदाचार) के साथ-साथ अच्छा करना (सत्कर्म) भी शामिल है। उसके सदाचार और सत्कर्म सम्बन्धी विवेचन क्रमशः उसकी **एथिक्स** और **पालिटिक्स** नामक पुस्तकों में दिए गए हैं। पर यदि आप **पालिटिक्स** को पढ़ें, जिसके कुछ हिस्से दुर्भाग्य से नष्ट हो गए हैं, तो आप देखेंगे कि इसमें मुख्यतः शिक्षा-विषयक विचार है। प्रसंगतः यह कह देना उचित होगा कि ये विचार शिक्षा-सम्बन्धी बहुत सारी आधुनिक पुस्तकों की अपेक्षा अधिक नवीनता देने वाले और लाभदायक हैं।

शिक्षा दर्शन पर निर्भर है, इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण ईसा के जीवन और शिक्षाओं में मिलता है। ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता जिससे यह ख्याल हो कि ईसाई धर्म का संस्थापक राजनीति से वास्ता रखता था पर अपने शिष्यों की शिक्षा से उसका गहरा सम्बन्ध था। वह अपना जीवन ईश्वर को पिता मानने के आधारभूत विचार के अनुसार ही बिताता था और उसके 'पहाड़ पर के उपदेश' (Sermon on the Mount) में हमें उसकी शिक्षाओं का यह सारांश मिलता है कि ईश्वर सचमुच सब मनुष्यों का पिता है और इसलिए हम सब एक-दूसरे के भाई हैं। वह स्वयं ईश्वर और मनुष्य के बीच और मनुष्य तथा मनुष्य के बीच ऐसे सम्बन्ध का जीवित आदर्श ही न था; उसने उपदेश और दृष्टान्तों द्वारा भी यह शिक्षा दी।

निस्सन्देह आपके मन में कुछ अन्य उदाहरण आ रहे होंगे जिन पर विचार करना उपयोगी हो सकता है। आप सत्रहवीं शताब्दी के अंगरेजी दार्शनिक जॉन लॉक के बारे में सोच सकते हैं जिसका हमारी विचार की रीतियों पर जो प्रभाव पड़ा है वह एडम्स के शब्दों में,

"उसके यश की सीमा से कहीं अधिक है, उसके अधिकतर अनुयायी अपने गुरु को नहीं जानते। उसका दृष्टिकोण साधारण समझदार आदमी के दृष्टिकोण से इतनी बुरी तरह मेल खाता है कि तमाम अंग्रेजी-भाषी देशों में और किसी दार्शनिक लेखक की अपेक्षा उसके अनुयायियों की संख्या अधिक है। किसी लेखक ने लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य जन्म के समय या तो थोड़ा बहुत प्लेटो-पन्थी (Platonist) होता है या थोड़ा अरस्तू-पन्थी। यह बात बाकी दुनिया के बारे में सही हो सकती है, पर जहाँ Cogitare शब्द का अनुवाद to think यानी सोचना किया जाता है, वहाँ प्रत्येक बच्चा जन्म के समय कुछ-कुछ लॉकपन्थी (Lockian) होता है।"

सत्य की जिज्ञासा के उत्साह से पूरित लॉक का विश्वास था कि कोई मन तब ही सत्य की खोज में सफल हो सकता है जब उसे खासतौर से सोचने के लिए प्रशिक्षित किया गया हो। इस तरह वह शिक्षा को बुद्धि का अनुशासन मानता था। उसके विचार Essay on the Human understanding तथा Thoughts Concerning Education में दिए हुए हैं।

आपको जीन जैक रूसो (Jean Jacques Rousseau) का भी ध्यान आएगा जिसने अपनी रचना **सोशल कान्ट्रैक्ट** (Social Contract) में यह बताया है कि सरकार लोगों के मध्य एक संविदा (Contract) का परिणाम है—कुछ लोगों को शासन करने की शक्ति सौंपी गई है और शेष लोग शासनकर्ताओं की सेवा के बदले में उनका समर्थन करते हैं। इसलिए समाज व्यष्टि, अर्थात् मनुष्य पर एक ऊपर से डाली गई चीज़ है। यह तब तक ही उपयोगी संस्था है जब तक यह ठीक तरह काम करती है, और यह आसानी से बिगड़ सकती है। रूसो ने यह समझते हुए कि उसके जमाने में समाज अपने आप में एक साध्य बन गया था और व्यष्टि के मंगल का साधन नहीं रहा था, Emile or Education में आदर्श शिक्षा की अवस्थाएँ प्रस्तुत की हैं और उसमें एमिल नामक एक सौभाग्यशाली युवक को समाज से दूर 'प्रकृति के अनुसार' शिक्षा दी जा रही है।

और बहुत से उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। दार्शनिक की शिक्षा-शास्त्री बनने की अनिवार्य प्रवृत्ति पहले की तरह आज भी स्पष्ट दिखाई देती है; उदाहरण के लिए, जार्ज बर्नार्ड शा, एच० जी० वेल्स, एल्डस हक्सले और आजकल के बहुत से दूसरे मनीषियों को ले लीजिए, जो पहले जीवन का एक मार्ग बताते हैं और इसके बाद अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचार पेश करते हैं। बाद में हम अमेरिकन दार्शनिक और शिक्षा शास्त्री प्रोफेसर जॉन ड्यूई (John Dewy) की मनोरंजक स्थिति पर विचार करेंगे। वह निस्सन्देह हमारे इस कथन पर आपत्ति करेगा कि शिक्षा दर्शन में से निकलती है। उसका विचार बल्कि यह है कि यदि कोई दर्शन व्यवहार्य और प्रयोग में लाने योग्य है तो वह शिक्षा का सिद्धान्त (Theory of Education) है और बहुत सम्भवतः राजनीति का सिद्धान्त है, और सत्य वही हैं जो व्यवहार में चल सके।

क्या आज की विचार-रीतियों और प्रचलित शिक्षा में कोई स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है ? क्योंकि यदि हमारा आधारभूत कथन सही है तो हमें अपने आज के शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त और प्रयोग में कुछ प्रधान विचार-रीतियों का प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए। साथ ही, यदि यह मोटे तौर से सच है कि शिक्षा-सम्बन्धी प्रयास दार्शनिक दृष्टिकोण के पीछे चलता है तो हमें यह आशा करनी चाहिए कि शिक्षा-सम्बन्धी प्रयास दार्शनिक दृष्टिकोण से कुछ पीछे होगा।

यह उक्ति सत्य है कि मानसिक गतिविधि के क्षेत्र में चलने वाली विचार की रीति में यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी सीमाओं को पार करके चारों ओर फैल जाए। १९ वीं शताब्दी मशीनों का युग था और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि चारों ओर मशीनी अवधारणा लागू करने के लगातार प्रयत्न किए जा रहे हैं। वैज्ञानिक लोग विश्व को एक बड़ी मशीन के रूप में चित्रित करने के लिए बड़ा यत्न करते रहे; उदाहरण के लिए [illegible]ई कैल्विन के बारे में यह कहा जाता है कि वे प्रकाश के ऊर्मिल सिद्धान्त ([illegible]ulatory Theory of Light) को स्वीकार नहीं कर सके क्योंकि वे इसे [illegible]ट करने के लिए कोई नमूना न बना सके। पर यान्त्रिकतावाद (Mechanicalism) भौतिकी के अलावा अन्य बहुत से क्षेत्रों, विशेषतः अर्थ शास्त्र और मनोविज्ञान में घुस गया है, और इसके परिणामस्वरूप इन विज्ञानों में सारतः मानवीय अंशों की उपेक्षा करने या उनकी व्याख्या करके छोड़ देने की प्रबल प्रवृत्ति आ गयी है। ऐसा मालूम

होता है कि मनोविज्ञान में विशेष रूप से यह प्रवृत्ति घुस गयी है। शायद इसका कारण यह है कि हम इसे मन (mind) जैसे कठिन और दुर्बोध विचार पर आधारित नहीं करना चाहते। मनोविज्ञान का वह सिद्धान्त जो साहचर्यवाद (Associationism) कहलाता है, एक तरह का मानसिक रसायन (Mental Chemistry) है और आधुनिक आचरणवाद (Behaviourism) मानवीय आचरण और उसके प्रेरक भावों (Motives) की व्याख्या में यान्त्रिक अवधारणों को लागू करने का नवीनतम प्रयत्न है। पर यह सम्भव है कि आचरणवादी मनोविज्ञान को यथार्थ विज्ञान (Exact Sciences) की श्रेणी में लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न करते हुए जहाँ तक यांत्रिकता (Machanism) के विचार का सम्बन्ध है, वहाँ तक बालू की नींव पर निर्माण कर रहे थे, क्योंकि आजकल बहुत से वैज्ञानिक इसे भौतिक विश्व के भी अन्तिम व्याख्याकारक सिद्धान्त के रूप में छोड़ देने को उत्सुक हैं। उदाहरण के लिए, सर जेम्स जीन्स का विचार है कि यह वैज्ञानिक और दार्शनिक, दोनों क्षेत्रों में बुरी तरह असफल रहा है।

१९ वीं शताब्दी की जैविकी (Biology) से विकास (Evolution) का विचार सब जगह लागू किया जाने लगा। वह विचार यह था कि जीवन के उच्चतर रूप क्रमिक और व्यवस्थित परिवर्तन के एक प्रक्रम द्वारा निम्नतर रूपों से विकसित हुए हैं और इनके बीच में कोई असातत्य (Discontinuities) नहीं हैं, अर्थात बीच में कोई कड़ी छूटी नहीं है। शायद विकास का सिद्धान्त किसी अन्य ऐसे सिद्धान्त की अपेक्षा, जो पहले किसी विशेष विज्ञान में निकाला गया हो, सबसे अधिक सफलता से प्रयुक्त हुआ है; अब हम वास्तु-कला, विधि-शास्त्र, इतिहास, यहाँ तक कि धर्म को भी विकास के प्रक्रमों के रूप में देखते हैं। जैविकीय विकास के [illegible] की एक व्याख्या जो नवडार्विनवाद (Neo Darwinianism) कहलाती है [illegible] जीवित प्राणी से बाहर के वातावरण सम्बन्धी कारकों पर बल देती है, या[illegible] के विचार (Notion of Mechanism) को जीवित वस्तुओं की दुनिया पर लागू करने का प्रयत्न है। जीवन कायम रखने के लिए होने वाले संघर्ष और उसके परिणामस्वरूप योग्यतम की विजय (Struggle for Existence and Surviual of the Fittest) को ऊँचा उठा कर जीवन का एक व्यापक दर्शन बना दिया गया है और इसके आधार पर सब तरह की गला-काट प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता को उचित ठहराया जाता है। सच बात तो

यह है कि किसी विचार का अपने उचित क्षेत्र से बाहर इस तरह अनुचित फैलाव भी १९१४ के महाविनाश और उसके बाद के महाविनाशों का एक कारण रहा है। पर विकास के तथ्य की एक दूसरी भी व्याख्या है। वह व्याख्या स्वयं जीवित जीवपिण्ड (Living Organism) पर, इसके जीने के संकल्प पर, इसके अपनी परिस्थितियों का अच्छे से अच्छा प्रयोग करने के प्रयत्न पर बल देती है जिसके परिणामस्वरूप अनुकूलन (Adaptation) और परिवर्तन के क्रमिक प्रक्रम का जन्म होता है और इसके फैलने से एक अधिक आशावादी दर्शन का जन्म होता है। उदाहरण के लिए, बर्नार्ड शा ने इस विचार को लेकर अपनी पुस्तक बैक टू मेथूसेला (Bac£ to Methuselah) में इस बात पर बल दिया है कि जीवित वस्तुओं में यह शक्ति है कि वे अनेक बाधाओं के बावजूद अंत में प्रगति कर सकती हैं। शिक्षा के क्षेत्र में हम देखते ही हैं कि परिवर्धित होते हुए बच्चे में अपनी कमी पूरी करने की शक्ति होती है और यह बच्चा ही वह साधन है जिसके द्वारा मानव मूलवंश आगे-आगे बढ़ता है।

अब फिर अपने इस प्रकृत विषय पर आते हुए कि आजकल की विचार-रीतियों और शिक्षा में क्या सम्बन्ध है, हम मोटे तौर से दो प्रवृत्तियों का उल्लेख कर सकते हैं, जो प्रधान प्रतीत होती हैं। इनमें से पहली प्रवृत्ति है निरे तर्क पर कुछ अविश्वास की प्रवृत्ति, और दूसरी प्रवृत्ति यह है कि बीसवीं शताब्दी की विचारणा में समन्वयात्मक प्रवृत्ति दिखाई देती है। अब हम एक-एक करके इन पर विचार करेंगे।

बौद्धिकवाद १९वीं शताब्दी की एक खास विशेषता थी। मनुष्य को तर्क में बड़ी भारी आस्था थी। मनुष्य की बुद्धि ने आधुनिक विज्ञान की उद्गमन-रीति (Inductive Method) से इतनी अधिक सफलता हासिल की थी कि यह मानना तर्कसंगत प्रतीत होता था कि कुछ समय में [illegible] की सब समस्याएँ बौद्धिक पराक्रम से हल हो जाएँगी और प्रगति जारी रहेगी, तथा स्वर्ण युग आजाएगा। साधारण आदमी ज्ञान के मूल्य, खासकर वैज्ञानिक मूल्य, के ऊपर कोई शंका न करते हुए वे स्वयं-शिक्षक पुस्तकें और ऐसी ही पत्र-पत्रिकाएँ उत्सुकता से खरीदता था जो अध्यवसायी प्रकाशक उसके सुधार के लिए निकालते थे।

उस समय की पीढ़ी के लिए यह नियम बनाना स्वाभाविक था कि शिक्षा आम होनी चाहिए और १८७० में यह अधिनियम बनाया गया कि माता-पिता

को अपने बच्चों को पढ़ने-लिखने की ओर गणित की आरम्भिक शिक्षा अवश्य दिलानी होगी। यह मान लेना भी बिलकुल स्वाभाविक था कि विद्यालय का काम अध्यापक और छात्र दोनों के लिए एक बौद्धिक काम था। ज्ञान ही सर्वोत्तम वस्तु था, या कम से कम सर्वोत्तम वस्तु का द्वार था। नए अध्यापकों को, सबसे बढ़ कर, ज्ञान देने की कला का अभ्यास कराया जाता था। उदाहरण के लिए, ११ साल के बच्चों को ज्वार-भाटे का कठिन विषय समझा सकना योग्यता का प्रमाण समझा जाता था। निस्सन्देह उसमें बहुत कुछ बढ़िया काम हुआ, पर ज्ञान पर अत्यधिक बल देने का यह नतीजा हुआ, जैसा कि एडम्स ने कहा है, कि विद्यालय ज्ञान की दूकान बन गये और अध्यापक जानकारी-विक्रेता हो गए। आम तौर से अध्यापक अपना कर्तव्य यह समझता था कि यथासम्भव अधिक-से-अधिक जानकारी छात्र के दिमाग में डाल दी जाए। पाठ्यक्रम में पदार्थ पाठों (Object Lessions) को प्रमुख स्थान दिया जाता था। विद्यार्थियों के लिए यह जानना महत्त्वपूर्ण था कि मोमबत्ती कैसे जलती है और पेड़-पौधे कैसे साँस लेते हैं। ऐसी साँइस रीडर प्रत्येक कक्षा के लिए अलग-अलग बनी हुई थी जिसके पढ़ लेने से यह आशा की जाती थी कि छात्रों को अच्छा वैज्ञानिक ज्ञान हो जाएगा। लेखक को वे दिन अच्छी तरह याद हैं जब वह ८ साल के अन्य बच्चों के साथ मिलकर यह गीत गाया करता था कि हवा आक्सीजन नाइट्रोजन और कारबोनिक एसिड से बनी है। उसे यह भी याद है कि घर में काम आने वाले एक ऐसे ही नाम के साबुन और कारबोनिक एसिड गैस के नाम में धोखा लग जाया करता था। बच्चों को बनी-बनाई बातें रटा कर ही शिक्षा दी जाती थी।

पर यदि आज ह[illegible] उस समय की बातों को याद करें तो हमारे मुँह से ये उद्गार निकल पड़ें[illegible] "क्या तमाशा था !" आज हम साफ तौर से देख रहे हैं कि विज्ञान के प्र[illegible]ा त्रुटिपूर्ण मानव के आवेशों (Passions) और इच्छाओं (Wills) पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। हमारा मनुष्य और उसकी बुद्धि पर से विश्वास उठ गया है ' हमें इस बात में सन्देह पैदा हो गया है कि तर्क सब तरह के सत्य का निर्भ्रान्त मार्गदर्शक होने की, या रोजमर्रा के व्यवहार के मामलों में सही सिद्धान्त बनाने की भी शक्ति रखता है। कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास भी नष्ट हो गया प्रतीत होता है। वे व्याख्या के लिए उद्यत या लगभग उद्यत

होने के बजाए उस रहस्य की उद्घोषणा करने लगे हैं जो उन्हें विश्व ब्रह्माण्ड की गहराई में दिखाई देता है। अकेला तर्क अब तक हमें वास्तविकता के असली स्थान तक पहुँचाने में सफल नहीं हुआ, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमें चक्रों में घुमा रहा है या अनिर्वचनीय के सामने लाकर खड़ा कर गया है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि फिर श्रद्धा का व्यापक प्रवर्त्तन हो गया है, पर किसी न किसी रूप में श्रद्धा के लिए इच्छा, किसी ऐसी चीज के लिए, जिस पर विश्वास किया जा सके, तीव्र लालसा, अवश्य दिखाई पड़ती है। सच्चे भाव से उपदेश देने वाले लोग अब भी भीड़ जमा कर सकते हैं और धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों पर होने वाली रेडियो वार्ताएँ अधिक लोकप्रिय होती जा रही हैं। बहुत से लोग ठोस आधार से रहित विश्वासों को अपना लेते हैं। आज के जमाने में ऐसे धार्मिक मत भी फल-फूल रहे हैं जो पेगन (Pagan) अर्थात् मूर्त्तिपूजकों के जमाने के अन्धविश्वासों के तुल्य हैं। कुछ लोग, जो बौद्धिक रूप से अधिक समर्थ हैं, ऐसे धार्मिक विश्वास अपनाते हैं जो बौद्धिक विश्लेषण और औचित्य की दृष्टि से ठहर सकते हैं। पुराने धार्मिक विश्वास मरे नहीं है, हालाँकि १९वीं शताब्दी के पण्डितों की यह धारणा थी कि विज्ञान की प्रगति के कारण उन विश्वासों के दिन लद गए। तर्कवादियों (Rationalists) को अपने संघर्ष में विजय नहीं मिली। निरा प्रज्ञावाद (Intellectualism) हमारे लिए उपयोगी नहीं साबित हुआ। यह असली कल्याण नहीं कर सका। आज के जमाने में कोई आदमी कुछ भी धार्मिक विश्वास रखते हुए अपने आपको बुद्धि की दृष्टि से आदरणीय अनुभव कर सकता है। बहुत से लोग अध्यात्मवादियों (Idealists) की पुरानी स्थिति में आ गए हैं और उनकी यह मान्यता है कि अन्तिम सत्य मन (Mind) है, प्रकृति और यान्त्रिकता (Mechanism) नहीं। कुछ लोग एक रहस्यमय जीवन-बल (Life-Force) पर भरोसा किए हुए हैं। सब जगह इस बात में सचमुच सन्देह किया जा रहा है कि प्राकृतिक विज्ञान स्वयं मनुष्य की व्याख्या करने में समर्थ है।

वही प्रवृत्ति आज के स्कूलों में भी दिखाई देती है क्योंकि वे भी निरी बौद्धिक शिक्षा के मूल्य में अत्यधिक भरोसा करने को तैयार नहीं। बुद्धि की परख के विषय में किए गए बहुत बड़े परीक्षण कार्य ने हमें यह निश्चय करा

दिया है कि हमारे सब छात्र बौद्धिक दृष्टि से बहुत सम्पन्न नहीं हैं। यदि वे सम्पन्न हैं तो भी बौद्धिक अध्ययन नाकाफी समझा जाता है। वर्तमान परीक्षा पद्धति की, जिसमें बौद्धिक योग्यता और घर किए हुए काम पर अनुचित बल दिया जाता है, सब जगह बुराई हो रही है। यह बौद्धिक योग्यता परीक्षाओं के लिए तो शायद आवश्यक है, पर इससे छात्रों की अन्य रुचियाँ विकसित नहीं हो पातीं। अरस्तू की तरह हम फिर यह अनुभव करते हैं कि सद्गुण इच्छा की एक अवस्था है, बुद्धि की नहीं। आधुनिक शिक्षा चरित्र-निर्माण को सबसे अधिक महत्त्व देती है, जिसमें भावनाओं (Emotions) को अनुशासित करने का, भावना-जीवन (Feeling Life) को सही दिशा देने का, यत्न किया जाता है, और इसके लिए जानने की अपेक्षा करने पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसे-ऐसे लोग भी, जिनसे कभी इस बात की आशा नहीं हो सकती थी, अब धार्मिक प्रशिक्षण और बाइबिल पढ़ाने का प्रतिपादन करने लगे हैं। निरी बौद्धिक शिक्षा पर, विशेष रूप से उसके इस चरम रूप पर कि बहुत-सी जानकारी याद करा दी जाए, अविश्वास सर्वथा स्वस्थ है। इससे हम सर्वांगीण शिक्षा की अधिक उपयोगी धारणा बना सकते हैं, और इस तरह ऐसे परिणाम पैदा कर सकते हैं, जो किए गए प्रयत्नों की तुलना में बहुत थोड़े न हों, क्योंकि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ६० वर्ष की प्रचलित शिक्षा के परिणाम कुल मिलाकर निराशाजनक रहे हैं।

पर २०वीं शताब्दी के विचारकों ने अपनी बौद्धिक गतिविधि को कम नहीं होने दिया है। बुद्धि को अन्तिम सत्य का निर्भ्रान्त मार्गदर्शक मानने का सिद्धाँत खण्डित हो सकता है; अन्ततोगत्वा असाध्य आधारतत्त्व (Unprovable Postulates) आधुनि[illegible] विचारणा के आधार हो सकते हैं, पर मनुष्य को अपनी तर्क की शक्तियाँ य[illegible]नने के काम में अवश्य लगानी चाहिए कि क्या एक आधारतत्त्व दूसरे [illegible] अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है, कि इसके निगमन (Deductions) प्रेक्षित तथ्यों (Observed Facts) से अधिक संगति खाते हैं या कम। संक्षेप में बुद्धि छँटाई या विश्लेषण का काम करती है। हम पढ़ते हैं कि बर्क "अपने पक्ष का चुनाव मतान्ध की तरह करता था और उसकी तरफ से दार्शनिक की तरह लड़ता था"। हम यह भी याद करते हैं कि सेण्ट टामस एक्वीनास ने कुछ धार्मिक सिद्धान्तों से आरम्भ करके अपनी प्रबल तर्क-

शक्ति का प्रयोग उनका पक्षपोषण करने और उनके परिणामों पर चलने में किया। हम भी उन स्थितियों के लिए जो हमने ग्रहण करली हों, सफाई देना चाहते हैं। शायद हम मतान्ध की तरह अपने पक्ष का चुनाव करना बुरा समझते हैं, बल्कि हम न्याय-परायणता और सन्तुलन के गुणों की प्रशंसा करते हैं और अपने दर्शन में कुछ सन्तुलन लाने का यत्न करते हैं। आधुनिक विचारणा में एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह प्रतीत होती है कि लोग अनेक मतों और दर्शनों की, इस धारणा से परीक्षा करना चाहते हैं कि जिस मत को बहुत से लोग मानते हैं या मानते रहे हैं, उसमें अवश्य कुछ-न-कुछ सच्चाई होगी। ऐसा करने में हम स्वयं अपने लिए एक समन्वयात्मक सिद्धान्त (Synthetic Doctrine) बनाने का यत्न करते हैं। हम सार-संकलक (Eclectics) हैं, जो किसी भी सम्प्रदाय के उन सिद्धान्तों को अपना लेते हैं जो हमें अच्छे लगें। शायद यहाँ भी हम सापेक्षवाद के प्रचलित विचार से प्रभावित हो रहे हैं। हम असादृश्यों के बजाए सादृश्यों पर बल देते हैं और इन सादृश्यों को एक जगह उसी तरह इकट्ठा कर देते हैं जैसे कोई गणितज्ञ इसलिए संख्याओं के गुणनखण्ड बनाता है जिससे वह अपवर्त्य बना सके।

धार्मिक विचारणा में हमें इस प्रवृत्ति के स्पष्ट उदाहरण दिखाई देते हैं। १९वीं शताब्दी तो संघ टूटने का जमाना था और २०वीं शताब्दी पुर्नमिलन का युग प्रतीत होती है। मैथोडिज्म और स्काटिश प्रैस्बिटीरियनिज्म की शाखाएँ फिर मिलकर इकट्ठी हो गई हैं और सम्पूर्ण ईसाइयत के पुनः एक हो जाने की दिशा में एक प्रबल आन्दोलन चला हुआ है, चाहे ऐसा अभीष्ट लक्ष्य कितना ही दूर प्रतीत होता है। कुछ लोग समन्वय की दिशा में और आगे बढ़ जाते हैं, और वे ईसाई धर्म तथा अन्य धर्मों में सामान्य आधार खोजते तथा देखते हैं। कैनन स्ट्रीटर जैसे एक ईसाई दार्शनिक ने धर्मविद्या (Theology) का विज्ञान और दर्शन से समन्वय करने की कोशिश की है और सर [illegible]र लॉज ने भौतिक विज्ञान का अपने मानव व्यक्तित्व की विजय में विश्वास के साथ समन्वय करने का यत्न किया है। परस्पर-विरोध का परिहार करने के बहुत-से प्रयत्न हो रहे हैं। ज्ञान की कोई एक शाखा या विचार की कोई एक रीति ही अशेष सत्य नहीं है, बल्कि उनमें से प्रत्येक अशेष सत्य के पूर्ण रूप के किसी एक भाग पर प्रकाश डाल सकती है। इस प्रकार, हम किसी एक बात या मत के पीछे पड़ने वाले

आदमी को उपेक्षित करके युग-युग का ज्ञान संग्रह करने की कोशिश करते हैं। जैसे कि श्री फ्रांक वाट्स ने बताया है, इस तरह हम उन यूनानी मनीषियों के दृष्टिकोण पर वापिस आ रहे हैं, जो किसी भी चीज की अति से नफ़रत करते थे और 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के सूत्र को मानते हुए तालमेल, संतुलन और सुनहरे मध्यमार्ग के प्रशंसक थे।

हमारी राजनीति में एक और उदाहरण मिल सकता है। लिबरल पार्टी और कन्जरवेटिव पार्टी के मध्य होने वाले स्पष्ट बल्कि स्वाभाविक मतभेदों पर गिलबर्ट के प्रसिद्ध कटाक्ष अब लागू नहीं होते। अब दलीय भिन्नता की तीव्रता कुण्ठित हो चुकी है। युद्ध के बाद कई वर्ष तक मिली-जुली सरकार (Coalition Government) मिल कर काम करती रही और आज अधिकतर लोग, जो कन्जरवेटिव विचारधारा के अनुयायी नहीं हैं, कन्जरवेटिव प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय सरकार को उचित और सही मानते हैं। यह निश्चित है कि पुराने राजनैतिक नामों में हमारा विश्वास नष्ट हो गया। हम देख चुके है कि कोई प्रधानमन्त्री कन्जरवेटिव पार्टी का नेता होते हुए भी १९वीं शताब्दी के रैडिकल लोगों की तरह काम कर सकता है। लिबरल लोग अपनी पार्टी का प्रभाव नष्ट हो जाने पर इस विचार से सान्त्वना ग्रहण कर सकते हैं कि उनका राजनैतिक दर्शन अब इस देश में शासन सत्ता सम्भालने की आशा करने वाली प्रत्येक सरकार में व्याप्त हो गया है। हमारे पूर्वज तो चुनावों में बिना किसी सन्देह के वोट डालते थे, पर आज हम यह नहीं मान सकते कि किसी एक ही पार्टी के पास सब राजनीतिक सद्गुणों का एकाधिकार है। हम चाहते हैं कि सबकी सद्भावना और बुद्धिमत्ता एक जगह मिल कर कार्य करे और हम इसके अनुसार ही कार्य करते हैं।

शिक्षा-सम्बन्धी प्रचलन में भी वही समन्वय और सार-संकलन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस [illegible] में बहुत थोड़े स्कूल ऐसे है जिन्हें साफ तौर से मान्टीसरी, फ्राबैल और ड[illegible] आदि जैसा कोई नाम दिया जा सकता है। कोई बिल्कुल नया विचार पैदा हो[illegible]र भी हमें यह मानने में हिचक होती है कि अतीत काल में हमने जो कुछ किया है, वह सारा गलत ढंग से किया है और शिक्षा-सम्बन्धी प्रचलन की अच्छी तरह अपनाई गई रीतियों को उखाड़ कर फेंक देने में हमें संकोच होता है; बल्कि हमारी प्रतिभा इस बात में काम आती है कि हम नये

विचारों को पुराने विचारों के भीतर व्याप्त हो जाने दें, जो कुछ अतीतकाल में मूल्यवान् सिद्ध हुआ है, उसे कायम रखते हुए उसमें वे नई बातें शामिल कर दें जो अब मूल्यवान मालूम होती हैं। इस रास्ते से हम एक अधिक प्रबुद्ध शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग की ओर बढ़ने की आशा करते हैं।

अन्ततः, शिक्षा विषयक सिद्धान्त में भी हमें वही समन्वय की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यदि हमारा दर्शन किसी भी अर्थ में समन्वयात्मक है तो इसका अर्थ यह होता है कि हमारे शिक्षा-सम्बन्धी ध्येय भी व्यापक और समन्वयात्मक होंगे। यहाँ हम दार्शनिक पद्धतियों और उनके अपने-अपने शिक्षात्मक आदर्शों पर, जो ऊपर से देखने से एक-दूसरे से बहुत भिन्न प्रतीत होते है, विचार करेंगे। हमारा यह मतलब नहीं है कि हम मध्यस्थ होकर उनका वर्णन भर कर दें। विविध क्षेत्रों का सर्वेक्षण करने के बाद हमें शायद उनमें से किसी-न-किसी में आना पड़े, पर जहाँ सम्भव होगा वहाँ हम अपने मतामत का, या कम-से-कम उसके कुछ अंश का निरूपण करेंगे क्योंकि जैसा वैल्टन ने कहा है :

"मनुष्य के लिए परम श्रेय क्या है, इस विषय में मतभेद इसी कारण सम्भव है क्योंकि हमारा ज्ञान खण्डित है और हमारी अन्तर्दृष्टि अधूरी है। जीवन के प्रश्नों के विषय में विचारवान लोगों ने जो अधिक-से-अधिक परस्पर-विरोधी विचार पेश किए हैं, उन्हें उनके उचित धरातलों पर और उनके ठीक सम्बन्धों में सत्य माना जा सकता है। मिथ्या का प्रवेश तब होता है जब कुछ विचारों को दूर रखने यानी अपवर्जित (Exclusion) करने के लिए कहा जाता है : तब आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है और जीवन के एक पहलू को ऐसी प्रमुखता दी जाती है जो, अधिक पूर्ण ज्ञान होने पर पता चलता है कि उसे नहीं मिलनी चाहिए। जहाँ तक हम ऐसी परिसीमाओं को देख सकते हैं, वहाँ तक हम उनमें समन्वय का सुझाव दे सकते हैं [illegible] पता चलेगा कि जो सिद्धान्त निम्न धरातल पर एक-दूसरे के विरोधी हैं, वे [illegible] में उच्चतर धरातल पर एक-दूसरे के पूरक हैं।"

इस प्रकार कोई महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय जो भी कोई उपयोगी वस्तु दे सकता है, उसकी उपेक्षा न करते हुए हम एक संकलनात्मक पर सर्वाङ्गीण और सर्वग्राही शिक्षा दर्शन पर पहुँचने की आशा करते हैं। दुश्मन के किले पर अपनी

विजय ध्वजा लहराना या अपने दुर्ग की अन्तिम दम तक रक्षा करते रहना गौरव और वीरता का काम हो सकता है, पर हमारा आदर्श यह है कि शिक्षा में यथासम्भव अधिकतम सामंजस्य प्राप्त किया जाए और आधुनिक विचारणा की समन्वयात्मक प्रवृत्ति को देखते हुए मोटी समझ से यही प्रतीत होता है कि हमारी विचार-योजना बुद्धिमत्तापूर्ण है।

29.7.58. 7. P.M

अध्याय २

शिक्षा में सामाजिक और वैयष्टिक ध्येय

(Social and Individual Aim in Education)

यह विचार करने से पहले कि जीवन और शिक्षा के ध्येय रूप श्रेय का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, हम यह विचार करना चाहते हैं कि इस चित्र में व्यष्टि का और समाज का आपेक्षिक स्थान क्या हो सकता है। यह कहना ठीक मालूम होता है कि सब शिक्षा-सम्बन्धी ध्येय इन दोनों में से किसी एक पर अधिक बल देने लगते हैं। किसी राजनैतिक शिक्षा-सम्बन्धी प्रणाली में किस पर पहले विचार होना चाहिए ? हम यह देखेंगे कि इन दोनों में वास्तविक विरोध है, या सिर्फ बल देने का फर्क है। यह बात इस बात पर निर्भर है कि आप सामान्य रूप से राज्य के बारे में क्या दृष्टिकोण रखते हैं। यदि सिर्फ बल देने का ही अन्तर है, तबतो हम समन्वय होने की आशा कर सकते हैं। पर यह आशा करना व्यर्थ है कि इन परस्पर-विरोधी ध्येयों के चरम रूपों का एक दूसरे से समन्वय किया जा सकता है।

सबसे पहले सामाजिक ध्येय के सबसे अधिक चरम रूप पर विचार कीजिए। राज्य की अवधारणा यह है कि वह एक आदर्शरूप अभौतिक सत्ता है, वह व्यष्टि नागरिक से ऊँचा और ऊपर है, हर प्रकार से उससे उत्कृष्ट है और उसकी सब वांछाओं और आकाँक्षाओं से ऊपर है। यह सारे तर्क और ध्येय का मूर्तरूप है, और इसका एक मिशन या व्रत और निर्धारित गन्तव्य स्थान है और इसे उस व्रत और गन्तव्य स्थान का ध्यान है। इस की एक स्वयंपूर्ण (Self-sufficient) नैतिकता है जो अन्ततोगत्वा राज्य का ही श्रेयस् और गौरव वृद्धि है। इस प्रकार सामान्य रूपसे जीवन का और विशिष्ट रूप से शिक्षा का लक्ष्य सुनिश्चित रूप से राज्य का श्रेयस् अर्थात् कल्याण है।

ऐसे दर्शन का तर्कसंगत परिणाम यह है कि राज्य अपने प्रत्येक सदस्य के जीवन और भाग्य पर पूर्ण नियन्त्रण, अपने इस अधिकार और इस अपरिहार्य कर्तव्य का दावा करता है कि वह अपने संरक्षण और सम्वर्धन के लिए आवश्यक नमूने में प्रत्येक व्यक्ति को ढाल सकता है। वह शिक्षा को इस लक्ष्य की सिद्धि का सबसे शक्तिशाली साधन देखता है, और इसलिए राज्य द्वारा शिक्षा की एक सुनियंत्रित प्रणाली बना कर उसे लागू करता है। वही सर्वोपरि यह बताने वाला है कि क्या शिक्षा दी जाएगी और कैसे दी जाएगी। पाठ्य-क्रम और विधि में सदा अनुशासन, संगठन, प्रधिकार (Authority) को इच्छा से स्वीकार करना, और व्यष्टित्व को दबा कर रखना ही मुख्य नारे होते हैं।

शिक्षा-सम्बन्धी अवसरों के मामले में व्यष्टि के साथ क्या होता है? प्राधिकारी लोग यह फैसला करने की कोशिश करते हैं कि वह राज्य की अधिक-से-अधिक और उत्तम सेवा कैसे कर सकता है और वे उसी लक्ष्य के लिए उसे प्रशिक्षित करते हैं। इसलिए एक आदमी को बौद्धिक प्रशिक्षण दिया जाता है, दूसरे को औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाता है, तीसरे को सैनिक प्रशिक्षण दिया जाता है, इत्यादि, यहाँ तक कि कुछ लोगों को सुनिश्चित रूप से नेतृत्व के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। प्रत्येक बात की कसौटी राज्य की आवश्यकता है। व्यष्टि की अपनी निजी सुविधा की कोई बात ध्यान देने योग्य नहीं समझी जाती उदाहरण के लिए, किसी गरीब लड़के को उच्च शिक्षा तो ही मिलेगी यदि यह सिद्ध किया जासके कि ऐसी उच्च शिक्षा राज्य के लिए हितकर होगी। उच्च शिक्षा पाने का उसका कोई सहज अधिकार नहीं है।

इतिहास में जिन राष्ट्रों का वर्णन मिलता है, उनमें प्राचीन स्पार्टा समाज वादी राज्य का सबसे अधिक आदर्श उदाहरण है। इसकी शिक्षा संस्थाओं का जो विस्तृत वर्णन हमें प्राप्त होता है, वह **प्लूटार्क की लाइफ आफ लाइकरगस्** पुस्तक में मिलता है। लाइकरगस सबसे पहला विधि-निर्माता (Law-Giver) था, जो नौवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुआ, पर इतिहासकार इस बारे में एक मत नहीं हैं कि वह कोई वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति था। स्पार्टा व्यष्टि पर अपने रूप में कोई ध्यान नहीं देता था; प्रत्येक मनुष्य "अपने देश के लिए पैदा होता था, न कि अपने लिए।" लाइकरगस की शिक्षा यही थी कि नागरिकों के लिए सबसे अधिक बुरी बात यह है कि वे अपने लिए ही जीते हैं। उन्हें अपने

देश के लिए ही सब कुछ करने की इच्छा के अलावा और कोई इच्छा न रखनी चाहिए।

स्पार्टा एक नगर-राज्य था। उसके चारों ओर शक्तिशाली पड़ोसी राज्य थे और उसने एक जाति को जीत कर दबा रखा था। स्पार्टा-वासियों ने यूनान पर चढ़ाई की थी और वे वहाँ बस गये थे, पर वे वहाँ के लोगों के साथ घुल-मिल कर कभी भी एक नहीं हुए। वे एक जीते हुए क्षेत्र में दुर्गरक्षक सेना के समान थे। इसलिए राज्य के रूप में उनका लक्ष्य इसके अलावा और कुछ नहीं था कि उनकी अपनी सीमाएँ बनी रहें। वे बड़ी सादगी से रहते थे और व्यापार से दूर रहते थे, और कला तथा साहित्य में कोई दिलचस्पी नहीं रखते थे। उनकी अधिकतर शक्ति सैनिक प्रशिक्षण में लगती थी। सारा राज्य एक विद्यालय था और वयस्क नागरिकों का एक मुख्य कर्तव्य यह था कि वे बच्चों को अच्छी तरह सैनिक प्रशिक्षण देने में लगे रहें।

शिक्षा में उनका सीधा लक्ष्य सैनिकों का निर्माण करना था। लड़कों को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता था, जिसका लक्ष्य "उन्हें सैनिक आदेशों का अनुवर्ती बनाना, परिश्रमी बनाना, लड़ना और विजय करना सिखलाना था।" नवजात् शिशुओं की जाँच की जाती थी और कमजोर बच्चों को मरने के लिए पहाड़ी पर फेंक दिया जाता था—यह पद्धति निर्मम होते हुए भी पूर्णतया तर्कसंगत जंगलीपन थी। अधिक होनहार लड़कों को दौड़ने-कूदने, गेंद खेलने, भाला फेंकने मुक्का-युद्ध करने और कुश्ती लड़ने का अभ्यास कराया जाता था—ये बड़े लोग दमन से होने वाली बुराइयों के बारे में आधुनिक विचारों से अछूते होते थे। सब तरह के स्वतन्त्र विचार और कार्य को निरुत्साहित किया जाता था और दण्ड बहुधा और पाशविक दिया जाता था। "उनकी सारी शिक्षा आज्ञा-पालन का अभ्यास थी।" दूसरे जिस गुण को गौरव प्रदान किया जाता था, वह था साहस। युद्ध करने की भावना को बढ़ाया जाता था और चोरी की शिक्षा भी दी जाती थी तथा पकड़े जाने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। प्लूटार्क ने लिखा है कि लड़के इतने साहस और सावधानी से चोरी करते थे कि उनमें से एक लड़के ने, जिसने अपने कपड़े के नीचे एक छोटी लोमड़ी छिपा रखी थी, पकड़े जाने की अपेक्षा उस लोमड़ी के दाँतों और पंजों से पेट चिरवा कर मर जाना पसन्द किया।

जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, उन्हें सिर्फ उतनी शिक्षा दी जाती थी जितनी बिल्कुल जरूरी थी। प्रतीत होता है कि साहित्य-सम्बन्धी शिक्षा सिर्फ इतनी दी जाती थी कि लाइकरगस के कानून याद हो जाएँ। संगीत की शिक्षा में होमर के तथा अन्य देशभक्ति के गीत गवाये जाते थे क्योंकि "उनके गीतों में एक ऐसी भावना थी जो आत्मा को उद्‌बुद्ध कर सकती थी और उसे उत्साहपूर्वक कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकती थी।" "उनमें मुख्यतः स्पार्टा के लिए जीवन उत्सर्ग करने वाले वीरों की प्रशंसाएँ होती थीं, या उन लोगों की निंदा होती थी जिन्होंने ऐसे गौरवपूर्ण अवसरों की उपेक्षा करके दुःख और घृणा में जीवन घसीटते जाना अच्छा समझा।"

प्रतीत होता है कि इन प्राचीन राज्यों में एक स्पार्टा ही ऐसा राज्य था, जिसने स्त्रियों को पुरुषों के समान अवसर प्रदान किये। पर ऐसा एकमात्र प्रजनन-सम्बन्धी सिद्धान्तों की दृष्टि से किया जाता था, क्योंकि लड़कियाँ योद्धाओं की भावी माताएँ थीं।

इनमें से कुछ बातें कितनी सुपरिचित मालूम होती हैं! प्राचीन स्पार्टा और जर्मनी के बीच बहुत बड़ा कालान्तर है, पर आधुनिक जर्मनी में महायुद्ध से पहले भी और पीछे भी हम राज्य के ऐसे ही दर्शन का प्रयोग और प्रचार होते हुए देख चुके हैं। "१८०६ में जेना नामक स्थान पर नैपोलियन के हाथों जर्मनी की अपमानकारक पराजय होने के बाद फिश्टे (Fichte) ने, जो जेना में दर्शन का प्रोफेसर था और बाद में बर्लिन में बनाये गये नये विश्वविद्यालय का रेक्टर रहा, १८०७-८ की सर्दियों में कुछ उल्लेखनीय भाषण किये थे जो Addresse to the German Nation के नाम से छपे हैं। इनमें इस बात का प्रतिपादन किया गया था कि राज्य शिक्षा के द्वारा ही अपने आपको पुनरुज्जीवित कर सकता है। उसने कहा था : "शिक्षा ही हमें उन बुराइयों से बचा सकती है जो आज हमें तंग कर रही हैं।" समय बीतने के साथ साथ इसे अधिक गम्भीरता से माना जाने लगा। धीरे-धीरे Deutschland Uber Alles का नारा सुनाई देने लगा। पितृभूमि का विचार जान-बूझकर स्कूलों में भरा गया और इस आंदोलन की परिणति, जैसा कि हममें से कुछ लोगों को याद है, **उस दिन** Der tag की सुनिश्चित तैयारी थी। विशिष्ट वर्ग के युवकों के लिए विशेष प्रशिक्षण होता था और जंकरों की सैनिक जाति बहुत शक्तिशाली और मदान्ध

हो गई थी। इस आन्दोलन के पीछे आदर्शभूत राज्य का जो दर्शन था, वह, जैसा कि नन (Nunn) ने बताया, "हेगल की रचनाओं में अपने सैद्धान्तिक उच्चतम बिन्दु पर पहुँच गया था।" "प्रशियावासियों के मानस को राज्य के निरपेक्ष महत्व में अपना मतांध विश्वास और अपना यह घातक सिद्धान्त कि राज्य अपने से बड़ी किसी अन्य नैतिक सत्ता को नहीं मान सकता, और यह निष्कर्ष कि आरम्भिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय तक सारी शिक्षा-प्रणाली का प्रयोग एक सम्पूर्ण जाति की आत्मा में इन विचारों को प्रविष्ट कराने के साधन के रूप में होना चाहिए, हेगल के आदर्शवाद (Idealism) से ही प्राप्त हुआ था।"

ऐसी शिक्षा-प्रणाली की प्रभावकारिता का पता हाल के इतिहास से चल सकता है, क्योंकि जर्मनी लोकतन्त्र का अल्पकालिक निष्फ़ल अनुभव करने के बाद नाजी शासन में अपने पुराने प्ररूप पर लौट आया। जो चीज उसकी धमनियों में व्याप्त थी, वह मूर्त हो गई। उन बातों का वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं जिनका दुखदायी परिचय सबको है—किस तरह व्यष्टित्व को पूरे प्रयत्न से और हर रीति से दबाया गया था, कैसे अखबारों का गला घोटा गया था, कैसे विदेशी अखबारों और रेडियो सम्वादों का दमन किया गया था, और किस तरह नाजी पार्टी और फ्यूहरर के प्रति असंदिग्ध निष्ठा और आज्ञा-पालन मात्र ही प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य बना दिया गया था। युवक आन्दोलन और नेताओं के विद्यालयों में ऐसी स्थिति होने के शिक्षा-सम्बन्धी दुष्परिणामों से भी हम परिचित हैं और एक बार फिर हम इस घातक सिद्धान्त के परिणाम अनुभव कर रहे हैं कि अन्य राज्यों के प्रति कोई नैतिक नियम प्रवर्तित नहीं है, कि "कोई राष्ट्र पुनः ऊँचा उठाने के लिए क्या तरीके अपनाता है, इस बात का कोई अर्थ नहीं है। असली सार्थक बात तो वह लक्ष्य है जो प्राप्त किया जाना है" (जर्मनी के प्रोपैगेण्डा मनिस्टर डा० गोएबल्स)।

हेगल के विचार का एक मनोरंजक उदाहरण रोमन कैथोलिक और हाई एंग्लिकन चर्च के इस सिद्धान्त में मिलता है कि संसार में एक स्वयंभू आध्यात्मिक सत्ता का अस्तित्व है जो युग-युग में वहीं रहती है और चर्च के सदस्यों से पूर्ण निष्ठा, आज्ञापालन और समर्पण की आशा करती है, और मनुष्य के सब तरह के अपने निर्णय को निन्दा की दृष्टि से देखती है। पोप की निर्भ्रान्तिता का जो सिद्धान्त सारे चर्च में व्याप्त है, वह इसके तर्कसंगत परिणाम के रूप में

स्वयं इससे निकल आता है। पर यह अवधारणा प्रोटैस्टैंट मत से सदा बिल्कुल भिन्न रहेगा जिसका आधारभूत विचार यह है कि मनुष्य स्वयं ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और ईश्वर में आस्था रखने वालों का समाज ही चर्च है।

ब्रिटेन के निवासी शिक्षा के सामाजिक लक्ष्य को तब अधिक प्रशंसनीय समझते हैं जब वह उपर्युक्त रूप से बहुत हल्के रूप में हो। हमारे नारे हैं "शिक्षा समाज सेवा के लिए", जिनका अर्थ यह है कि शिक्षा को समुदाय के लाभ के लिए अधिक विस्तृत और लचीले मार्ग से ले जाना चाहिए। यहाँ सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) या आदर्शरूप (Idealised) राज्य का विचार नहीं है, पर ऐसे लोग अवश्य हैं, जो यह मानते हैं कि आदमी की अपनी इच्छाओं और नागरिक के रूप में उसके कर्तव्यों में कोई विरोध हो तो इन कर्तव्यों को अधिक ऊँचा स्थान दिया जाना चाहिए। सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य को निःस्वार्थ होने और दूसरों की आवश्यकताओं और इच्छाओं को अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं से अधिक महत्त्व देने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

अमेरिका में प्रोफेसर बाग्ले ने यह दृष्टिकोण बड़े प्रबल और बड़े तर्कसंगत रूप में पेश किया है। उनकी दृष्टि में सामाजिक क्षमता ही वह नपना है जिससे शिक्षा-सम्बन्धी प्रचलन को नापा जाएगा और उनका विचार है कि इस लक्ष्य को शिक्षा के किसी भी बुद्धिसंगत सिद्धान्त में मुख्य स्थान मिलना चाहिए। सामाजिक दृष्टि से दक्ष मनुष्य की मुख्य विशेषताएँ ये हैं;

(१) आर्थिक दक्षता या आर्थिक जीवन में अपने पाँव पर खड़े हो सकना;

(२) निषेधात्मक नैतिकता या (Negative Morality), जब अपनी इच्छाओं की तृप्ति दूसरों की आर्थिक दक्षता में बाधा डाले तब उन्हें उत्सर्ग करने की तत्परता;

(३) विधायक नैतिकता (Positive Morality), अर्थात् जब मनुष्य की अपनी इच्छाओं की [illegible] से सामाजिक प्रगति में प्रत्यक्ष या परोक्ष योगदान न मिलता हो तब उन्हें उत्सर्ग करने की तत्परता;

उपर्युक्त बातें बड़ी स्पष्ट और सबल हैं और विशेष रूप से विधायक नैतिकता का तीसरा सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के सब कार्यों का मल्यांकन उसके सामाजिक कर्तव्यों की दृष्टि से किया जाएगा।

इस देश में पहले महायुद्ध के दिनों में ऐसी सामाजिक कसौटी की यह अवस्था

विशेष रूप से दृष्टिगोचर हुई थी और आज यह फिर दिखाई दे रही है। युद्ध-काल में कोई भी काम अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए करना अनुचित माना जाता था। मनुष्य के सब कार्य युद्ध जीतने में निश्चित रूप से सहायक होने चाहिये; इतना ही काफी नहीं कि वे हानि-रहित हों या राष्ट्रीय प्रयास में रुकावट न डालने वाले हों; और देश और साम्राज्य के प्रति सेवा की यह भावना इंग्लिश पब्लिक स्कूलों में सबसे अधिक व्याप्त रही है। पब्लिक स्कूल की भावना ऐसी चीज़ है जिसका उपहास नहीं किया जा सकता। सार रूप में यह एक उत्तम वस्तु है और गुण की पूजा या पुराने स्कूल सम्बन्धों के प्रति निष्ठा से कुछ बड़ी चीज़ है। पर इसमें संकीर्ण राष्ट्रवादिता पैदा हो जाने का खतरा रहता है और इसी से लोकतन्त्रीय राज्य में प्रत्येक नीति के लिए अंततः व्यष्टि की जिम्मेदारी को टालने की वृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार इस विचार-धारा के अनुसार शिक्षा देने में हमारा लक्ष्य समाज-सेवा है। स्कूलों को नागरिकों के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों पर बल देना चाहिये। उन्हें अपने छात्रों को प्रसन्नतापूर्वक सच्ची सेवा की भावना का प्रशिक्षण देना चाहिए। वे नागरिकता का पाठ सीधे और इतिहास के द्वारा भी पढ़ाते हैं। वे स्वयं उत्तम परिवारों की तरह आदर्श समुदाय होंगे, जहाँ सेवा करके सामाजिक सेवा की भावना ग्रहण की जा सकती है। सब जगह मिलजुल कर काम करने की भावना होगी जिसमें कुछ न कुछ स्वार्थ-त्याग करना पड़ता है। सदा समुदाय पर बल दिया जाएगा।

इन प्रशंसनीय भावों को देखते हुए यह कहना अनुचित प्रतीत होगा कि वे काफी नहीं हैं। पर जो लोग शिक्षा में व्यष्टि को लक्ष्य मानते हैं उनका यही कहना है। वे कहते हैं कि व्यष्टि की प्रधानता रहनी चाहिए और उसके नागरिक कर्तव्यों पर अनुचित बल देना बिलकुल गलत है। निस्संदेह वे उन सर्वाधिकारी राज्यों के बारे में शांत चित्त से बात नहीं करते जो व्यष्टित्व को पूरी तरह दबा देना चाहते हैं, और अपने स्कूलों को इसे दबाने का मुख्य साधन बनाते हैं। उनका कहना है कि सामाजिक संस्थाएँ व्यष्टि के जीवन को अधिक अच्छा, अधिक पूर्ण, अधिक सम्पन्न, अधिक सुखी, अधिक निश्चित और इसलिए अधिक सफल बनाने के लिए ही हैं। स्कूल स्वयं समाज का एक वह अंग है जो बच्चे के इस समय के व्यष्टिगत जीवन को समृद्ध करने के लिए और उसके बड़ा

होने पर उसे व्यष्टिगत जीवन प्राप्त कराने के लिए बनाया गया है। यह एक ऐसा तैयार किया गया वातावरण है, जिसमें उसका सर्वोत्तम विकास हो सके। उसका मुख्य कार्य यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी के कल्याण का पता लगाए और उसकी प्राप्ति के उपाय निकाले।

जब व्यष्टि के मूल्य के बारे में ऐसी अवधारणा प्रचलित हो, तब उसमें राज्य का क्या कर्त्तव्य होगा ? इसका उत्तर हमारे अपने देश में मौजूद है। राज्य बल-पूर्वक यह कहता है कि शिक्षा अवश्य दी जायगी क्योंकि इसके विद्यालय व्यष्टि की गुप्त योग्यताओं को परिवर्द्धित करने के लिए इसके मुख्य उपकरण हैं, पर यह सिर्फ सामान्य ढंग का नियन्त्रण करता है। पाठ्यक्रम और शिक्षण की रीतियों के विषय में ऊपर से कोई कठोर अवश्य-पालनीय आदेश नहीं होते। कानून यह है कि बच्चों को शिक्षा लेनी होगी। मां-बाप का कर्त्तव्य है कि वे उन्हें शिक्षा दिलाएं, और अध्यापकों का यह कर्त्तव्य है कि वे स्कूल में उपस्थित रहकर विद्यार्थियों को लाभ पहुँचाएं। विदेशी आलोचक हमारी नियंत्रणहीन शिक्षा-प्रणाली की आलोचना किया करते हैं। यह ठीक है कि राज्य स्कूलों के विषय में निजी उपक्रम और प्रयोग की इजाजत देता है और उसे बढ़ावा भी देता है। प्राइवेट स्कूल चलने दिए जाते हैं और बच्चों को घर पर भी शिक्षा दी जा सकती है, परन्तु राज्य को यह संतोष होना चाहिए कि पर्याप्त शिक्षा दी जा रही है। यह समझा जाता है कि गरीब लड़के को अपने धनी साथियों के समान शिक्षा का अवसर मिलता है और इस आदर्श को क्रियात्मक रूप देने के लिए छात्रवृत्ति की पद्धति चलती है।

इंग्लैंड में मैग्ना कार्टा के दिनों से लेकर आज तक नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं पर बल दिया जा रहा है। लिबरलिज़्म यानी स्वतंत्र व उदार विचार अधिकाधिक स्पष्ट और निश्चित रूप में हमारा राजनीतिक दर्शन बन चुके हैं और ये शिक्षाविषयक सब सुधारों और प्रगति में व्याप्त हो गए हैं। व्यष्टि के अपना अधिकतम परिवर्द्धन कर सकने के दावे पर स्काटलैंड ने शायद इंग्लैंड की अपेक्षा भी अधिक बल दिया है और उसे क्रियात्मक रूप दिया है। वहां माध्यमिक शिक्षा निःशुल्क है। विश्वविद्यालय का शुल्क तुलना में बहुत थोड़ा है और वह भी बहुत से गरीब विद्यार्थियों के लिए एंड्रू कारनेगी की उदारता के परिणामस्वरूप उपेक्षणीय रह गया है। माता-पिता यह समझने लगे हैं कि सब

कुछ छोड़कर बच्चों को शिक्षा का अवसर देना चाहिए और स्काटलैंड के छात्रों को, अपना भोजन का थैला और शराब का डिब्बा लेकर सर्दियों में एवरडीन लौटते हुए देखना एक सुपरिचित दृश्य है। **मेरीरोज** में बारी (Barrie) ने गर्मियों की छुट्टियों में अपने लिए भोजन की व्यवस्था करने वाले एक ऐसे छात्र का अविस्मरणीय चित्र प्रस्तुत किया है। इंग्लैंड में यह समस्या अधिक जटिल रही है, पर आदर्श पहले भी वही था और आज भी वही है। हाल में माध्यमिक शिक्षा के बारे में बोर्ड आफ एजूकेशन की जो रिपोर्ट निकली है, इसमें भी वही प्रचलित लिबरलिज्म या स्वतंत्रतावाद दिखायी देता है। इस रिपोर्ट में कहा गया है कि "प्रत्येक प्रकार के स्कूल वहां तक अपना उचित प्रयोजन पूरा करते हैं जहां तक वे व्यष्टित्व की स्वतंत्र वृद्धि का अवसर देते हैं और प्रत्येक लड़के और लड़की को समाज के जीवन में और उसके द्वारा संभव अधिक-से-अधिक व्यष्टिगत विकास करने में सहायता देते हैं।"

यही बात इस 'सुझाव' शीर्षक में दिखायी देती है, जो बोर्ड आफ एजूकेशन द्वारा अध्यापिकाओं के लिए निकाली गयी एक प्रशंसनीय पुस्तिका पर दिया गया है। सरकारी स्कूल निरीक्षक आदेश जारी करने के बजाय सुझाव देते हैं। वे राज्य की ओर से आदेश देने के बजाए परामर्श देते हैं। यह संतोष हो जाने पर कि अध्यापक अपना काम शुद्ध अंतःकरण से करने की कोशिश कर रहे हैं, वे तानाशाही ढंग के बजाए बुजुर्गाना ढंग अपनाते हैं।

इंग्लैंड में आम शिक्षा का आरम्भ इस विचार से हुआ था कि "हमें अपने स्वामियों को शिक्षित करना चाहिए।" हमारे राजनैतिक दर्शन का प्रधान या गुप्त स्वतंत्रतावाद (लिबरलिज्म) मताधिकार की सीमा बार-बार बढ़वाकर विजयी हो चुका था और यह स्पष्ट दिखायी दे रहा था कि निर्वाचकों को न्यूनतम शिक्षा मिलनी ही चाहिये क्योंकि इसके बिना तो वे अखबारों में से अपने से अधिक जानकारों की राजनैतिक सम्मतियों को समझ भी नहीं सकेंगे। पर शीघ्र ही प्रधानता-प्राप्त व्यष्टिवादी प्रवृत्ति ने पाठ्यक्रम में विस्तार करा दिया। प्राथमिक विद्यालयों में पियानो की ध्वनि सुनकर कुछ क्षेत्रों में चाहे हलचल पैदा हुई हो— आम जनता के बच्चों को यह शिक्षा देना क्रांतिकारी कदम था, पर अब पियानो अच्छी तरह जम चुके थे। व्यष्टि के अपना विकास करने के अधिकार का प्रचार गया और यह आज भी मौजूद है, चाहे कंजरवेटिव या लिबरल पार्टी सत्तारूढ़

हो या लेबर पार्टी। अंतर सिर्फ चाल में पड़ता है। कभी-कभी आलोचक लेबर पार्टी पर यह आरोप लगाते हैं कि वह नौकरशाही अति-नियंत्रित राज्य की ओर बढ़ रही है, पर व्यष्टि को, विशेष रूप से गरीब आदमी को, शिक्षा के अवसर दिलाने की मांग में यह कभी पीछे नहीं रही।

शिक्षा में व्यष्टिगत ध्येय को सर पर्सी नन ने, जो इंग्लैंड में इस पीढ़ी के प्रमुख शिक्षा-दार्शनिक हुए हैं, स्पष्ट रूप से और बलपूर्वक प्रकट किया है। आपकी 'Education; its Data and First Principals' नामक पुस्तक में बड़े सुन्दर ढंग से यह स्पष्ट किया गया है कि व्यष्टि-प्रधान दर्शन शिक्षा पर कैसे लागू होता है, और इसका योग्यतापूर्वक पक्षपोषण किया गया है। आपने बताया है कि हाब्स के समय से ही ब्रिटिश दर्शन व्यष्टिवादी रहा है और 'मैं स्वयं **दी लेविएथन** के लेखक के अतिरंजित व्यष्टिवाद को स्वीकार न करते हुए भी इस बात से पूरी तरह सहमत हूँ कि समाज की अपेक्षा व्यष्टि पर बल होना चाहिए'। उनका पक्ष यह है कि मानव जगत में प्रत्येक अच्छाई व्यष्टिरूप पुरुषों और स्त्रियों के स्वतंत्र कार्यों में और उसके द्वारा ही प्रविष्ट होती है और शिक्षा-पद्धति भी इस सत्य के साथ मेल खाने वाली ही होनी चाहिए। आप एक ऐसा सिद्धांत चाहते हैं जो व्यष्टि का महत्त्व पुनः स्थापित करे और उसके अनुच्छेद्य अधिकारों की रक्षा करे। शिक्षा से प्रत्येक को "ऐसी अवस्थाएं प्राप्त होनी चाहिएँ, जिनमें व्यष्टित्व अधिक-से-अधिक पूर्ण रीति से विकसित हो।" यह उसे इस योग्य बना सके कि वह मानव-जीवन की विविधरूपीय समष्टि को अपनी मौलिक देन दे सके और वह देन ऐसी पूर्ण और ऐसी सच्चे तौर से उसकी अपनी चीज़ हो जैसी उसकी प्रकृति के कारण हो सकती है। वह देन किस रूप में हो, यह व्यष्टि पर निर्भर है। वह उसे स्वयं अपने रहन-सहन में और अपने रहन-सहन के द्वारा अपने लिए स्वयं निर्माण करनी चाहिए।

इससे यह निष्कर्ष निकलता मालूम होता है कि परिवर्धित व्यष्टित्व के उस आदर्श से आगे शिक्षा का कोई सार्वत्रिक या विश्वव्यापी ध्येय नहीं बताया जा सकता, पर वस्तुतः प्रत्येक व्यष्टि के लिए एक अनुपम ध्येय है। कोई एक नुस्खा सदा के लिए काफी नहीं हो सकता, "क्योंकि उत्तम चरित्र के बारे में **क** का जो विचार है वह **ख** के लिए या तो उपहासास्पद होता है और या अत्यन्त घृणास्पद होता है; जिसे **ग** सर्वांगीण जीवन समझता है, उसे **घ** आध्यात्मिक मौत मानता

है; च 'सबल सरीर में सबल मन' को श्रेष्ठ समझता है जिसे छ 'जंगली के शरीर में चोर की आत्मा' कहकर नफरत करता है।"

अपनी पुस्तक के पहले अध्याय में दार्शनिक दृष्टिकोण से अपना ध्येय स्पष्ट कर देने के बाद नन ने दूसरे अध्याय में जैविकी (Biology) के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन किया। जीव जगत में वह प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक स्पीशीज को मानों रूप और कार्य की अधिकाधिक पूर्णता की दिशा में प्रयत्न करता देखता है। इसलिए उसका यह दावा है कि हमारा ध्येय "प्रकृति के अनुसार" है। शायद इस आधार से उसके आलोचकों में कुछ गलतफहमी पैदा हुई है। उन्होंने उस पर यह आरोप लगाया है कि वह अपने शिक्षा संबंधी दर्शन में प्रकृतिवाद (Naturalism) की ओर अनुचित रूप से झुक गया है। इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि यद्यपि उसने जैविकी से समर्थन पाने की कोशिश की है, पर शुरू में उसने अपना ध्येय दर्शन से ही निकाला है, जैविकीय सिद्धांतों से नहीं। शायद उसके 'व्यष्टित्व' शब्द के प्रयोग से यह गलतफहमी पैदा हुई है, क्योंकि जैविकी में इसका यह अर्थ होता है कि पृथक् होने की अवस्था, या वह वस्तु जिसका पृथक् अस्तित्व है। पर नन की दृष्टि में व्यष्टित्व या व्यक्तित्व (Individuality or Personality) एक आदर्श और एक ध्येय है जो अभी तक अप्राप्त है। यह वह आध्यात्मिक पूर्णता है, जिसे प्रत्येक आदमी प्राप्त कर सकता है। अपने परिवर्धन की किसी भी अवस्था में मनुष्य अपना पूर्ण व्यष्टित्व नहीं प्राप्त कर सका। वह उसके लिए निरंतर यत्नशील है।

शायद यह कहना अधिक स्पष्ट होगा कि ध्येय आत्म-साक्षात्कार (Self-realisation), अर्थात् आत्मा की उच्चतम शक्यताओं को वस्तुतः प्राप्त कर लेना, है। यह प्रत्येक आत्मा के लिए जीवन भर का, बल्कि सम्भवतः अनन्त काल का, काम है। पर आत्म-साक्षात्कार शब्द के कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, क्योंकि इसे आम तौर से गलती के कारण आत्म-अभिव्यक्ति (Self-expression) से अलग नहीं पहचाना जाता—आज-कल आत्म-अभिव्यक्ति का अर्थ बहुत से लोग बेरोक आज़ादी या प्रकृति की प्रेरणा के अनुसार सदा कार्य करने की आज़ादी समझते हैं, चाहे उसके परिणाम दूसरे लोगों के लिए पूरी तरह आपत्तिजनक हों। इसलिए यह साफतौर से समझ लेना चाहिए कि आत्म-साक्षात्कार में आत्मा का अर्थ मौजूदा असंतोषजनक और अनुशासनहीन आत्मा

नहीं है, बल्कि भविष्य का पूर्णतः परिवर्धित आत्मा है। इसलिए यदि हम व्यष्टि वाले ध्येय के समर्थक हैं तो हमें यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि 'व्यष्टित्व' और 'आत्मा' शब्दों से हमारा अभिप्राय अब तक अनुपलब्ध आदर्शों से है जिनको उपलब्ध करना न केवल शिक्षा का, बल्कि जीवन का भी ध्येय है।

यूकेन (Eucken) की यह चेतावनी हमें स्वीकार करनी चाहिए कि "व्यष्टित्व" का यह अर्थ न समझना चाहिए कि "सामाजिक वातावरण के मुकाबले स्वतन्त्र कर्ता (Free subject) का उस पर आधिपत्य हो," बल्कि इसका अर्थ वह आध्यात्मिक व्यष्टित्व होना चाहिए जो मनुष्य "अपने सामने मौजूद एक अंतर्जगत् द्वारा अपनी आंतरिक बल-प्राप्ति के" ज़रिये और "प्रकृति से उत्कृष्ट आध्यात्मिकता द्वारा अपने उन्नयन" के ज़रिये हासिल करता है। इसके साथ-साथ हम उसकी व्यक्तित्व (Personality) की अवधारणा स्वीकार कर सकते हैं जो यह है कि "प्रकृति के जीवन से भिन्न एक नया जीवन धारण करने वाला, न कि प्रकृति के जीवन में कुछ बातें और जोड़ देने वाला।" आध्यात्मिक व्यष्टित्व न तो ऐसी चीज़ है "जो उसे जीवन में अपनी जन्मजात प्राकृतिक विशेषताओं के साथ मिली है," और न हम मनुष्य लोग शुरू से व्यक्तित्व होते हैं। "सिर्फ इतनी बात है कि हमारे भीतर व्यक्तित्व बनने की संभाव्यता मौजूद होती है। हम अपने व्यक्तित्व का साक्षात्कार करेंगे या नहीं, इसका निश्चय हमारे काम से होता है। यह मुख्यतः इस बात पर निर्भर होता है कि हम प्रकृति से प्राप्त जीवन से आगे अपने आपको आत्म-निर्धारक क्रिया-कलाप की अवस्था में लाने में कहाँ तक सफल होते हैं।" इस प्रकार यूकेन यह कहता है "कि हमारे जीवन का मुख्य कार्य अपने सच्चे स्वरूप का विकास करना है, और कि व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यष्टित्व के परिवर्धन में उस स्वरूप को निखारना होता है," कि कुल मिलाकर जीवन "अपने निज के स्वरूप को पूरी तरह प्राप्त करना ही है।" "प्रत्येक व्यष्टि के सामने सच्चे व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यष्टित्व के निर्माण का यह जीवन भर का कार्य होता है।"

इस प्रकार, यूकेन की 'आध्यात्मिक व्यष्टि' और 'व्यक्तित्व' 'व्यष्टित्व' के किसी जैविकीय अर्थ से सर्वथा मुक्त हैं, और इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि वे लक्ष्य हैं, आरम्भ-बिन्दु नहीं। शिक्षा में व्यष्टिगत ध्येय का जो अर्थ हम स्वीका कर सकते हैं, वह यही है कि मूल्यवान् व्यक्तित्व और आध्यात्मिक व्यष्टित्व का

परिवर्धन हो। आगे चलकर हम मूल्य की कसौटी पर कुछ और विचार करेंगे, पर यहाँ हम इस आधारभूत विश्वास का उल्लेख कर सकते हैं। अपनी अधिकतम आध्यात्मिक शक्यताओं तक परिवर्धित मानव व्यक्तित्व जीवन की सर्वोत्तम वस्तु और ईश्वर का महानतम् कार्य है। यूकेन के इस विश्वास में हम भी साझी हो सकते हैं कि जीवन की तरह शिक्षा का ध्येय भी 'व्यक्तित्व को ऊंचा उठाना है'।

अब प्रश्न यह होता है कि शिक्षा में व्यष्टिगत और सामाजिक लक्ष्यों के मध्य कहाँ तक समन्वय किया जा सकता है। इसका सीधा उत्तर यह है कि व्यष्टित्व के लिए दी जाने वाली शिक्षा और सर्वाधिकारी राज्य के संवर्धन के लिए दी जाने वाली शिक्षा में कोई समन्वय नहीं हो सकता। उनमें आकाश-पाताल का अन्तर है, और जैसी उनकी प्रकृति है, उसके अनुसार होना भी चाहिए, पर सामाजिक सेवा और व्यष्टिगत परिवर्धन के आदर्शों के समन्वय में कोई अनोखी बात नहीं है। पेरीक्लीज का युग, जो यूनान का स्वर्ण-युग था, साहित्य, कला, गणित और दर्शन में भी वैसी ही अद्वितीय वैयष्टिक सफलता का युग था, जैसे सार्वजनिक जीवन में। निश्चय ही यह वह समय था जब व्यष्टि के दावे की वकालत की आवश्यकता नहीं थी। पर उस महान् वक्ता का यह दावा था, जैसा कि हमें थूसीडाइडीज द्वारा प्रतिपादित एथीनियन शिक्षा के आदर्शों और परिणामों से पता चलता है, कि उस नगर की महानता उसकी लोकतंत्रीय संस्थाओं के ही कारण थी। उस नगर को महान् बताकर वह उन मनुष्यों को महान् बता रहा था "जिनके गुणों ने उसे गौरवमय बनाया था"। भद्रतम नागरिकों को राज्य की सेवा में लिया जाता था। जनसाधारण नीति का उद्भावक न होने पर भी उसके सम्बन्ध में अच्छी तरह निर्णय करने की क्षमता रखता था। कोई एथीनियन नागरिक राज्य की इस कारण उपेक्षा नहीं करता था कि वह अपनी गृहस्थी में तल्लीन था। यूनान के महान् शिक्षा-शास्त्रियों ने व्यष्टि के हित का समन्वय करने का प्रबल प्रयत्न किया और उनके विचार आज भी वैसे ही ताजा और सहायक हैं जैसे वे उस समय रहे होंगे जब वे लिखे गये थे। व्यष्टि में सद्गुण और बुद्धिमत्ता के परिवर्धन से राज्य की हित-वृद्धि होती थी और व्यष्टि के आत्म-परिवर्धन का सर्वोत्तम अवसर राज्य की सेवा में ही था।

तथ्य तो यह है कि मूल्यवान् व्यष्टित्व का पोषण और व्यक्तित्व का उन्नयन सामाजिक माध्यम में ही हो सकता है। जे० एम० बाल्डविन ने लिखा है कि वास्तविक आत्मा दो-ध्रुवीय (Bi-poler) या सामाजिक आत्मा ही है। "अहम् (Ego) और 'अन्य' (Alter) एक साथ पैदा हुए हैं।" व्यक्तित्व को सामाजिक के अलावा और किसी रूप में प्रकट नहीं किया जा सकता। पर्सनैलिटी अर्थात् व्यक्तित्व का अर्थ, जैसा कि एडम्स ने कहा है, प्रायः सदा यह होता है कि कोई व्यष्टि अन्य व्यष्टियों पर किस रूप में प्रतिक्रिया करता है, और जैसा कि उसने हमें स्मरण कराया है, इस शब्द की व्युत्पत्ति परसोना (Persona) शब्द से हुई है, जो उस नकाब और भोंपू का वाचक था जिसके ज़रिये यूनानी और रोमन नाटकों में अभिनेता अपने दर्शकों को प्रभावित किया करते थे। जब हम यह कहते हैं कि अमुक का व्यक्तित्व प्रबल या दुर्बल या मोहक या आकर्षणहीन है, तब हम यही बता रहे होते हैं कि कोई व्यष्टि अन्य मनुष्यों पर किस रूप में प्रभाव डालता है और उसकी प्रभावोत्पादकता की मात्रा और श्रेष्ठता आँक रहे होते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व का मतलब वे सामाजिक सम्पर्क हैं, जिनके बिना हम सचमुच पूरे मानव नहीं बन सकते। एवेरोन (Aveyron) का जंगली लड़का, जो अपने जीवन में ११ या १२ साल अकेला एक फ्रेंच जंगल में घूमता रहा था, १७९९ में हाथ आने पर प्रायः पशु ही था और एक महान् शिक्षक इटार्ड (Itard), असीमित धैर्य और कौशल के बावजूद, उसे सामान्य अवस्था में नहीं ला सका। मनुष्य की प्रकृति के बारे में जितनी यह बात सही है कि वह आत्मसम्मानी है, उतनी ही यह बात भी सही है कि वह सामाजिक है। हम सब एक दूसरे के अंग हैं।

इस प्रकार अपने इस सामाजिक वातावरण से हटकर, जिसमें व्यष्टित्व और व्यक्तित्व परिवर्धित होते हैं और प्रकाश में आते हैं, इनका कोई मूल्य या अर्थ नहीं है। आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति समाज-सेवा के ज़रिये ही की जा सकती है और वस्तुतः मूल्यवान् सामाजिक आदर्श उन स्वतन्त्र व्यष्टियों के ज़रिये ही अस्तित्व में आ सकते हैं जिन्होंने मूल्यवान व्यष्टित्व परिवर्धित किया है। इस चक्र को खण्डित नहीं किया जा सकता।

ईसाई धर्म में इन दोनों आदर्शों का सबसे अधिक सच्चा और सबसे अधिक ऊँचा समन्वय है। इसके संस्थापक ने व्यष्टिगत मानव-आत्मा के महत्त्व और

मूल्य को सबसे ऊँचा स्थान दिया, पर उसी ने यह शिक्षा भी दी कि वैयक्तिक मुक्ति का मार्ग त्याग और बलिदान में है। "जो मेरे खातिर अपना जीवन देता है उसे वह अवश्य प्राप्त हो जाएगा।" ईसा स्वयं, जो किसी भी सिद्धान्त के अनुसार जाँचने पर मनुष्य जाति के इतिहास का महान् व्यक्तित्व था, अपने मानव बन्धुओं की पूर्ण सेवा में लगा हुआ जिया और मरा। यदि नैतिक विश्व की प्रकृति के बारे में उसका सन्देश सच्चा है तो सचमुच इस बात में कोई परस्पर-विरोध नहीं है कि आत्म-साक्षात्कार और सामाजिक सेवा, ये दोनों जीवन और शिक्षा के ध्येय हैं क्योंकि वे एक ही हैं।

यदि हम इस बात को मानते हैं तो हम अपने विद्यालयों को ऐसे समुदायों का रूप दे सकते हैं जिनमें व्यष्टित्व को दबाया नहीं जाता, बल्कि सामाजिक सम्पर्कों और सेवा द्वारा पोषित किया जाता है, जहाँ प्रत्येक सदस्य के अपने कर्तृत्व का स्वागत होता है और उसे बढ़ावा दिया जाता है। यह है वह आदर्श जो हमारे सर्वोत्तम स्कूलों को अनुप्राणित कर रहा है। इसे सब लोगों को एक मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यह देखकर बड़ा संतोष होता है कि माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी सलाहकार समिति "इस बात पर विश्वास करना असम्भव समझती है कि किसी समुदाय को अपने भावी नागरिकों में व्यष्टित्व की स्वतंत्र वृद्धि से, लाभ के अलावा कुछ और हो सकता है।"

अध्याय ३

दार्शनिक समस्या

(Philosophical Problem)

हम शुरू में ही बता चुके हैं कि दर्शन की मुख्य समस्याएँ दो हैं—प्रथम तो यथार्थता या वास्तविकता अर्थात् सत्य (Reality) के स्वरूप के विषय में आध्यात्मिक (Metaphysical) समस्या, और दूसरी, मानव के स्वरूप के बारे में मानवीय समस्या। पहली समस्या सम्बन्धी विचारों को सत् रूप तत्त्व एक, दो या बहुत होने के अनुसार अद्वैतवादी, द्वैतवादी, या बहुत्ववादी कहा जा सकता है। मोटे तौर से दार्शनिकों ने सदा अद्वैवताद को पसन्द किया है। उन्होंने सारे संसार को एक तत्त्व से बना हुआ मानने का यत्न किया है और द्वैतवादी और बहुत्ववादी विचारों को असंतोषजनक माना है। यूनानी दर्शन का जनक थेल्स (Thales) जल को मूल और अन्तिम तत्त्व मानता था। उसके उत्तरवर्तियों ने वायु या अग्नि को माना, पर बाद के यूनानी परमाणुओं, अर्थात् बहुत छोटे अविभाज्य कणों, पर पहुँचे।

पर द्वैतवाद बड़ा प्रचलित विचार है। यह बिल्कुल स्वाभाविक सिद्धान्त है, क्योंकि हमें दीखता है कि हम दो जगतों में रहते हैं, अर्थात् वस्तु जगत् और हमारा आंतरिक अनुभव का जगत्। इस प्रकार द्वैतवाद में आध्यात्मिक विचार की दृष्टि से जो दो पदार्थ हैं वे भूतद्रव्य यानी प्रकृति (Matter) और मन (Mind) हैं। मानव समस्या की दृष्टि से वे शरीर और आत्मा या मन बन जाते हैं क्योंकि शरीर भौतिक पदार्थ का बना हुआ है। प्रतीत होता है कि असभ्य मनुष्य (Primitive Man) शरीर पर अधिक बल देता था और आत्मा को इसका सूक्ष्म सारहीन रूपान्तर मात्र समझता था। महान् दार्शनिक डेसकार्टेस (Descartes) द्वैतवादी था, जिसकी दृष्टि में मनुष्य शरीर और आत्मा का संयोग

था। उसके महान् दार्शनिक होने के कारण और दोनों को पूर्णतः अलग मानने के कारण बाद के अद्वैतवादी विचारकों के लिए उन्हें फिर एक करना बड़ा कठिन हो गया। मनः-शरीरी द्वैतवाद अर्थात् यह सिद्धान्त कि मन और शरीर भिन्न गुण-धर्मों वाले दो भिन्न तत्त्व हैं, आमतौर से माना जाता है। पर मन का मस्तिष्क (Brain) से जो निकट सम्बन्ध है, वह ध्यान में आये बगैर नहीं रह सकता। मानसिक घटनाएँ और मस्तिष्कीय घटनाएँ एक-दूसरे के साथ-साथ होती हुई और पूर्ण संवादिता (Correspondence) के साथ होती हुई प्रतीत होती हैं। इस मनः-शरीरीय सहवर्तिता की प्रकृति और कारण दुरूह मनः-शरीरीय समस्या है। प्रतीत होता है कि शरीर और मन एक-दूसरे के साथ मिथःक्रिया (Interaction) करते हैं, और इस तरह हमें मिथःक्रिया का सिद्धान्त अर्थात् यह सिद्धान्त मिलता है कि मानसिक घटनाएँ शारीरिक घटनाओं से पैदा होती हैं, और शारीरिक घटनाएँ मानसिक घटनाओं से पैदा होती हैं। पर यदि शरीर और मन वस्तुतः पृथक् स्वयं-पूर्ण (Self-contained) सत्ताएँ हैं, तो यह अवधारण करना कठिन है कि शारीरिक घटनाएँ मानसिक घटनाओं से पैदा हुईं, या यह कल्पना करना कठिन है कि एक से दूसरे को ऊर्जा (Energy) का अंतः-प्रवाह (Influx) या उत्प्रवाह (Efflux) होता है। इन कठिनाइयों से पार पाने के लिए हमने ऐकात्म्य उपकल्पना (Identity Hypothesis) बनाई है, जिसके अनुसार शरीर और मन हमें जिस रूप में ज्ञात हैं, उस रूप में वे एक ही तत्त्व के दो भिन्न पहलू हैं, उस तत्त्व की अपनी प्रकृति चाहे जो हो। जो लोग ऐसी उपकल्पना को मानते हैं वे निस्संदेह अद्वैतवादी हैं, पर दूसरे प्रकार के अद्वैतवादी या तो मन को भूतद्रव्यों से और या भूतद्रव्य को मन से उत्पन्न मानते हैं। उन्हें क्रमशः भौतिकवादी (Materialist) और अध्यात्मवादी अथवा आदर्शवादी (Idealist) कहा जा सकता है।

तो भौतिकवाद अद्वैतवाद की एक मुख्य विचारधारा है। अपने सरलतम रूप में यह कहती है कि भूतद्रव्य ही विश्व का मूल तत्त्व है और जिसे हम मन कहते हैं, वह या तो भूतद्रव्य का एक रूप है, या भूतद्रव्य का एक गुण है, या दोनों है। मन, संक्षेप में, मस्तिष्क और उसका संचलन है। अनुभव (Experience) या चेतना (Consciousness) भौतिकवादी के लिए (बशर्ते कि वह इसकी पूर्णतया उपेक्षा न करता हो) एक निरा उपजात (By-product) है या

एक प्रकार की चमक है, जो भौतिक अंग—मस्तिष्क—के कार्य करने के साथ-साथ होती रहती है। प्राचीन यूनान में भौतिकवाद इस अवधारणा में प्रकट हुआ था कि परमाणु, आकाश (Empty-space) और गति (Motion), ये मूल आधार-तत्त्व हैं जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं की व्याख्या की जा सकती है। आधुनिक काल में भौतिकवाद ने फिर परमाणुओं, आकाश (Space) और न्यूटन के गति सम्बन्धी नियमों को अपनाया है और यह माना है कि प्रत्येक चीज़ की इनके आधार पर व्याख्या की जा सकती है। यन्त्रवाद (Mechanism) का विचार सदा प्रमुख रहता है। यह विश्व भी एक बड़ा यन्त्र है जिसे गतिमान किया गया था और जो अब सुस्त पड़ रहा है और अंततोगत्वा जीवित प्राणी यांत्रिक नियमों से प्रभावित होकर चलने वाले परमाणुओं और अणुओं का संकुलन (Complex) ही है। जीवित कोशिका (Living Cell) बनाने के प्रयत्न किए गये हैं, पर उनमें सफलता नहीं मिली। उसे संभव मानकर भौतिकवादी यह विश्वास करता है कि प्राकृतिक वरण का यांत्रिक सिद्धान्त (Mechanical Principle of Natural Selection) अंत में जीवन के उच्चतर रूपों को जन्म देगा। संसार में न कोई सृजनकारी बल है, न प्रयोजन है, न दिशा है। स्पष्ट है कि आचरणवादी मनोविज्ञान (Behaviourist Psychology) भौतिकवाद और यांत्रिकतावाद का ही पालित शिशु है।

सामान्यतया विश्व के, और विशिष्ट रूप से जीवन के, भौतिकवादी और यन्त्रवादी अवधारणों की ताकत का मूल स्रोत इस बात में है कि १९वीं शताब्दी में भौतिक विज्ञान को अत्यधिक सफलता हुई, जो अत्यधिक यथार्थ (Exact) थी और आने वाली घटनाओं की भविष्यवाणी कर सकती थी। पर बीसवीं शताब्दी में विज्ञान में जो गवेषणाएँ हुई हैं, उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि भौतिकवादी की स्थिति कुछ मजबूत हुई। इसने कम से कम इसके ऊपर बताये गये सरल रूप को मानना तो कठिन कर ही दिया। परमाणुओं को एक कठोर अविभाज्य कण मानने वाला प्रतिष्ठित विचार उन्नीसवीं शताब्दी में भी त्यागा जा रहा था; उदाहरण के लिए, लार्ड केल्विन का वह प्रयत्न प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने भूतद्रव्यों की प्रकृति और गुणों की व्याख्या उपकाल्पनिक ईथर (Hypothetical Ether) में भ्रमर चक्रों (Vortex rings) के रूप में करने का यत्न किया था। इसके बाद रेडियम-धर्मिता (Radio-activity) और परमाणु के विघटन

(Disintegration) का आविष्कार हुआ। प्रतीत होता था कि परमाणुओं की संरचना संकुल संरचना थी और उन्हें इलेक्ट्रान और प्रोटान में विभेदित (Resolve) किया जा सका था—इलेक्ट्रान और प्रोटान बिजली के ऋणात्मक और धनात्मक चार्ज यानी आवेश बताये गये थे। अब बिजली आधारभूत विचार बन गई और इसकी अंतिम प्रकृति का किसी को ज्ञान नहीं था। शायद ऊर्जा आधारभूत वस्तु थी। पर फिर प्रश्न यह है कि ऊर्जा क्या चीज है। क्या यह ऊर्जा, जो भौतिक जगत में पाई जाती है, वही मानसिक ऊर्जा या हमारे भीतर अनुभव होने वाली प्रेरणा है, जिसकी हमें चेतना होती है? सामान्य भौतिकवादी के लिए इस प्रश्न का कोई अर्थ नहीं था, पर वह यह नहीं बता सकता था कि भौतिक ऊर्जा क्या चीज़ है, या कहीं ऐसा तो नहीं कि भौतिक ऊर्जा के विचार के रूप में मनुष्य बाह्य प्रकृति में अपना रूप ही देख रहा हो, अनजाने तौर से इसका अपने स्वयं के रूप में निर्वचन कर रहा हो? कहीं यह उसके आदिकालीन मनुष्यत्वारोप (Anthropomorphism) का अंतिम अवशेष तो नहीं? इस खतरे को देखकर कुछ वैज्ञानिकों ने भौतिक ऊर्जा के विचार को मानने से इनकार कर दिया, और इसे भौतिक विज्ञान में से निकाल फेंका। इन तथा अन्य कठिनाइयों का चाहे जो समाधान हो, पर इस कथन का खण्डन नहीं किया जा सकता कि भौतिकवाद का पुराना सुन्दर सरल रूप अब खत्म हो चुका, क्योंकि भूतद्रव्य विभेदित होकर बिजली, ऊर्जा और ईथर जैसे विश्लेषण के अयोग्य विचारों के संकुलन के रूप में आ गया। दार्शनिक भौतिकवाद का रास्ता जल्दी ही रुक जाता है और अपने मोटे रूप में यह आज टिक नहीं सकता।

पर यदि सरल भौतिकवाद तेजी से मैदान हार रहा है, तो भी यह बात उस दार्शनिक सिद्धांत के बारे में स्पष्ट रूप से कही नहीं जाती जिसे प्रकृतिवाद (Naturalism) कहते हैं। प्रकृतिवाद एक दुर्बोध पद है जिसका बहुत सारे अर्थों में प्रयोग होता है। दार्शनिक दृष्टि से इसके अर्थ के दो मुख्य रूप हो जाते हैं जिनमें से एक का यांत्रिक भौतिकवाद से, जिसका हम वर्णन कर चुके हैं, घनिष्ठ सम्बन्ध है। शायद यह भूतद्रव्य की प्रकृति पर कम, और विश्व संचलन की यांत्रिक प्रकृति पर अधिक विचार करता है। आज भूतद्रव्य के बारे में बलपूर्वक कहना कठिन हो सकता है, पर भौतिक विज्ञान को भौतिक जगत

में कार्य कर रहे नियमों के आविष्कार में जो सफलताएं हुईं, उनकी उद्‌घोषणा करना उतना कठिन नहीं। यह पहले प्रकार का प्रकृतिवाद इन नियमों को पहले ही मानकर चलता है और यह समझता है कि उनका मनुष्य के जीवन, विचार और इतिहास के आधार रूप में होना अनिवार्य है। वे मनुष्य के वातावरण की अवश्य व्याख्या करते हैं और उन्हें मनुष्य की ही व्याख्या करनी चाहिए। मनुष्य प्राकृतिक वरण और उसके परिणामस्वरूप होने वाली योग्यतम की विजय के सख्त नियमों के ठीक-ठीक अनुसार उस वातावरण की क्रिया का परिणाम है। भौतिक विज्ञान का यह प्रकृतिवाद बाह्य प्रकृति से शुरू करके मनुष्य को विज्ञान द्वारा बताये गये विश्व के चित्र में जंचाने की कोशिश करता है।

पर प्रकृतिवाद का एक और रूप है जो जीवन की यंत्रवादी अवधारणा पर आधारित नहीं, क्योंकि यह भौतिक विज्ञानों के बजाय जैविकीय विज्ञानों के आधार पर खड़ा होता है। इसलिए हम इसे जैविकीय प्रकृतिवाद कह सकते हैं। यह जीवन के विचार को अपनी मूल वस्तु मान कर चलता है और मनुष्य को जीवन का उच्चतम रूप, विकास (Evolution) के प्रक्रम में आज तक की सर्वोत्कृष्ट रचना बताता है। मनुष्य की, जो उच्चतम प्राणी (Highest of the Animals) है, व्याख्या उन निम्नतर और सरलतर जीवन-रूपों की शब्दावली में की जाती है, जिनसे उसका विकास हुआ है। यद्यपि ऐसा दृष्टि-कोण मूलवंश (Race) और व्यष्टि के भावी ध्येय पर बल देने के बजाए उसके अतीत इतिहास पर ही बल देने लगता है, पर आवश्यक नहीं कि यह ऐसा ही करे। यह बात, जैसे कि हम आगे चल कर देखेंगे, आजकल की शिक्षा के सिद्धांत और प्रयोग में बड़ा महत्त्व रखती है।

ऐसा प्रकृतिवादी विचार प्रसिद्ध फ्रेंच जीवशास्त्री लमार्क के लेखों के आधार पर चला है। लमार्क ने विकास (Evolution) के तथ्य को देखकर इसकी इस रूप से व्याख्या की कि जीवित प्राणी के भीतर अपने आपको अपनी परि-स्थितियों के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति (Drive) होती है। सेमुअल बटलर, जो विकासवाद की डार्विन द्वारा की गई इस व्याख्या का प्रबल विरोधी था, कि वातावरण, 'सफाई और छंटाई' कर देता है, प्रकृतिवाद की इस विचारधारा को मानता था और आज बर्नार्ड शा ने अपनी रचना **बैक टू मेथुसेलाह** में इसी का प्रतिपादन किया है। नन को कुछ लोग ऐसे प्रकृतिवादियों की श्रेणी में गिनते हैं

क्योंकि वह अपने व्यष्टिता वाले शिक्षा-दर्शन के प्रतिपादन में जैविकी का सहारा लेता है और जैविकीय मनोविज्ञान (Biological psychology) का निर्माण करता है। पर हमें उसकी पुस्तक को सावधानी से पढ़ने से यह पता चला है कि ऐसा प्रकृतिवाद उसके दर्शन का मूलाधार न होकर सहायक मात्र है। मैक्डौगल ने, कम से कम अपनी पहले की रचनाओं में मनुष्य के आचरण (Behaviour) और इसके प्रेरक भावों (Motives), उसकी वांछाओं (Desires), आकांक्षाओं (Aspirations), संकल्पों (Volitions), और आदर्शों की पूरी व्याख्या मनुष्य और पशुओं में होने वाली सामान्य निसर्ग वृत्तियों (Instincts) के द्वारा करने का यत्न किया था। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि जैविकीय प्रकृतिवाद एक जीवन बल के विचार से चलना शुरू करता है जिसे काम शक्ति (Libido), निसर्ग वृत्ति, आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है और इस तरह की धारणा के रूप में मनुष्य की अधिक से अधिक व्याख्या करने की कोशिश करता है।

तो, प्रकृतिवाद के मुख्य रूप दो हैं : (क) भौतिक विज्ञानों का प्रकृतिवाद, जो बाह्य प्रकृति की ओर देखता है और जीवन, मन और मनुष्य को ऐसे ढाँचे में जंचा कर बिठाने की कोशिश करता है, और (ख) जैविकीय प्रकृतिवाद, जो स्वयं जीवन का सीधा अध्ययन करता है, या सीधे अध्ययन के परिणामों की एक धारणा बना लेता है, और जीवन के निम्नतर रूपों की भाषा में मनुष्य की व्याख्या करने का यत्न करता है। पहले वाला प्रकृतिवाद मनुष्य की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हुए गंभीर कठिनाइयों में पड़ जाता है। एक प्राचीन दार्शनिक के इस उलझनदार प्रश्न का उसके पास कोई उत्तर नहीं : "इस सीमाहीन सृष्टि में मेरी आत्मा क्या चीज़ है ?" सब जगह यह विपुल विश्व जीवन का शत्रु दिखाई देता है। कुछ लोग बताते हैं कि वैषयिक (Objective) दृष्टि से देखा जाए तो विश्व ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि में यह एक सर्वथा आकस्मिक घटना प्रतीत होती है कि हमारे इस छोटे से उपेक्षणीय ग्रह पर अवस्थाएँ ऐसी हों कि जीवन पनप सके, और इस बात की संभाव्यता बहुत ही कम है कि अन्य ग्रहों में जीवन का अस्तित्व है। इस सम्पूर्ण योजना में मानवीय जीवन, विचार और प्रयोजन महत्त्वपूर्ण चीज़ नहीं हो सकते। यह बात समझ में आने वाली नहीं कि यदि इस विस्तृत ब्रह्माण्ड का कोई प्रयोजन है तो वह यह ही है कि

हमारे लिए एक उपयुक्त स्थान बना रहे। ऐसा प्रकृतिवाद इसी दृष्टिकोण पर पहुँचाएगा कि मनुष्य उपेक्षणीय चीज़ है।

पर जैविकीय प्रकृतिवाद इतनी आसानी से नहीं लड़खड़ाता। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मैकडौगल के जैसा दृष्टिकोण तर्क-संगत प्रतीत होता है, और कि उससे हम मनुष्य के आचरण और इसके प्रेरक भावों का विश्वसनीय वर्णन बहुत दूर तक कर पाते हैं। निस्संदेह हम में से बहुत से लोग यह अनुभव करते हैं कि जब यह मनुष्य की उच्च आकांक्षाओं और सत्यं, शिवं, तथा सुन्दरं के लिए होने वाली इच्छाओं की व्याख्या करने का यत्न करता है, तब यह कुछ विकृत हो जाता है। यह निस्संदेह यह मानने लगता है कि मनुष्य की जो प्रकृति कुछ मात्रा तक पशुओं की प्रकृति है, वह उसकी सच्ची प्रकृति है, अथवा कि जो शरीर इसे पूर्व-मानव पूर्वजों से मिला है, वही वास्तविक मनुष्य है। निस्संदेह इसके बहुत से रूप मनुष्य के उद्दिष्ट के बजाए उसके उद्गम पर बल देते हैं। तो भी इसका आदर करना होगा और जो लोग इसे अस्वीकार्य, या कम-से-कम अपर्याप्त समझते हैं, उन्हें कोई दूसरा दर्शन स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना होगा।

ऐसा दूसरा दर्शन आदर्शवाद या अध्यात्मवाद (Idealism or Spiritualism) है। अध्यात्मवादी दर्शन के बहुत से और विविध रूप हैं, पर सबका आधारतत्त्व यह है कि संसार का उपादान कारण मन या आत्मा (Spirit) है, कि वास्तविक सत्य मानसिक स्वरूप का है। इसमें अनुभव, विचार, आदर्शों, मूल्यों और व्यक्तित्व पर, जिनका स्वरूप मानसिक है, बल दिया जाता है, और इन्हें भौतिक वस्तुओं या बाह्य प्रकृति जगत् या निम्नतर प्राणि सृष्टि की अपेक्षा विश्व के स्वरूप के अधिक निकट माना जाता है। इसलिए अध्यात्मवाद इस बात का बलपूर्वक खण्डन करता है कि मन सिर्फ मस्तिष्क और उसके संचलन का नाम है, या कि चेतना उपजात (By-product) मात्र है। यह निश्चयपूर्वक कहता है कि मन ही मूलतः तात्विक वस्तु है, जैसा कि रस्क (Rusk) ने बड़े अच्छे रूप में कहा है—"प्रकृतिवाद की तरह यह पूछने के बजाए कि 'शरीर में मन क्यों है?' यह पूछता है कि, 'मन पर शरीर क्यों है' ?"

बाद के प्रश्न का चाहे जो उत्तर हो, पर अध्यात्मवाद सदा मनुष्य के मन को उसके शरीर की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण, यहाँ तक कि ज्योतिषियों के

विस्तृत विश्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण, समझता है।

सुकरात से लेकर आज तक के सब अध्यात्मवादी मनुष्य को बाह्य प्रकृति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु समझते रहे। जब फीड्रस (Phaedrus) ने यह कटाक्ष किया कि सुकरात एथेन्स से बाहर जाकर अपने विचारों का प्रचार करने की हिम्मत क्यों नहीं करता, तब सुकरात ने यह उत्तर दिया था : "मित्रवर! आपकी बात बिल्कुल सही है, और मुझे आशा है कि जब आप इसका कारण सुनेंगे तब मुझे क्षमा कर देंगे और वह कारण यह है कि मैं ज्ञान का प्रेमी हूँ और इस नगर में जो आदमी निवास करते हैं, वे मेरे गुरु हैं, पेड़ और धरती नहीं।" अध्यात्मवादी विचार का मूल तत्त्व यह है कि वास्तविक सत्य मनुष्य के मन में तलाश करना चाहिए, बाह्य प्रकृति में नहीं। आज का अध्यात्मवादी ज्योतिष द्वारा उसके सामने प्रस्तुत सीमाहीन जगत को बिना विस्मय के देखता है और शान्ति के साथ यही कहता है कि जो मन इस सीमाहीन जगत को अपने विचार में ला सकता है, और इसके रहस्यों को अनावृत करने की कोशिश कर सकता है, वह विचार में लाई गई वस्तु की अपेक्षा बड़ा है।

अध्यात्मवाद के एक रूप में इस महान् धारणा को प्रमुख स्थान दिया जाता है कि विश्व युक्तिपूर्ण (Rational) है। यहाँ अध्यात्मवाद विज्ञान के साथ कुछ मात्रा में सहमत हो जाता है क्योंकि विज्ञान का मूल आधारतत्त्व सदा यह रहेगा कि संसार में नियम का अस्तित्व है, और प्रकृति की एकरूपता है। पर अध्यात्मवाद विज्ञान से आगे बढ़कर संसार की इस व्यवस्था का श्रेय किन्हीं यान्त्रिक सिद्धांतों के समूह के बजाय विश्व मानस (Universal mind) के अस्तित्व को देता है। इस प्रकार, फेकनर कहता था कि जगत् स्वयं एक महान् जीवपिण्ड है जिसका एक शरीर और एक आत्मा है, और कि इसका भौतिक पहलू, विश्वमानस का बाह्यरूप "ईश्वर का जीवित दृष्टिगोचर परिधान" है; दूसरी ओर, हेगल का निरपेक्ष आदर्शवाद या अध्यात्मवाद जगत को एक महान् प्रक्रम मानता था—उसकी अवधारणा थी कि ईश्वर के विचार का बाह्य और दृष्टिगोचर होने वाला रूप ही यह बाह्य जगत् है। अपनी कला, दर्शन और र्मध के द्वारा हम इस परम विचार (Absolute thought) के साथ सम्पर्क में आने की आशा कर सकते हैं।

अध्यात्मवाद के अन्य रूपों की यह अवधारणा है कि अंततोगत्वा भौतिक

जगत मनस्तत्व का बना हुआ है क्योंकि वे यह धारणा लेकर चले हैं कि तथा-कथित भूत-द्रव्य के अंतिम मूलतत्वों का स्वरूप मानसिक है। सर्वमनोवाद (Pan-psychism) का सिद्धांत यह था कि सारे सत्य या वास्तविकता की प्रकृति मनोरूप है और प्रत्येक परमाणु में जीवन मन और ऊर्जा है। लीबनिट्ज़ (Leibnitz) की दृष्टि में भूत-द्रव्य तत्वतः मानसिक या आध्यात्मिक था। पर-माणु छोटे-छोटे कठोर द्रव्य कण नहीं थे, बल्कि सजीव इकाइयाँ या मोनेड (Monad) थे। ये मनः सत्ताएँ छोटी-छोटी आत्माएँ या बल की केन्द्र थीं। इस तरह मानव शरीर सजीव इकाइयों का बना हुआ था और मन सब पर शासन करने वाली इकाई था। सजीव इकाई वाले सिद्धान्त को मन को बीच में लाने में कोई कठिनाई नहीं थी, और आज, जब कि परमाणुओं को ऊर्जा प्रणालियां (Energy Systems) माना जाता है, और जब बहुत से भौतिक-विज्ञानी यह मानते हैं कि जिन घटनाओं में परमाणु अकेले-अकेले भाग लेते हैं, उनमें नियति-वाद (Determinism) है, जब विज्ञान के पास हमारे स्वतन्त्र इच्छा के सहज विश्वास के विरुद्ध कोई लाजवाब दलील नहीं रही, तब यह बात बहुत असाधारण नहीं प्रतीत होती।

अध्यात्मवाद का तीसरा रूप इस शक्यता पर विचार करता है कि भौतिक जगत्‌द्रष्टा मन के लिए प्रतीतिमात्र हो सकता है। इस प्रकार के विचार का उग्ररूप प्रातीतिक अध्यात्मवाद या प्रातीतिकवाद (Subjective Idealism or Subjectivism) के रूप में सामने आया, जिसका सम्बन्ध प्रसिद्ध आइरिश दार्श-निक बिशप वर्कले के नाम से जोड़ा जाता है। इसने दार्शनिक युक्ति में अपने ज़माने के भौतिकतावादियों को बुरी तरह परास्त किया था। प्रातीतिक अध्यात्म-वाद यह मानता है कि वस्तुओं का अस्तित्व और वास्तविकता तभी होती है, जब उनकी प्रतीति (Perception) की जा रही हो, और मेरे मन, आपके मन या एक विश्व-मानस से, जो उन्हें देख रहा है, अलग उनका कोई अस्तित्व नहीं। सच तो यह है कि असली प्रातीतिक दर्शन का मानने वाला वस्तुओं का अस्तित्व तब ही मानेगा जब उसका अपना मन उनकी प्रतीति कर रहा हो। इस प्रबल और चरम कथन के बारे में हम क्या कह सकते हैं कि संसार मानसिक संसार ही है, कि सच्ची वास्तविकता या एकमात्र सत्य मन ही है? स्पष्ट है कि हमें यह मानना होगा कि शुद्ध तर्क से इसका खण्डन नहीं किया जा सकता, क्योंकि

यह निश्चित है कि यदि कोई बाह्य जगत् है तो हमें उसका ज्ञान उसकी हमें होने वाली प्रतीति के जरिए ही हो सकता है। हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमारी प्रतीतियों से परे कोई और सत्य है जो वे प्रतीतियाँ कराता है ? युक्ति में हमें यह मानना होगा कि हम ऐसे सत्य के अस्तित्व को मान ही लेते हैं और हम या कोई वैज्ञानिक भी उसे अन्त तक सिद्ध नहीं कर सकता।

अपनी पुस्तक Critique of Pure Reason में कांट ने यह बताया है कि हम जगत को, मन को अनुभव होने वाली घटनाओं या प्रतितियों के रूप में ही जान सकते हैं, पर उसने इन घटनाओं (Phenomena) के पीछे मौजूद वैषयिक यथार्थता (Objective Reality) से इन्कार नहीं किया। उसने सिर्फ यह कहा कि हम इसे इसी के रूप में नहीं जान सकते। इस प्रकार उसका घटनावाद (Phenomenalism) प्रातीतिक अध्यात्मवाद नहीं है। उसने अपनी पुस्तक Critique of Practical Reason में यह भी बताया कि एक वास्तविक जगत् भी है जिसका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है और होता है—यह है अनुभव का, अंतः-करण का, कर्तव्य का, और नैतिक मूल्यों का जगत्। इस प्रकार कांट को, जो भौतिक जगत् के अस्तित्व से इन्कार नहीं करता, महान अध्यात्मवादियों में ऊँचा पद प्राप्त है।

निस्सन्देह साधारण आदमी यह स्वीकार नहीं कर सकता कि प्रातीतिक अध्यात्मवाद का चरम रूप सही हो सकता है। जिस जगत् की हमें प्रतीति होती है, उसका उस मन से पृथक् वास्तविक अस्तित्व अवश्य होना चाहिए जो इसकी प्रतीति करता है, क्योंकि और कोई बात सामान्य बुद्धि के विरुद्ध है। उसके विचारों से यथार्थवाद (Realism) के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण हुआ, जो बिलकुल सीधे और सरल रूप में एक बाह्य जगत् के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है और इसलिए प्रातीतिक अध्यात्मवाद का बिलकुल उलट है। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि हम में से अधिकतर लोगों के लिए यह विश्वास करना बड़ा कठिन होगा कि जब हम नहीं रहते, तब वृक्ष का अस्तित्व भी नहीं होता, और हमें उस सीधे-सादे यथार्थवाद के विषय में कांट की चेतावनी माननी होगी जो यह धारणा बना लेता है कि बाह्य जगत् ठीक वैसा ही है जैसा हमें प्रतीत होता है। पर संभाव्यतः यह कहना सही है कि आधुनिक विज्ञान में ऐसी किसी चेतावनी की आवश्यकता नहीं। यह बेशक ठीक है कि विज्ञान इस यथार्थ-

वादी दर्शन की सचाई को पहले से मान कर चलता है, और यदि इसे कुछ कार्य करना है तो मान कर ही चलना होगा। पर यह जिन भौतिक या मानसिक घटनाओं का अध्ययन करता है, उनके पीछे मौजूद वास्तविकता या सत्य के तात्विक रूप के प्रश्न को जान-बूझ कर अनिर्णीत छोड़ सकता है। आज वैज्ञानिकों को दर्शन की समस्याओं पर विचार करते हुए आवश्यक रूप से भौतिकवादी नहीं बनना पड़ेगा। वे यह विश्वास कर सकते हैं कि उनके इलेक्ट्रानों में मन के सदृश कोई चीज़ है। वे विश्व को "एक बड़ी मशीन के बजाए एक बड़े विचार के तुल्य देख सकते हैं, वे उस विचार की, उस रीति की अभिव्यक्ति (Manifestation) के रूप में देख सकते हैं, और यह चौंकाने वाला सिद्धान्त प्रतिपादित कर सकते हैं कि जगत् का निर्माता अवश्य एक महान गणितज्ञ होना चाहिए।"

किसी समय ऐसे विचार कल्पना की उड़ान, और विचार के अयोग्य माने जाते, पर आज वह बात नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि भूत-द्रव्य को सिर्फ परमाणुओं से बना हुआ मानने वाला पुराना विचार अब खण्डित हो चुका है और स्वयं परमाणुओं को बिजली के अत्यल्प आवेशों (Charges) की संकुल प्रणालियों (Complex system) के रूप में विभेदित किया जा चुका है। भौतिक विज्ञान की विधियाँ इन अन्तिम उपादानों की यथार्थ प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डाल सकतीं। यहाँ प्रेक्षण का अन्त हो जाता है और परिकल्पन (Speculation) का आरम्भ हो जाता है।

आज के भौतिक-शास्त्री और ज्योतिषी जगत् के संचलन का वर्णन गणित के द्वारा करने में ही अपने कार्य की इतिश्री समझने लगे हैं। इस महान कार्य में उन्हें जो सफलता हुई है, उसे देखकर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है, क्योंकि उन्हें जो गणितीय वर्णन वे चाहते थे, वह प्रस्तुत करने में और विश्व को कुछ समीकरणों (Equations) के रूप में लाने में बहुत भारी सफलता मिली है। पर इन समीकरणों में वे यह नहीं बता सकते कि क्ष (अज्ञात राशि) किस को निरूपित करता है। जहाँ तक वस्तुओं के भीतरी स्वरूप का संबंध है, उनमें से अधिकतर यह स्वीकार करते हैं कि उन्हें इस विषय में कोई ज्ञान नहीं और कि उन्हें अंतर्वस्तु के बजाए रूप का ही ज्ञान है। वह महान अज्ञात वस्तु, विश्व का वह सारतत्व, क्या है ? कुछ लोग इस प्रश्न से बचकर निकल जाते हैं और कहते हैं

कि इसका उत्तर देना हमारा काम नहीं । दूसरे लोग, जैसे सर आर्थर एडिंगटन अपना यह विश्वास उद्घोषित करते हैं कि वह वस्तु निश्चित रूप से हमारा मनस्तत्व है, कि अध्यात्मवादी बिल्कुल सही कहते रहे हैं और भौतिकवादी बिल्कुल ग़लत विचार करते रहे हैं; "उस अज्ञात के तट पर हमें एक अपरिचित पद-चिह्न मिला है । इसके उद्गम की व्याख्या करने के लिए हमने अनेक गहरे-गहरे सिद्धांत निकाले । अंत में हमें उस प्राणी की पुनर्रचना करने में सफलता मिली, जिसका वह पद-चिह्न था और कैसे आश्चर्य की बात है कि यह तो हमारा ही पद-चिह्न है !"[१] सर जेम्स जीन्स ने प्रातीतिक अध्यात्मवाद की शक्यता भी स्वीकार की है।

और फिर वही पुराना सवाल सामने आ जाता है कि क्या इस शिशु (अर्थात् मनुष्य) के पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि "वह सारे समय स्वप्न नहीं देखता रहा । जो चित्र वह देखता है, वह शायद उसकी अपने मन की सृष्टि-मात्र हो, जिसमें उसके स्वयं के अतिरिक्त और कुछ नहीं । जिस विश्व का हम इतनी सावधानी से अध्ययन करते हैं, वह शायद एक स्वप्न ही हो, और हम लोग स्वप्न-द्रष्टा के मन की मस्तिष्क-कोशिकाएं (Brain cells) हों ।"[२]

जो लोग भौतिकवाद और उसके फलितार्थों को नापसंद करते हैं, उनके लिए अध्यात्मवाद हमेशा जीवन का एक आकर्षक दृष्टिकोण रहा है। इसका सब महान दार्शनिकों ने पक्ष-पोषण किया, और जैसा कि हम देख चुके हैं, वैज्ञानिक युग में भी बड़े-बड़े बौद्धिक दृष्टि से आदरणीय व्यक्ति इसे मानते हैं । हम यह भी देख चुके हैं कि अब वह जमाना नहीं रहा जब भौतिकवाद और वैज्ञानिक प्रवृत्ति एक ही चीज़ थे, और कि आज अपरिष्कृत भौतिकवाद नामशेष हो गया है । अब वैज्ञानिक सिर्फ इसी कारण मन और ईश्वर के विचारों पर वक्र दृष्टि नहीं रखते कि वे भौतिकवादी अवधारणा में उनका कोई स्थान निश्चित नहीं कर सकते, या दर्शन के अध्यात्मवादी रूपों को विज्ञान के अध्ययन से अछूते लोगों के दायित्व-हीन स्वप्नमात्र नहीं समझते । पर आजकल के अध्यात्मवादी की स्थिति हमें स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए । यह तो ठीक है कि उसे वैज्ञानिक से जो समर्थन मिले, उसका वह स्वागत करता है, पर वह प्रमाण (Proof)

1. Space, Time and Gravitation, P. 201.
2. Eos, or the Wider Aspects of Cosmogony, P. 88.

अर्थात् सिद्धि के लिए उनका मुंह नहीं देखता। विज्ञान चाहे जो कहे, पर वह इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्य में भूत-द्रव्य और यंत्रिकता के सर्वोच्च महत्त्व की और इन अवधारणाओं की व्याख्या करने की शक्ति है। दूसरी बात यह है कि वह मनुष्य की इस जैविकीय व्याख्या को सर्वथा अपर्याप्त समझता है कि जीवन के निम्नतर रूपों से उसका विकास हुआ है। वह यह समझता है कि तर्क (Logic), मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) और धर्म से मनुष्य की सच्ची प्रकृति के बारे में जितना अच्छा ज्ञान हो सकता है, उतना जैविकीय विवेचन से नहीं हो सकता। वह यह कहता है कि मनुष्य की आत्मा और विश्व की आत्मा में एक आन्तरिक तालमेल है। वह यह नहीं मानता कि मनुष्य का मन एक घटनामात्र है, या ऐसे विश्व में, जो जीवन, प्रयोजन, और आकाँक्षा का विरोधी है, वह बिलकुल अकस्मात् उत्पन्न उपजात (By-product) है। वह तो यह मानता है कि वह स्वयं एक वास्तविक चीज़ है जो नित्य (Eternal) के साथ सम्पर्क रखती है। उसकी दृष्टि में मनुष्य सारतः एक ऐसी आत्मिक सत्ता है जिसके जीवन का मुख्य ध्येय अपनी आत्मिक प्रकृति को परिवर्धित करना ही होना चाहिए। यदि जीन्स का गणितीय अध्यात्मवाद बिलकुल पूरी तरह सत्य सिद्ध हो जाए और वैज्ञानिकों द्वारा व्यापक रूप से स्वीकार कर लिया जाए, तो भी हमारे अध्यात्मवादी के दर्शन के लिए यह नाकाफी आधार होगा। जीन्स यह कहता है कि मैंने विश्व की आत्मा में अमूर्त या शुद्ध (Abstract) का पता लगा लिया है पर वह भावना (Feeling), नैतिकता या सौन्दर्य के बारे में कुछ भी नहीं कह सकता। यह सब निर्जीव तार्किक विचार है। अध्यात्मवादियों को मनुष्य के सौन्दर्य-परक और नैतिक मूल्यों की व्यख्या करनी है और इसके लिए वे अपने पूर्ववर्तियों की तरह प्लेटो के दर्शन को आधार बना सकते हैं।

नैतिक मूल्यों का कोई भी सिद्धान्त इतना अधिक सन्तोषकारक, इतना अधिक उदात्त, और शायद इतना अधिक सत्य भी, नहीं है, जितना वह सिद्धान्त है जो प्लेटो के संवादों में मिलता है। यदि हम उस पृष्ठभूमि की खोज करें जिसमें वे लिखे गये थे तो हम देखते हैं कि सोफिस्टों (Sophists) की शिक्षा ने यह विचार फैला दिया था कि अच्छा और बुरा सिर्फ मौके की बात है, और जो चीज़ किसी एक समय या किसी एक स्थान पर अच्छी है, वह दूसरे समय

और स्थान पर बुरी हो सकती है। इन संवादों में सुकरात को इस विचार के प्रतिपादक के रूप में रखा गया है कि कोई निरपेक्ष नैतिक मूल्य नहीं है, और यह दिखाया गया है कि वह नैतिक फैसलों के स्थायी मानदण्ड बनाना चाहता है। ये मानदण्ड मौके या वांछनीयता (Expediency) के आधार पर विचार करने से नहीं बन सकते, और न वे परम्परा में से तलाश किये जा सकते हैं। क्योंकि अपवादरूप उदाहरण हमेशा दिये जा सकते हैं, इसलिए वह या उसका शिष्य और व्याख्याता प्लेटो, या दोनों, नैतिक सिद्धान्तों की नित्य-मान्यता में विश्वास करते थे और इसी का प्रचार करते थे—उनकी मान्यता थी कि सत्य, न्याय, साहस आदि की प्रकृतियाँ स्थायी हैं।

प्लेटो के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए उसके प्रसिद्ध गुफा वाले रूपक (Metaphor) को उद्धृत करके उसकी टीका करना सबसे अच्छा रहेगा।

"इन्सान ज़मीन के भीतर एक ऐसी गुफा में रह रहा है जिसका एक द्वार प्रकाश की ओर खुला है जो सारी गुफा में गुजरता है। वह अपने बचपन से यहीं है और उसकी टांगें और गर्दन जंजीरों से इस कदर बंधी हैं कि वह हिलडुल नहीं सकता और सिर्फ अपने सामने देख सकता है, क्योंकि जंजीरें इस तरह बंधी हैं कि वह अपना सिर नहीं घुमा सकता। उसके ऊपर और पीछे कुछ दूरी पर आग की रोशनी चमक रही है, और आग तथा कैदी के बीच में ऊँचाई पर बना हुआ एक रास्ता है और रास्ते के साथ-साथ एक छोटी दीवार बनी हुई है जो उस पर्दे जैसी है जिस पर कठपुतली वाले खेल दिखाया करते हैं।

"उस दीवार के साथ-साथ लोग चल रहे हैं उनमें से कुछ बोलते-चालते चल रहे हैं और कुछ चुप हैं। उनके हाथों में बर्तन और पशुओं की मूर्तियाँ और चित्र हैं जो लकड़ी और पत्थर और विविध पदार्थों के बने हुए हैं। ये आदमी दीवार से ऊपर दिखाई देते हैं" कैदियों को "सिर्फ अपनी छायाएँ या एक दूसरे की छायाएँ दिखाई देती हैं, जो आग की रोशनी से गुफा की पीछे की दीवार पर पड़ रही हैं······और इसी तरह लेजायी जाने वाली वस्तुओं की छाया वे देखते हैं।" इस रूपक में उन अवस्थाओं का वर्णन है जिनमें हम अपना जीवन बिताते हैं। कैदियों को गुफा के बाहर की घटनाओं का ज्ञान उन छायाओं को देखकर हो सकता है जो उन घटनाओं से पड़ती हैं, पर यदि कोई कैदी जंजीरों से बच जाए या उसकी जंजीरें इतनी ढीली हों कि वह अपना सिर घुमा सके तो

उसे कुछ मात्रा तक वास्तविक घटनाएँ भी दिखाई देती हैं, और यदि वह गुफा से ही बाहर निकल सके तो उसे उसका पूरा ज्ञान हो जाता है। हममें से अधिकतर लोग मजबूती से बंधे हुए कैदियों की तरह हैं और स्वभावतः हम लोग छायाओं की वास्तविकता समझ लेते हैं, पर हमारी बुद्धि उन छायाओं का अर्थ समझने में और उस वास्तविकता की प्रकृति का अनुमान करने में हमें सहायता देती हैं जिससे वे छायाएँ पड़ती हैं। जो लोग इन छायाओं का इस तरह अर्थ लगाने की कोशिश करते हैं, वे दार्शनिक होते हैं। वे अन्ततोगत्वा अपना सिर घुमाने और गुफा के बाहर निकलने में भी समर्थ हो सकते हैं। गुफा के बाहर होने वाली घटनाओं से सम्बन्धित वास्तविकता में स्थायी प्रकृतियाँ, रूप, सार-तत्व, या विचार होते हैं और छायाएँ वे विशिष्ट मनुष्य या विशिष्ट क्रियाएँ हैं जिनका हमें अपनी इन्द्रियों से ज्ञान होता है। दार्शनिक व्यक्ति अपने तर्क और समझ के द्वारा यह सोचता है कि उन विशिष्ट पुरुषों और विशिष्ट क्रियाओं में वह उन प्रकृतियों को पहचानता है जिन्हें वह जानता है, पर सच्ची वास्त-विकताओं का यह ज्ञान उसकी इन्द्रियों से नहीं प्राप्त होता, बल्कि उसकी समझ (Understanding) से प्राप्त होता है। वह ही "उस विचार में और उन पदार्थों में, जो उस विचार में हिस्सा लेते हैं, भेद कर सकता है, और इस योग्य होता है कि उन पदार्थों को विचार के स्थान पर न रखे और विचार को पदार्थ न समझे।" वह बड़ा सचेत होता है, स्वप्नद्रष्टा नहीं होता।

इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं या प्रतीतियों की सदा बदलती हुई दुनिया के अति-रिक्त, प्लेटो की दृष्टि में नित्य रूपों या प्रकृतियों की एक और दुनिया है जिसके विषय में मनुष्य अपनी बुद्धि से सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। सच तो यह है कि ऐसे ज्ञान की शक्यता पहले ही से उन विचारों में मान ली गई है जो इन्द्रियग्राह्य वस्तु के विषय में उनके मन में हैं। "प्रतीतियाँ (Phenomena) जब विचारों के रूप में आती हैं, तब वे उनके नाम ग्रहण कर लेती हैं।" प्लेटो ने एक बड़े सरल उदा-हरण से अपने सिद्धान्त को बहुत स्पष्ट कर दिया है। संसार में बहुत से पलंग और मेज़ें हैं, पर उनके सिर्फ दो विचार या रूप हैं, एक पलंग का विचार और दूसरा मेज़ का विचार। पलंग या मेज़ बनाने वाला पलंग या मेज़ का विचार नहीं बनाता, बल्कि वह जो वस्तु बनाता है, वह विचार के अनुसार बनाता है। वह सच्चे अस्तित्व को नहीं बनाता, बल्कि अस्तित्व के कुछ-कुछ सादृश्य मात्र को बनाता

है। सच्ची कल्पना वस्तुओं में निसर्गतः होती है। यह ईश्वर द्वारा बनाई जाती है, क्योंकि कोई और इसका निर्माता नहीं होता। प्लेटो एक महान गणितज्ञ था और उसका वास्तविकता सम्बन्धी सिद्धान्त गणित जानने वाले के मन को सदा प्रभावित करता है। गणितज्ञ उस अनादर्श वृत्त (Imperfect Circle) में, जो वह वास्तव में खींच सकता है, और उस आदर्श वृत्त में जिसे वह अपनी बुद्धि के जरिये जानता है, जो अंतर है, उससे सुपरिचित है। वह आदर्श वृत्त को सच्चा सत्यरूप मानता है जो वस्तु की अपनी प्रकृति के कारण है, और अनादर्श वृत्त को इसकी मोटी नकलमात्र समझता है। वह कितनी भी सावधानी से त्रिभुज बनाये और कितनी भी परिशुद्धता से कोण नापे, पर वह देखता है कि उसके कोणों का योग दो समकोणों के लगभग ही बराबर है। पर वह अपनी बुद्धि से यह जानता है कि यूक्लीडियन जगह (Euclidean Space) में कोणों का योग ठीक दो समकोण होता है।

इस प्रकार सार्वत्रिक रूप कल्पनाएँ (Ideas), प्रादर्शों (Patterns), या सारतत्व (Essence) में जगत् की असली वास्तविकता है; उन प्रतीतियों में नहीं जो उनकी अपूर्ण अनुकृति हैं। वे न अस्तित्व में आती हैं और न खत्म होती हैं। वे स्थायी हैं और स्थायी ही रहती हैं और वे ही सच्चे ज्ञान का विषय हैं। इस प्रकार, प्लेटो का अध्यात्मवाद वैषयिक या आबजेक्टिव है। उसके इस कथन के कारण कि कल्पना या विचार यथार्थ या वास्तविक हैं, उसके सिद्धान्त को यथार्थ-वाद या रीयलिज्म (Realism) का नाम मिला है, पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि यहाँ यथार्थता का विचार कल्पनाओं (Ideas) के बारे में है, बाह्य जगत् के बारे में उस नहीं (और यह उस यथार्थवाद से बिल्कुल भिन्न चीज़ है, जिसे ऊपर प्रातीतिक अध्यात्मवाद का उलट बताया गया है)।

पर प्लेटो के अध्यात्मवाद का जीवन और शिक्षा में महत्व इसलिए है कि यह सौंदर्य-परक और नैतिक मूल्यों के दर्शन के रूप में कार्य करता है। इन मूल्यों का हमारी इन्द्रियों द्वारा गोचर जगत् से परे एक नित्य जगत् में वास्तविक और स्वतन्त्र अस्तित्व है। इनका कोई कारण बताने की आवश्यकता नहीं। उन्हें भौतिक विज्ञान के ढांचे में किसी जगह बिठाने की आवश्यकता नहीं, या मनुष्य की प्रकृतिवादी तस्वीर के रूप में उनकी व्याख्या कर देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि असली वास्तविकता "संसार में निरपेक्ष सुन्दर, निरपेक्ष शिव और निरपेक्ष महान,

इत्यादि का अस्तित्व है ?" और इस संसार में हम जिस चीज़ को सचमुच अच्छा या सुन्दर देखते हैं, वह इसीलिए अच्छी और सुन्दर है, क्योंकि उसमें निरपेक्ष अच्छाई या सुन्दरता की प्रकृति का कुछ अंश है।

जगत में एक निरपेक्ष सौंदर्य और निरपेक्ष अच्छाई है, और अन्य वस्तुओं का भी, जो बहुत सारी हैं, एक निरपेक्ष रूप है क्योंकि उन्हें सबको एक विचार में बाँधा जा सकता है, जो उनमें से प्रत्येक का सारतत्त्व कहलाता है।

"यदि निरपेक्ष सौंदर्य के अलावा कोई वस्तु सुन्दर है, तो यह इसलिए सुन्दर है कि इसमें निरपेक्ष सौंदर्य का कुछ अंश है···वह वस्तु निरपेक्ष सौन्दर्य के होने या आने से ही सुन्दर बनती है···निरपेक्ष सौंदर्य ही सब सुन्दर वस्तुओं को सुन्दर बनाता है।" (फीडो)

पर प्लेटो इससे भी आगे गया क्योंकि उसे अपनी नित्य-कल्पनाओं में एकीकरण करने वाले एक तत्व की आवश्यकता अनुभव हुई। उसने इसे शिवं का रूप या कल्पना का नाम दिया जो परम वास्तविकता थी, जिससे अन्य सब वस्तुएँ अस्तित्व में आईं, जो "सारे सुन्दरम् और सत्यम् का सार्वत्रिक निर्माता" है। इसका दर्शन हीनतर रूपों का चिरकाल तक ध्यान करने के बाद स्वर्गीय या सुखकर रहस्यात्मक दृष्टि के रूप में अकस्मात् साक्षात्कार से होता है। ईसाई दार्शनिकों की दृष्टि में इसी के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग होता है, यद्यपि प्लेटो ने परमवास्तविकता को कहीं भी ईश्वर नाम नहीं दिया। पर प्लेटो की विचारधारा हमें ईश्वर की कल्पना और इस विचार पर पहुँचाती है कि नित्यरूप और निरुपाधि मूल्य उसके गुण हैं। मनुष्य की आत्मा परमआत्मा के सदृश है और वह रूपों की नित्यता में हिस्सा लेती है। यह आदर्श नित्य जगत् और दिक्काल वाले जगत् के बीच एक कड़ी है। अधिकतर ईसाई दर्शन का अवधारण सारतः प्लेटोवादी है। फोर्थ गॉस्पल (Fourth Gospel) का पूर्व कथन लिखने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से कोई पुराना ईसाई प्लेटोवादी ही होगा। पर ईसाई दर्शन इस कथन से शुरू होकर कि "शब्द से ही शरीर बन गया और हमारे बीच रहने लगा" प्लेटोवाद के बारे में और बहुत कुछ बताता है। समय बीतने के साथ-साथ ईश्वर के गुण, शब्द और नित्य मूल्यों को मूर्तरूप दिया गया और उन्हें मानव-जीवन में प्रदर्शित किया गया जिससे हम उनकी गरिमा देख सकें।

सबसे पहले प्लेटो ने ही इस दृष्टि और आशा को तर्कसंगत रूप में पेश

किया था कि इस जगत् और इस जीवन से परे एक और लोक, और एक और जीवन है, जो इससे अधिक सत्य, अधिक सुन्दर और अधिक वास्तविक है, और जिसे आज हम एक कांच में से धुंधले रूप में देखते हैं, पर जिसे हम इसके बाद उसके पूर्ण गरिमामय रूप में देखेंगे। यह नित्य जगत ही वे नैतिक मानदण्ड प्रस्तुत करता है जिन्हें हम अपनी बुद्धि के द्वारा पहचान सकते हैं और जिनका हम अनुगमन कर सकते हैं।

प्लेटोवाद सौंदर्य दर्शन के रूप में भी इतना ही सन्तोषकारक है। यद्यपि प्लेटों के संवादों में शिव और सुन्दर में स्पष्टतः प्रभेद नहीं किया गया, तो भी यदि हम सावधानी बर्तें, तो उन्हें अलग-अलग सोच सकते हैं। हम देख चुके हैं कि पृथ्वी की प्रत्येक सुन्दर वस्तु को नित्य सुन्दर की कम या अधिक मात्रा में अनुकृति के रूप में, तथा उस रूप की एक इन्द्रियगोचर मूर्ति के रूप में कल्पित किया गया है। रंग, पत्थर और शब्द की तरंगें वे वस्तुएँ मात्र हैं जिनमें से सुन्दर चित्र, गिरजाघर और राग-रागिणियाँ बनाई जाती हैं। वे स्वयं सौंदर्य नहीं है। चित्र, गिरजा या राग-रागिणी भी वास्तविक सौंदर्य नहीं हैं क्योंकि वास्तविक सौंदर्य का अस्तित्व सिर्फ नित्य जगत् में है। पर सच्चा कलाकार स्वयं निरपेक्ष सौंदर्य का दर्शन कर चुका होने के कारण उसे इन्द्रियगोचर रूप में प्रस्तुत कर देता है जिससे हम उसकी कलाकृति का ध्यान करते हुए उस दर्शन पर भी पहुँच सकते हैं। इस प्रकार यदि प्लेटो का सिद्धान्त विश्वसनीय लगे तो यह कहना निरी बात ही नहीं है, बल्कि ठोस तत्व है, कि जब हम चार्ट्रेस केथेड्रल के अलौकिक सौंदर्य से अभिभूत हो जाते हैं (नैपोलियन ने कहा था कि यहाँ आकर कोई आदमी नास्तिक नहीं रह सकता) तो हम कुछ सीमा तक स्वर्गलोक में निवास कर सकते हैं, या जब हम किसी महान गायक की स्वर-लहरी में बह जाते हैं, तब हम असल में अदृश्य स्वरों की झंकार सुन रहे होते हैं। भवन-निर्माता और गायक ने हमें सीधे वस्तुओं के अंतस्तल में पहुँचा दिया।

सौंदर्य की सच्ची सराहना और प्रेम इस बात में है कि हम सुन्दर वस्तुओं का ध्यान करके निरपेक्ष सौंदर्य का दर्शन करें। हमें बताया गया है कि यह दर्शन हमें अंत में और बिल्कुल अकस्मात् हो सकता है।

"जिसने उचित क्रम में सुन्दर का दर्शन करना सीख लिया, वह अपनी

मंजिल के निकट पहुँचने पर अकस्मात् एक विस्मयकारक सौंदर्य की प्रकृति के दर्शन करेगा। यह प्रकृति प्रथम तो चिरंतन होगी, जो न बढती होगी, न घटती होगी। दूसरे, यह ऐसी न होगी कि एक दृष्टिकोण से अच्छी और दूसरे से बुरी, या एक समय या एक संबंध से या एक स्थान पर अच्छी और दूसरे समय या दूसरे संबंध से या दूसरे स्थान पर बुरी हो, जैसे मानो यह कुछ के लिए अच्छी और कुछ के लिए बुरी हो। यह शुद्ध सौंदर्य होगा, निरपेक्ष, पृथक्, सरल और स्थायी सौंदर्य होगा जो बिना घटे और बढ़े, या बिना किसी परिवर्तन के अन्य सब वस्तुओं के सदा बढ़ने और नष्ट होने वाले सौंदर्य को प्राप्त होता है, जो सच्चे प्रेम के प्रभाव में आकर इनसे ऊपर उठता है। वह यह देखने लगता है कि सौंदर्य की मंजिल अब दूर नहीं और किसी दूसरी वस्तु के ज़रिये प्रेम की वस्तु पर पहुंचना लौकिक सौंदर्य को उस पर्वत पर पहुंचने की सीढ़ियों के रूप में प्रयोग करना है जिनके ज़रिये वह उस दूसरे सौंदर्य के ख़ातिर ऊपर की ओर बढ़ता हुआ एक से दो और दो से सब सुन्दर रूपों पर पहुँचता है, और सुन्दर रूपों से सुन्दर कार्यों पर और सुन्दर कार्यों से सुन्दर विचारों पर चलता हुआ सुन्दर विचारों से अंत में वह निरपेक्ष सौंदर्य के विचार पर पहुंचता है और अन्त में यह जान लेता है कि सौंदर्य का सारतत्व क्या है।"

ऐसा ऊँचा अवधारण अपने सामने होते हुए हम संतोषपूर्वक दार्शनिक समस्या पर विचार बन्द कर सकते हैं, पर एक तीसरा भी दृष्टिकोण है जिसे व्यवहार-दर्शन (Pragmatism) कहा जाता है। इसका शिक्षा-पद्धति में बड़ा महत्व है, और यह हमारी अब तक की कुछ मान्यताओं पर संदेह की उंगली उठाता है। हमने दर्शन को वास्तविकता की प्रकृति के अध्ययन या अंतिम मूल्यों की खोज के रूप में समझा है। हम ऊपर बता चुके हैं कि दार्शनिक दर्शन को "विश्व के एकत्व की खोज या दृष्टि" मानकर अद्वैतवादी दृष्टिकोण अपनाया करते हैं, और हमने यह स्थापना की है कि शिक्षा दर्शन का क्रियात्मक रूप है क्योंकि यह दर्शन द्वारा परिभाषित मूल्यों का, जिन अनुभवों में से मनुष्य को गुज़रना होगा उनमें से कुछ को छाँट कर, साक्षात् करना चाहता है। हमारा उद्देश्य यह रहा है कि जिसे सत्य और नित्य माना गया है, या सार्वत्रिक स्वीकार किया गया है, उसकी दृष्टि से शिक्षा के ध्येयों का पता लगाएँ।

पर प्राग्मैटिज्म या व्यवहारवाद (Pragmatism), जो जीवन और शिक्षा का प्रारूपिक अमेरिकन दर्शन है, ऐसे दृष्टिकोण को बुरा समझता है। दार्शनिक समस्या के समाधान में यह अमेरिकन प्रयत्न, जैसा कि केण्डल ने बताया है, व्यावहारिक अमेरिकन मानस और अमेरिकन राष्ट्र के इतिहास का एक प्रतिक्षेप (Reflex) है। अपनी नई सभ्यता का निर्माण करते हुए पहले पथ-परिष्कारकों के सामने रोज ऐसी नयी समस्याएं आती थीं, जिनके समाधान उनके पास पहले से तैयार नहीं थे। उदाहरण के लिए, अपना क्षेत्र विस्तार करने के काम में उन्हें नई स्थितियों का सामना करने के लिए पुराने घिसे-पिटे विचारों का प्रयोग कम करना पड़ता था, और नये विचारों का निर्माण करना पड़ता था। परिणाम यह है कि उनका दर्शन उनके जीवन-मार्ग से बना एक सिद्धान्त है, न कि उनका जीवन-मार्ग किसी सिद्धान्त से बना है। दूसरे, उनका जीवन-मार्ग प्रधानतः प्रयोगात्मक (Experimental) रहा है। इस प्रकार, वे संसार की परिवर्तनशीलता और जीवन के प्रायोगिक स्वरूप पर बल देते हैं। व्यवहारवादी लोग सुनिश्चित नित्य मूल्यों के किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते। वे निरपेक्षवाद के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और सापेक्षवाद का गुण-गान करते हैं। उनका कहना है कि दर्शन को आध्यात्मिक बातों से कम, और जीवन की तथा मानव दिलचस्पी की वस्तुओं से अधिक वास्ता रखना चाहिए। व्यवहारवाद सारतः एक मानवतावादी दर्शन है, जो यह मानता है कि मनुष्य कार्य करते-करते अपने ही मूल्य बनाता है, कि सत्य अभी निर्माण की अवस्था में है, और अपने स्वरूप का कुछ हिस्सा भविष्य के लिये छोड़ देता है, कि हमारे सत्य मनुष्य-निर्मित वस्तुएं हैं।

व्यवहारवाद का पहला मुख्य उसूल यह है कि सत्य निर्णय वह है जिससे अनुभव में संतोषजनक परिणाम प्राप्त हों, और कि इसकी सचाई की जाँच इस बात से होती है कि यह व्यवहार में कैसा सिद्ध होता है। संतोषजनक कार्य और उपयोगिता को सत्यं और शिवं की कसौटी माना जाता है। इस प्रकार हम जिन सिद्धान्तों पर विचार कर रहे हैं, अर्थात् भौतिकवाद, प्रकृतिवाद और अध्यात्मसाद, वे यदि जीवन में ठीक तरह व्यवहार में आते हैं तो वे सत्य हैं, और यदि नहीं आते तो मिथ्या हैं। दूसरा उसूल यह है कि सत्य वह चीज़ है जो किसी निर्णय का परिणाम होता है। कोई निर्णय संतोषजनक रूप से कार्य

करे, तो वह सत्य बन जाता है। अनुभव में आने से पहले वह न सत्य था, न मिथ्या। तीसरा यह ख़तरनाक़ उसूल है कि यदि कोई विश्वास व्यवहार में ठीक़ सिद्ध होता है तो हमें इसे बनाये रखने का नैतिक अधिकार है।

व्यवहारवाद के सौभाग्य से उसे बहुत अच्छे समर्थक मिलते रहे, जिनमें विशेष उल्लेखनीय विलियम जेम्स था, जिसने अपनी पुस्तक **प्राग्मेटिज्म** (Pragmatism) में, जो उसके आठ व्याख्यानों का संग्रह है, अपनी तर्क, प्रेरणा और दृष्टान्तों की चमत्कृत प्रतिभा से उपर्युक्त उसूलों का योग्यतापूर्वक प्रतिपादन किया है। उसका दूसरा नाम "सोचने के पुराने तरीकों का नया नाम" रखा गया। यह सच है कि एक प्राचीन दार्शनिक हेरेक्लीटस ने, जो ५०० ई० पू० में एफेसस में रहता था, यह बताया था कि सब वस्तुओं में निरंतर परिवर्तन हो रहा है। उसने कहा था कि "आप उसी नदी में दो बार नहीं घुस सकते क्योंकि जिस पानी में आप पहले घुसे होंगे, वह अब तक बह चुका है, और उसके स्थान पर दूसरा पानी आ चुका है।" तो यदि कोई चीज़ अपने रूप में स्थिर नहीं रहती तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है ? हेरेक्लीटस के अनुयायी अपने गुरु से भी एक कदम आगे निकल गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे कहते थे कि आदमी किसी सुनिश्चित नदी में एक बार भी नहीं घुस सकता। हेरेक्लीटस को किसी प्रकार के व्यवहारवाद से सहारा मिल सकता था। सोफिस्टों को जो "योरोप में पेशेवर शिक्षकों का पहला समुदाय थे", जहाँ तक उन्हें दार्शनिक की श्रेणी में रखा जा सकता है, वहाँ तक, प्राचीन व्यवहारवादी माना जा सकता है। वे प्रकृतिवादी दार्शनिकों के परिणामों और विधियों को मनुष्य के आचरण पर लागू करते थे, और फिर अंतिम सत्य की खोज से कोई वास्ता न रखते थे, बल्कि वाँछनीय पर बल देते थे और अपने चेलों को वे कलाएँ सिखाते थे, जो एथेन्स के सार्वजनिक जीवन में उनके अच्छी तरह काम आएँ। हम देख चुके हैं कि सुकरात ने, जो वाँछनीयता से परे कुछ मानदण्ड आवश्यक समझता था, उनका खण्डन किया, पर दार्शनिक प्रश्न के स्पष्ट उत्तर के रूप में व्यवहारवाद एक आधुनिक सिद्धांत है। जेम्स स्वयं इसके बारे में इस प्रकार लिखता है :

"मान लीजिए कि कोई कल्पना या विश्वास सत्य है तो इसके सत्य होने से किसी व्यक्ति के वास्तविक जीवन में क्या ठोस फर्क पड़ता है ? उस सत्य का साक्षात्कार कैसे होगा ? इसके सत्य होने पर ऐसे कौन-से अनुभव होंगे जो

इसके असत्य होने पर नहीं होंगे ? संक्षेप में किसी सत्य का अनुभव के सिक्के में नकद मूल्य क्या है ?

"सत्य विचार वे हैं जिन्हें हम आत्मसात् कर सकते हैं, मान्य कर सकते हैं (Validate), सम्पुष्ट (Corroborate) कर सकते हैं, और सत्यापित (Verify) कर सकते हैं। मिथ्या विचार वे हैं जिन्हें हम इस प्रकार नहीं कर सकते।

"किसी विचार में सत्य **घटित होता** है, (Truth happens to an idea), यह सत्य **बन जाता है,** घटनाओं द्वारा सत्य **बना दिया जाता** है। इसकी सत्यता तथ्यतः एक घटना और एक प्रक्रम है : वह प्रक्रम है इसे सत्यापित करना या इसका सत्या**पन**, इसकी मान्यता इसके मान्य**करण** का प्रक्रम है।

हमारे लिए सत्य सत्यापन प्रक्रमों का सामूहिक नाम है, जैसे स्वास्थ्य, धन, शक्ति आदि, जीवन से सम्बन्धित अन्य प्रक्रमों के नाम हैं और मनुष्य उनकी प्राप्ति का इसलिए प्रयत्न करता है क्योंकि उनकी प्राप्ति से उसे लाभ होता है। सत्य का भी स्वास्थ्य, धन और शक्ति की तरह अनुभव के दरम्यान में **निर्माण होता है।**

'संक्षेप में जैसे 'सही या अच्छा' वही है जो हमारे व्यवहार की दृष्टि से वाँछनीय है, वैसे सत्य वह है, जो हमारे विचार की दृष्टि से वाँछनीयमात्र है। वह किसी भी तरह वाँछनीय हो और अंततोगत्वा वाँछनीय हो क्योंकि जो बात वर्तमान सारे अनुभव में वाँछनीय होने से सत्य है, आवश्यक नहीं कि वह भविष्य के सब अनुभवों में भी उतने ही संतोषजनक रूप से वाँछनीय सिद्ध हो सके।"

व्यवहारवाद का, विशेष रूप से शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में प्रायः उतना ही प्रसिद्ध व्याख्याता प्रोफेसर जॉन ड्यूई है। उसकी यह मान्यता है कि दर्शन का वर्णन उन समस्याओं के रूप में होना चाहिए जिनसे इनका सम्बन्ध है, कि वस्तुतः समस्याओं के समाधान के प्रसंग में ही इसका कुछ अर्थ और सार्थकता है।

"ये समस्याएँ सामाजिक जीवन के विरोधों और कठिनाइयों में पैदा होती हैं। वे समस्याएँ ऐसी होती हैं जैसे मन और भूत-द्रव्य का सम्बन्ध, शरीर और आत्मा का संबन्ध, मानव और भौतिक प्रकृति का संबंध, व्यष्टिगत और सामाजिक सम्बन्ध, सिद्धान्त या ज्ञान, और प्रयोग या कर्म का सम्बन्ध।"

इस प्रकार वह दर्शन की परम्परागत विषय-वस्तु को स्वीकार करता है, पर यह आग्रह करता है कि दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर व्यावहारिक प्रयोग के रूप में होने चाहिए।

"जब कभी दर्शन को गम्भीरता से समझा गया है, तब सदा यह कल्पना की गई है कि इसका अर्थ कोई ऐसी विशेषता प्राप्त करना है जो जीवन के आचरण को प्रभावित करेगी। इस तथ्य पर गौर कीजिए कि दर्शन के प्रायः सब प्राचीन सम्प्रदाय रहन-सहन के संगठित प्रकार भी थे। जो लोग उनके उसूलों को स्वीकार करते थे, वे एक विशेष प्रकार की आचरण रीति को ग्रहण करते थे। मध्ययुग में देखिए कि रोमन चर्च के दर्शन और धर्मविद्या (Theology) में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसका धार्मिक हितों के साथ बहुधा साहचर्य होता था, और राष्ट्रीय संकटों के समय इसका राजनैतिक संघर्षों के साथ साहचर्य होता था।"

तो दर्शन यह सोचने का नाम है कि जीवन की किस स्थिति में क्या किया जाए और यह तब अस्तित्व में आता है जब समस्याएँ पैदा होती हैं। इस प्रकार दर्शन को सत्य या वास्तविकता की प्रकृति के बारे में निष्क्रिय ध्यान या जाँच-पडताल मानने के बजाय इस रूप में मान कर व्यवहारवाद इसे आसमान से नीचे उतार लाना चाहता है और इसे बुद्धिपूर्वक और विचार-पूर्वक जीवन पर लागू करना चाहता है। व्यवहारवादी अत्यधिक बौद्धिकवाद का विरोध करते हैं और मानवीय मन की सृजनात्मक शक्तियों और कार्यात्मक क्रिया-कलापों की ओर ध्यान खींचते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान इस बात में उनका समर्थन करता है। अब यह कहना आम बात हो गई है कि मनोविज्ञान एक वस्तुगत अध्ययन (Positive study) है और यह अध्यात्मविद्या (Metaphysics) से अलग है। बजाए इसके कि मन की प्रकृति के बारे में दुरूह प्रश्न पूछे जाएँ और उनका जवाब न दिया जा सके, यह व्यवहार से ही वास्ता रखता है। सच तो यह है कि थोर्नडाइक के मनोविज्ञान का अमेरिकन व्यवहारवाद पर सीधा प्रभाव पड़ा था। वह यह कहता था कि जिन्हें हम मानसिक प्रक्रम कहते हैं, वे उद्दीपनों से समंजन के रूप (Forms of Adjustment to Stimuli) हैं, कि व्यष्टि उद्दीपनों से अनुक्रिया करके (By Responding to Stimuli) और स्थितियों से प्रभावी रीति से व्यवहार करके वृद्धि करता है (Grows) और परिवर्धित होता है (Develops)। इसलिए उसका परिवर्धन उस संसर्ग या समागम के द्वारा होता है जो वह अपने वातावरण से करता है। अनुक्रियायें उन्हें होने वाली सफलता या

विफलता के अनुपात में प्रोत्साहित या निरुत्साहित होती हैं; सफल अनुक्रियाएं आदत बन जाती हैं, क्योंकि "सफलता के समान कोई सफलता नहीं।" विचार तब होता है जब नई समस्याएं सामने आती हैं और जब कोई नई समस्या नहीं हैं तब कोई विचार नहीं होता। जब सब काम आसानी से चल रहा हो, तब अनुक्रियाएं थोड़ा-बहुत स्वचालित होती हैं। मान्य (Valid) विचारण वह विचारण है जो किसी समस्या का संतोषजनक हल ढूंढ़ लेता है, और इस अर्थ में पशु, उदाहरण के लिए, कोहलर के चिम्पांजियों, को निश्चित रूप से सोचने वाला कहा जा सकता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त इस प्रकार एक जैविकीय दृष्टिकोण अपना लेता है और मानव की तथा पशु की मनोवृत्ति को सतत(Continuous)मान लेता है। अब यह धारणा कि कल्पनाएँ या विचार (Ideas) अनुकूलन के साधन हैं, और कि अमूर्त विचार की शक्ति जीवन की स्थितियों का सफलतापूर्वक मुकाबला करने के साधन के रूप में विकास के दौरान में पैदा हुई है, व्यवहारवाद से बहुत मेल खाती है। पर यदि इसका ध्वनितार्थ यह है कि वातावरण (Environment) जड़ अर्थात् अपरिवर्ती (Static) होता है तो यह व्यवहारवाद का एक अपर्याप्त आधार हैं। व्यवहारवाद की एक सारभूत विशेषता यह है कि वह इस बात पर बल देता है कि मनुष्य में अपने वातावरण को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने की और समस्याओं के सफल समाधान द्वारा अपने लिए अधिक सुन्दर और अधिक अच्छा वातावरण पैदा कर लेने की शक्ति होती है।

व्यवहारवाद से कायल होने से इन्कार करने का अर्थ यह नहीं है कि जीवन में और शिक्षा में इसकी अधिकतर बातों के मूल्य को हम अस्वीकार करते हैं। हम संक्षेप में इसके मुख्य उसूलों की समीक्षा करेंगे।

यह बात मानी जा सकती है कि सन्तोषजनक रूप से कार्य में आने का अनुभव सत्य की कसौटी है, परन्तु शर्त यह है कि उपर्युक्त सन्तोषजनक कार्यकरण का अर्थ सिर्फ अनुकूल परिणाम ही न हो, और कि वह अनुभव सिर्फ एक व्यष्टि का न हो। यदि यह शर्त न हो तो ऐसी भी चीजें होंगी जो एक व्यष्टि के लिए सत्य हैं पर दूसरे के लिए नहीं हैं। पर यद्यपि जेम्स यह प्रश्न करता है कि "क्या आखिरकार सत्य में कोई संदिग्धार्थकता होना सम्भव नहीं है ?" तो भी उसके प्रश्न का आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं होता कि वह सत्य

का बहुत्ववादी रूप स्वीकार करता है, जो हम में से अधिकतर लोगों को अस्वीकार्य होगा; वह इस बात पर बल देकर अपना बचाव कर लेता है कि अनुभव में सन्तोषजनक सिद्ध होने वाला कार्य सब सम्भव परिस्थितियों में सन्तोषजनक कार्य होना चाहिए, कि अनुभव अन्ततोगत्वा अनुभव होना चाहिए, कि सत्य सब अवसरों पर उसी तरह सत्यापनीय (Verifiable) होना चाहिए जैसे कि वह एक अवसर पर सत्यापनीय हुआ था, कि कार्य बौद्धिक रूप से तथा व्यावहारिक रूप से एक जैसा सन्तोषजनक होना चाहिए। यदि यह विश्वास भी करलें कि सत्य एक कल्पित वास्तविकता से सम्वादिता (Correspondence) है, तो हम असल में इस कसौटी का प्रयोग यह जाँचने के लिए करते हैं कि हमारे निर्णयों में यह सम्वादिता है भी या नहीं, और यह मानकर चलते हैं कि यदि उनमें यह सम्वादिता नहीं है तो अनुभव के दरम्यान, अन्त में वह भूल अवश्य पकड़ी जावेगी। पर हम यह कहते हैं कि हमारे निर्णय व्यवहार में इसी कारण ठीक बैठते हैं कि वे सत्य हैं। यह तो ठीक है कि सन्तोषजनक रूप से व्यवहार में आने की कसौटी सदा असंयत चिन्तन पर कीमती रुकावट का काम करती रही है, और यह वैसी ही रहनी भी चाहिए। वस्तुतः सिद्धान्तों की जाँच करने का और कोई रास्ता नहीं है। कुछ लोग जेम्स की इस बात से भी सहमत हो सकते हैं कि "आप यह भी कह सकते हैं कि 'यह इसलिए उपयोगी है क्योंकि यह सत्य है' और यह भी कह सकते हैं कि यह सत्य है क्योंकि यह उपयोगी है"। इन दोनों पदावलियों का एक ही अर्थ है और वह यह है कि अमुक कल्पना या विचार ऐसा है जो मूर्त्त रूप में आ जाता है, और जिसे सत्यायित किया जा सकता है"।

पर यह धारणा कि कोई कल्पना या विचार "सत्य बन जाता है, घटनाओं द्वारा सत्य बनाया जाता है", इस अध्यात्मवादी धारणा का बिल्कुल विरोधी है कि ज्ञान का विषय एक वैषयिक वास्तविकता (Objective Reality) है और कि "वैषयिक वास्तविकता की विश्वस्तता ही सत्य है"। अध्यात्मवादी यह मानते हैं कि उनके वर्तमान निर्णय तो ही सत्य हैं यदि वे वास्तविकता से मेल खाते हों और यदि वे उससे मेल नहीं खाते तो वे मिथ्या हैं, और कि उनका सत्य होना या मिथ्या होना उनके सत्यापित होने से पहले ही होता है। नेपच्यून-ग्रह का अस्तित्व तब नहीं आरम्भ हुआ जब वह ज्योतिषियों के दृष्टिगोचर हो

गया या जब पहले एडम्स लवेरियर ने गणना द्वारा इसका पता लगाया था। यह निर्णय कि "यूरेनस की कक्षा (Orbit) से बाहर एक ग्रह है" उस समय निश्चित ही सत्य था, जब उन दोनों विद्वानों ने उस निर्णय को आधार-योग्य उपकल्पना मानकर अपना कार्य आरम्भ किया था। क्या यह उस समय से पहले भी सत्य था जब उन्होंने या अन्य किसी ने इसे सिद्ध करने का विचार किया ? निस्सन्देह व्यवहारवादी यह जवाब देंगे कि वह निर्णय सत्य सिद्ध किये जाने से पहले मौजूद नहीं था, और इसलिए न यह सत्य था और न मिथ्या, पर अध्यात्मवादी यह तर्क करेंगे कि यद्यपि वह निर्णय सिद्ध नहीं किया गया था, तो भी यह सिद्ध किया गया हो सकता था और उस निर्णय का विषय, इस बात से बिलकुल स्वतन्त्र रहते हुए, या तो अस्तित्व में था या नहीं था, कि वास्तविक निर्णय या इसका सत्यापन हो। यहाँ आकर दोनों विचार-धाराएँ अलग-अलग दिशाओं में चल पड़ती हैं।

दूसरे, यह कहना कि यदि कोई विश्वास व्यवहार में ठीक है तो हमें वह बनाये रखने का अधिकार है, तर्क का सुविधा के सामने बड़ा असन्तोषजनक समर्पण प्रतीत होता है। इसका यह सीधा-सादा उत्तर है कि किसी विश्वास के व्यवहार में आने से यही बात सत्यापित होती है कि यह विश्वास रखने से संतोष-जनक परिणाम पैदा होता है, और कि इसकी सचाई अब भी अनिर्णीत रहती है। जो हो, पर व्यवहारवादी सिद्धांतों के अनुसार इस तरह की स्थिति में होने वाली बौद्धिक अखण्डता (Intellectual Integrity) की हानि बहुतों को एक असंतोषजनक परिणाम प्रतीत होगी।

क्योंकि व्यवहारवादी पहले से विद्यमान मूल्यों का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, इसलिए उनके सामने ध्येय की कोई स्पष्ट धारणा नहीं हो सकती, पर जब अमेरिकन व्यवहारवादी शिक्षा को ऐसा बल बताते हैं, जो अधिक परिष्कृत और उत्कृष्ट सभ्यता पैदा करता है, तो उनसे यह पूछना उचित होगा कि वे अपने प्रयत्नों की सफलता को किस पैमाने से नापते हैं, क्योंकि साधारण व्यक्ति को यह प्रतीत होगा कि इसके लिए किसी-न-किसी प्रकार का मानदण्ड होना आवश्यक है। इस पर व्यवहारवादी फिर यह कहेंगे कि उच्चतर सभ्यता क्या है, यह पहले से पता नहीं चल सकता। सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि वह बहुत अच्छी तरह चलेगी, कि उस अरुणोदय में जीवन धारण करना आनन्ददायक

होगा और युवावस्था में होना तो साक्षात् स्वर्ग होगा। पर यह निश्चित बात है कि मूल्य और मानदण्ड चाहे जितने धुँधले रूप में हमारे सामने हों, पर हमारे प्रयास को दिशाविशेष में ले जाने के लिए उनकी आवश्यकता है और उनका पहले ही मौजूद होना अनिवार्य है। वास्तव में शिक्षात्मक व्यवहारवादी मूल्यों की एक योजना को ध्वनित रूप से स्वीकार करते हैं; जैसा कि केण्डल ने कहा है "जिन मूल्यों की ओर संसार को चलना है, उन्हें पुराना ही बनाये रखने की प्रवृत्ति है।"

व्यवहारवाद को "साधनों और साध्यों का हास्यजनक मिश्रण" कहना शायद अनुचित रूप से कठोर होगा, क्योंकि विलियम जेम्स का विचारण निश्चित रूप से बड़ा स्पष्ट था, पर इसे एक दर्शन मानने के बजाए दार्शनिक समस्याओं को देखने का एक दृष्टिकोण, स्पष्ट विचारण की एक रीति मानना, उचित प्रतीत होता है। शुरू में जेम्स ने विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रायोगिक रीति को विज्ञान से बाहर की समस्याओं पर लागू करके इसे दार्शनिकता की श्रेणी में बिठा दिया था। पर यदि दर्शन वस्तुओं के वर्तमान रूप की समीक्षात्मक और निष्पक्ष जाँच-पड़ताल है, तो व्यवहारवाद, जो यह विचार करता है कि वस्तुएँ किस तरह व्यवहार में आती हैं, सही रूप में दर्शन नहीं है। क्योंकि यह कुछ ऐसे गम्भीरतम प्रश्नों के महत्त्व और जीवन से उनके सम्बन्ध को अस्वीकार करता है जो मनुष्य के मन में आ सकते हैं, क्योंकि यह अंतिम सत्य की धारणा का ही खण्डन करता है, इसलिए स्पष्ट है कि यह वास्तविकता की प्रकृति के बारे में कुछ नहीं कह सकता। सच तो यह है कि मूलभूत प्रश्नों के उत्तर की खोज को इसके व्यर्थ समझने के कारण ही दार्शनिकों ने इस पर वक्र-दृष्टि रखी है।

व्यवहारवाद सारतः मन की मध्यस्थता-प्रेमी प्रवृत्ति है। जेम्स इसे 'कोमल मन वाले' विचारकों के समक्ष, जिनका झुकाव अध्यात्मवाद की ओर होता है, और 'कठोर मन वाले' विचारकों के सामने, जो प्रकृतिवाद को पसन्द करते हैं, समान रूप से पेश करता है। इसे प्रायः अध्यात्मवाद और प्रकृतिवाद का मध्य-मार्ग बताया जाता है पर कुल मिला कर, इसका झुकाव अध्यात्मवाद की ओर अधिक प्रतीत होता है। इसकी यह धारणा होने से कि मूल्यों का सृजन मनुष्य करता है और कि वे सफल कार्य और प्रयोग होने पर अवश्य सामने आते हैं, यह गतिशील अध्यात्मवाद के बहुत निकट है और प्लेटो के स्थितिशील या जड़ अध्यात्मवाद से दूर है। इसकी आलोचना परिपूर्ण अध्यात्मवाद द्वारा ही की जा

सकती है। यदि प्लेटोवादी अर्थ में अध्यात्मवाद सत्य है तो व्यवहारवाद अवश्य अधूरा है; यदि चिरंतन मूल्य वस्तुओं की प्रकृति में ही मौजूद रहते हैं तो मनुष्य उनका सृजन नहीं करता, बल्कि उन्हें वस्तुओं की प्रकृति में खोजना होता है।

यहाँ पाठक यह जानना चाहेगा कि इस तरह की सहानुभूति द्वारा उसे किधर ले जाया जा रहा है, और यदि वह आलोचक है, तो उसे किस सिद्धांत का खण्डन करना होगा। सम्भाव्यतः यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि लेखक 'कोमल मन वाला' है और यहाँ उसने अध्यात्मवाद के पक्ष में अपना विचार बताया है। वह प्रकृतिवाद को मनुष्य की प्रकृति के बारे में अधूरा और इसीलिए असंतोषजनक विचार मानता है, यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि इससे शिक्षा में बहुत कुछ सहायता मिलेगी और व्यवहारवाद के सब तर्काभासों के बावजूद वह इस बात को अनुचित समझता है कि मनुष्य का मन, जो संसार की गहरी-से-गहरी तात्विक जिज्ञासा में जाना चाहता है, उससे कतरा जाए, पर एक शिक्षा-शास्त्री के नाते वह बहुत कुछ सीखने के लिए तैयार है। संक्षेप में, शिक्षण सम्बन्धी सिद्धान्त और प्रयोग में वह अध्यात्मवाद को मूलभूत दर्शन और प्रकृतिवाद तथा व्यवहारवाद को सहायक दर्शन मानता है, और यदि वह व्यवहारवादी होता तो आजकल के बुरे दिनों में, जबकि मूल्यों को पुराना बनाये रखने की प्रवृत्ति है, वह व्यवहारवादी आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश भी कर सकता था कि उसने अध्यात्मवाद को इसलिए चुना है क्योंकि यही एक दर्शन है जो अ-व्यवस्था और गड़बड़ी से बचाव का एक रास्ता प्रस्तुत करता है।

०

अध्याय ४

शिक्षा में प्रकृतिवाद

(Naturalism in Education)

पहले दो अध्यायों में हमने युक्तियों और दृष्टांतों द्वारा यह स्थापना की है कि शिक्षण के सिद्धांत और प्रणालियाँ दार्शनिक विचार की रीतियों के प्रतिक्षेप (Reflex) हैं। इस तथा अगले दो अध्यायों में हम पिछले अध्याय में विवेचित तीन दार्शनिक सिद्धांतों, अर्थात् प्रकृतिवाद, अध्यात्मवाद, और व्यवहारवाद, के उल्लेख द्वारा इस सत्य को और स्पष्ट करने का यत्न करेंगे। पर ये दार्शनिक सिद्धांत कोई सुनिर्दिष्ट उपपत्तियाँ (Propositions) नहीं हैं, बल्कि सोचने की मोटी रीतियाँ हैं। इसलिए हमें उनमें और शिक्षा-विषयक सिद्धांतों में सामान्य प्रकार की ही संवादिता या सादृश्य (Correspondence) की आशा करनी चाहिए, विनिर्दिष्ट (Specific) प्रकार की संवादिता की नहीं। हमें यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि किसी ने भी कभी किसी सारी की सारी शिक्षा-प्रणाली को किसी दार्शनिक सिद्धांत के साध्यावयव (Major Premise) बना कर नहीं निकाला है। सिर्फ मोटे तौर पर ही दर्शन और शिक्षा में एक-सी विचार-प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। अधिकतर शिक्षा-पद्धतियाँ एक से अधिक दार्शनिक विचार-धारा के आधार पर खड़ी हैं। जैसे साधारण व्यक्ति की दार्शनिक विचारधारा होती है, वैसे ही ये भी कम या अधिक मात्रा तक सार-संकलक (Eclectic) होती हैं। रूसो को, जिसे एडम्स ने "शिक्षा के विषय में विचार प्रकट करने वाला शायद सबसे प्रमुख प्रकृतिवादी" बताया है, रस्क ने ऐसा अध्यात्मवादी बताया है जो प्रकृति को "आत्मा के मुकाबले में नहीं रखता था बल्कि सामाजिक रूढ़ियों के मुकाबले में रखता था, और जिसकी प्रतिपादित शिक्षा की प्रकृतिवादी मंजिल नैतिक, सौंदर्यात्मक और धार्मिक प्रशिक्षण की तैयारी मात्र थी। संभाव्यतः, यह

कहना सही है कि यद्यपि रूसो की विधियाँ, विशेष रूप से शिक्षा की आरंभिक अवस्थाओं के लिए बताई गई विधियाँ, निश्चित रूप से प्रकृतिवादी थीं, पर उसके लक्ष्य अध्यात्मवादी थे। इस प्रकार हमें यह आशा न करनी चाहिए कि हम शिक्षा-सम्बन्धी वादों को अध्यात्मवादी, प्रकृतिवादी, व्यवहारवादी या यथार्थवादी (Realistic) के रूप में अलग-अलग स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कर सकेंगे क्योंकि ये दार्शनिक वाद स्वयं भी इतनी सफाई से एक-दूसरे से अलग नहीं है। पर यह सतर्कता रखते हुए हम यह बताएँगे कि शिक्षा में ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें कुल मिलाकर इनमें से एक वाद से सम्बन्धित कहा जा सकता है, दूसरे से नहीं।

प्रकृतिवाद की देन पर विचार करने से पहले यह अच्छा होगा कि हम प्रकृतिवाद कहलाने वाले दर्शन के मुख्य पहलुओं को शुरू में पुनः स्मरण करलें। प्रथम तो, भौतिक विज्ञान का प्रकृतिवाद है, जो बाह्य प्रकृति पर ही अपनी नज़र गड़ाये होने के कारण स्वयं मनुष्य की कोई तर्कसंगत व्याख्या करने में असमर्थ रहता है। प्रकृतिवाद का यह रूप शिक्षा में कोई योगदान नहीं कर सकता, क्योंकि यह जगत को जिस दृष्टिकोण से देखता है, उसमें मनुष्य गौण हो जाता है, जबकि शिक्षा अपनी प्रकृति से ही एक प्रगाढ़ रूप से मानवीय कार्य है। प्रकृतिवाद का दूसरा रूप अर्थात् यांत्रिकतावाद या मेकैनिकैलिज्म, जो मनुष्य को एक मशीन मानता है, शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धांत और प्रयोग में सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं, इसने हमें आचरणवादी (Behaviourist) मनोविज्ञान दिया, पर प्रकृतिवाद के तीसरे रूप की तुलना में, जिसे हमने विकास के विचार पर आधारित होने के कारण जैविकीय प्रकृति-वाद या बायोलॉजिकल नेचुरलिज्म कहा है, यह भी महत्त्वहीन है। पशु और मनुष्य के परिवर्धन को सतत या अखंडित (Continuous) मानते हुए और मनुष्य की व्याख्या उसके मूलवंशीय अतीत द्वारा करते हुए यह हमें प्राकृतिक मनुष्य का सिद्धांत देता है। यह उस प्रकृति पर बल देता है, जो मनुष्य अपने पूर्व-मानवीय (Pre-human) पूर्वजों से प्राप्त किये हुए है, और उसकी आत्मिक प्रकृति को गौण मानता है। मनुष्य के शरीर को, या कम-से-कम उस प्रकृति को, जो उसमें और पशुओं में एक-सी है, वास्तविक मनुष्य माना जाता है। इस-लिए प्राकृतिक आवेग (Natural Impulses) को बहुत महत्त्व दिया जाता है, और उन्हें अपने आप में पर्याप्त माना जाता है। प्रकृति को, जिसका अर्थ मनुष्य

की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ (Instincts), आद्य भावनाएँ (Primitive Emotion) और सरल-सीधे निर्णय हैं, आचरण का अधिक विश्वसनीय और भरोसे-योग्य पथ-प्रदर्शक माना जाता है। विचार (Reflection) या अनुभव के पुंजीभूत परिणामों को गौण समझा जाता है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, रूसो यह मानता है कि "बच्चे को एक ही आदत पकड़ने देना चाहिए और वह है कोई आदत न पकड़ने की आदत।"

प्रकृतिवाद, जैसा कि एडम्स ने बताया है, ऐसा शब्द है जिसका शिक्षा-संबंधी सिद्धान्तों में उन प्रशिक्षण-प्रणालियों के लिए प्रयोग कर दिया जाता है जो स्कूलों और पुस्तकों पर निर्भर होने के बजाए शिक्ष्यमाण अर्थात् शिष्य के वास्तविक जीवन को क्रियात्मक रूप से प्रभावित करने का प्रयत्न करती हैं। यह पढ़ाई-लिखाई का विरोधी है और इसका लक्ष्य ऐसी अवस्थाएँ पैदा करना है जिनमें प्राकृतिक परिवर्धन होता रह सके। यह सुप्रतिष्ठित और घिसी-घिसाई पुरानी पद्धतियों के विरोध के रूप में सामने आता है। यह सदा अधिकाधिक सादगी का पक्ष लेता है और आडम्बर को दूर करके सरल जीवन की स्थापना करना चाहता है। इसका नारा है 'प्रकृति की ओर लौटो', और इसकी लड़ाई 'कृत्रिम' से है। इस प्रकार जब कोई शिक्षा संबंधी आंदोलन अपनी सजीवता खो चुकता है और अपनी मूल प्रेरणा और प्राण से हीन हो जाता है, और जब उसमें उसके मूल रूप का ढाँचा-ही-ढाँचा रह जाता है और आत्मा नष्ट हो जाती है, तब सामान्यतया उसके बाद प्रकृतिवाद की लहर आती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो प्रकृतिवाद उस पण्डिताऊपन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी, जिसमें पुनर्जागरण-काल (Renaissance) का मानवतावाद या ह्यूमेनिज्म (Humanism) गिर गया था। वह प्रशंसनीय आंदोलन स्वयं भी मध्यकालीन पाण्डित्यवाद के शुष्क और बाल की खाल निकालने वाले तर्कशास्त्र के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था। यह प्राचीन यूनान और रोम के प्रशस्त जीवन में मौजूद साहित्य के माध्यम से स्वयं मनुष्य का अध्ययन करने के रूप में आरंभ हुआ था, पर अन्त में यह किताबों और भाषा-संबंधी रूपों का अध्ययन मात्र रह गया, जैसा कि ऐसी परिस्थितियों में हुआ करता है। इसके बाद अनिवार्यतः प्रकृतिवादी आंदोलन चला। इसी प्रकार के कारणों से १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद शिक्षा के क्षेत्र में प्रकृतिवादी आंदोलन पैदा हुआ। १९वीं शताब्दी के

शिक्षा-सुधारकों को जिन आदर्शों ने आम शिक्षा प्रचलित करने को अनुप्राणित किया था, उनकी तेजी अब जा चुकी थी। स्कूल एक शुष्क घिसी-घिसायी लीक पर चल रहे थे। जन-साधारण की शिक्षा के जो परिणाम आधी शताब्दी में निकले थे, उन्हें उसके लिए किए गए प्रयास के अनुपात में निराशाजनक माना गया, और यह उचित ही था। स्कूलों के पाठ्यक्रम को त्रुटिपूर्ण बताया गया और लक्ष्य तथा विधि में आमूल परिवर्तन करके उन्हें अधिक प्राकृतिक रूप में लाने की आवश्कता अनुभव की जाने लगी।

रूसो स्वयं इस विशिष्ट विरोधी प्रवृत्ति का एक उदाहरण था। शायद यही कारण है कि उसके लक्ष्य अध्यात्मवादी होते हुए भी उसे सब शिक्षा-क्षेत्र के प्रकृतिवादी अपना मसीहा मानते हैं। रूसो, जिसका जन्म १७१२ में जिनीवा में हुआ था, अपने जीवनभर एक अजीब किस्म का आदमी रहा मालूम होता है। वह प्रचलित संस्थाओं के प्रति निश्चित रूप से विरोधी रुख रखता था और उसका प्रबल विरोध जो उसकी प्रसिद्ध शिक्षा-संबंधी रचना **एमिल आर एजूकेशन** (Emile, or Education) में प्रतिपादित किया गया है, इस सूत्र में आ जाता है : "प्रचलित पद्धति को उलट दो तो प्रायः सदा आप सही रास्ते पर आ जायेंगे"। "मानवीय संस्थाएँ", उसने लिखा था, "मूर्खता और परस्पर-विरोध का ढेर हैं", "हमारे नगर मनुष्यों को निगल जाते हैं" इसलिए एमिल को उसके माता-पिता से, समाज से और इसके स्कूलों से दूर ले जाकर प्रकृति के सम्पर्क में 'प्रकृति के अनुसार' एक आदर्श शिक्षक द्वारा शिक्षा दी जाती है, क्योंकि "ईश्वर सब वस्तुएँ अच्छी बनाता है : मनुष्य उनमें दखल देता है और वे बुरी बन जाती हैं", इसलिए "मनुष्य और नागरिक में से कोई एक चुन लीजिए; आप उन दोनों को एक साथ प्रशिक्षित नहीं कर सकते"।

उसकी संजीदगी पर प्रायः सन्देह किया गया है, और उसकी सच्ची महानता के बारे में बहुत भिन्न-भिन्न मत हैं। वाल्टेयर का यह कहना था कि मनुष्य ऊपर से नीचे तक कृत्रिम बन गया है, जबकि नैपोलियन का यह कहना था कि यदि वाल्टेयर न हुआ होता तो फ्रेन्च क्रांति भी न हुई होती। निस्संदेह उसने बहुत से लोगों को कुपित किया है, पर सुकरात की तरह वह भी विचार की दृष्टि से अपने समकालीनों और परवर्तियों को डांस की तरह काटता रहा। अगर हम परिणामों के आधार पर फैसला करें तो हमें उसकी महानता स्वीकार करनी

होगी। एमिल का अनुपम और स्थायी प्रभाव पड़ा। शिक्षा-संबंधी विचार को उद्दीपित करने और दिशा दिखाने की इसकी शक्ति की तुलना प्लेटो की रचना **रिपब्लिक** से ही की जा सकती है जिसका इसके लेखक ने "शिक्षा के विषय में आज तक लिखी गयी सर्वोत्तम रचना" कह कर गुणगान किया। इसे शिक्षा के सारे साहित्य में, बल्कि शायद सारे ही साहित्य में; सब से अधिक प्राणवान पुस्तकों में गिनना उचित ही है। रूसो "उन बहुत से लोगों का पथ-प्रदर्शक बना है जो अपने ऋण-भार को न जानते हुए उन मार्गों पर चलते रहे हैं जिन्हें उसने घने जंगल में प्रकाशित किया था, और आज तो वे मार्ग हर किसी यात्री के लिए विस्तृत राजमार्ग बन गए हैं"। निस्संदेह उसने शिक्षा के क्षेत्र में जो उथल-पुथल आरंभ की थी, वह अब तक शांत नहीं हुई है। उसे प्रकृतिवादी या अध्यात्मवादी बताने में हमें जो कठिनाई होती है उससे उसकी रचनाओं में विद्यमान विचारों की बहुलता का कुछ पता चलता है।

यदि महान्-प्रकृतिवादी रूसो के शिक्षा-संबंधी लक्ष्य अंततः अध्यात्मवादी थे तो क्या कोई ऐसे शिक्षा संबंधी लक्ष्य हैं जो प्रकृतिवाद के दर्शन के साथ विनिर्दिष्ट रूप से सम्बन्धित हों? मनुष्य के विषय में यंत्रवादी दृष्टिकोण और उसके साथी आचरणवादी मनोविज्ञान से देखा जाए तो इससे अच्छा कोई लक्ष्य नहीं दिखाई देता कि मनुष्यरूपी मशीन को इसकी रचना की ओर ध्यान देकर इसे विशद करके और इसे अधिकाधिक जटिल कार्यों के लिए समर्थ बना कर यथासम्भव अच्छी-से-अच्छी मशीन बना दिया जाए। आचरणवादी पदावली में कहा जाए तो मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि उपाधीयित प्रतिक्षेप (Conditioned Reflexes) स्थापित किए जाएँ, जो आधुनिक जीवन के लिए उपयुक्त क्रिया और विचार की आदतें हैं। प्राकृतिक मनुष्य के गुणगान से और इस धारणा से कि प्राकृतिक आवेग अपने आप में अच्छे हैं क्योंकि वे आनन्द देते हैं, हमारे सामने वर्तमान और भविष्य का सुख शिक्षा के लक्ष्य के रूप में आता है। यहाँ जिस आनन्द या सुख से मतलब है, उसका तात्कालिक आनन्द होना आवश्यक नहीं; बल्कि चिरस्थायी आनन्द अन्ततोगत्वा अधिक ग्राह्य है। इसलिए शिक्षा में आत्मसंयम का भी स्थान है, और प्राज्ञता (Prudence) और आनन्द का मूल्यांकन करने की योग्यता ऊँचे गुण माने जाते हैं। इन गुणों का पोषण करके शिक्षा वर्तमान काल का सुख और भविष्यत् काल का

सुख प्राप्त कराती है ।

पर मनोविज्ञान की प्रकृतिवादी विचार-धारा का प्रसिद्ध विद्वान् मैकडागल इस भोगवादी (Hedonistic) दृष्टिकोण की सत्यता का खण्डन करता है कि हमारी सब क्रियाओं का प्रेरकभाव सुख की उपलब्धि और दुःख से बचाव है; वह कहता है कि अंततोगत्वा हमारे आचरण के प्रेरकभाव कुछ प्राकृतिक ध्येयों पर पहुँचने की हमारी सहजवृत्तियाँ (Propensities) हैं; सुख और सुखाभाव हमारे कार्यों के उपजात यानी गौण परिणाम हैं जिनका आना इस बात पर निर्भर है कि हम अपने ध्येयों की तरफ सफलतापूर्वक पहुँच रहे हैं या नहीं पहुँच रहे हैं। ऐसे दृष्टिकोण से शिक्षा का लक्ष्य उन सहजवृत्तियों की ऊर्जाओं का उदात्तीकरण (Sublimation of the energies of the propensities) है; सहज आवेगों का पुनर्निदेशन (Redirection), सूत्रबंधन (Co-ordination) और तालमेल है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह मनुष्य को वे ध्येय प्राप्त करने के योग्य बना सके जो प्रकृति ने वैयष्टिक और सामाजिक मूल्य वाले प्रकारों से उसके सामने प्रस्तुत किए हैं पर निरा प्रकृतिवाद इस विषय में कुछ नहीं बताता कि मूल्य की कसौटी क्या हो सकती है ।

जो शिक्षा-सम्बन्धी लक्ष्य उस प्रकृतिवाद से निकलते हैं जो मनुष्य का जीवन के निम्नतर रूपों से विकास मानने वाले विचार पर आधारित है वे, विकास का जो तथ्य स्वीकार किया गया है उसकी व्याख्या के अनुसार, भिन्न-भिन्न होते हैं। यदि नव-डार्विनवाद सही हो, जो यह मानता है कि वातावरण जीवित प्राणी पर प्रवरक क्रिया (Selective Action) करता है और जीवन कायम रखने के लिए संघर्ष चलता रहता है, तथा उसके परिणामस्वरूप योग्यतम ही जीवित रहता है—तो स्पष्ट है कि शिक्षा का लक्ष्य व्यष्टि या राष्ट्र को उस संघर्ष के लिए तैयार करना और इस प्रकार विजय के योग्य बनाना होना चाहिए। पर यदि इसके विपरीत, नव-लमार्क-वादियों (Neo-Lamarckians) की यह मान्यता सही है कि जीवन के उच्चतर रूपों में विकास का आधार यह है कि जीवित प्राणी में अपने आपको, अपनी आदतों को, अपने शरीर की संरचना को अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की शक्ति होती है, तो एक भिन्न निष्कर्ष निकलता है। शिक्षा को, वातावरण के अनुकूल बनने का प्रक्रम मानना पड़ता है। इसका लक्ष्य यह होता है कि मनुष्य को अपनी परिस्थितियों के साथ

तालमेल पैदा करने और समय के अनुकूल बनने के योग्य बनाया जाए। मन और शरीर दोनों के स्वास्थ्य को महत्त्वपूर्ण बताया जाता है, और आदर्श यह है कि जीवन ऐसा अच्छी तरह समंजित और सुखी हो जिसमें दिव्य या लौकिक कोई असन्तोष न हो।

पर कुछ प्रकृतिवादी, जिनमें बर्नार्ड शॉ का नाम उल्लेखनीय है, एक कदम और आगे जाते हैं। वे यह कहते हैं कि शिक्षा स्वयं विकास की गति को तेज करने, तथा मूलवंशीय सुधार को अधिक शीघ्रता से लाने के लिए किया गया मनुष्य का विमर्षित प्रयास है। यहाँ वे अर्जित गुणों के अ-संचरण (Non-transmission of acquired characteristics) की कठिनाई को हल करना चाहते हैं। यह सच है कि इस प्रश्न का अंतिम रूप से समाधान नहीं हो सकता। पर नवीनतम विज्ञान का यह नकारात्मक निर्णय कि एक संतति में अर्जित गुण जर्मसैल यानी अंकुर कोशिका (Germ-cell) के जरिये अगली संतति में नहीं पहुँचते, उपेक्षित नहीं किया जा सकता। यदि संचरण का कोई स्पष्ट उदाहरण प्रमाणित किया जा सके तो लमार्कवादियों की स्थिति बहुत अधिक दृढ़ हो जाए। पर जो चीज शारीरिक आनुवंशिकता यानी पित्रागति (Bodily Heredity) से नहीं प्राप्त होती, वह सामाजिक आनुवंशिकता के जरिये प्राप्त हो सकती है। नई पीढ़ी एक 'अनुकरण क्षेत्र' (Imitation Area) में बड़ी होकर अपने बुजुर्गों की प्राप्तियों को पुनः अर्जित कर सकती है और ये प्राप्तियां उस अनुकरण-क्षेत्र की प्रमुख विशेषता होती हैं। इस प्रकार शिक्षा पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन मूलवंशीय प्राप्तियों के संरक्षण, अगलों का सौंपने और वृद्धि का नाम है।

अब हम प्रकृतिवादी शिक्षा की कुछ मोटी विशेषताओं पर विचार करना चाहते हैं। हम देखते हैं कि यह बच्चे की प्रकृति पर निरन्तर बल देती है। शिक्षा उस प्रकृति पर पक्के तौर से आधारित होनी चाहिए, जो सदा हितकारी मानी जाती है। प्रकृतिवादी प्रायः बच्चे के बारे में जैरेमिया के इस दृष्टिकोण के बजाय "कि हृदय सबसे अधिक धोखेबाज चीज है और अत्यधिक बदमाश है", वर्ड्सवर्थ वाला यह दृष्टिकोण रखते हैं कि बच्चा "गौरव के मेघों पर पाँव रखता हुआ" स्वर्ग से आता है। वे बच्चे के वर्तमान रूप में दिलचस्पी रखते हैं, न कि उस रूप में जो शिक्षा का संस्कार पड़ जाने पर वह ग्रहण कर लेगा। वे बच्चे के आचरण के बुरे-से-बुरे रूपों की तुलना में आचरण के ऊँचे, वयस्कों

वाले मानदण्ड को महत्त्वहीन समझते हैं। वे शिक्षा को जीवन की तैयारी के बजाय स्वयं जीवन ही मानते हैं। वे बचपन को इसके अपने ही खातिर वांछनीय वस्तु मानते हैं। रूसो के स्वर-में-स्वर मिलाकर वे कहते हैं कि "प्रकृति उन्हें मनुष्य बनने से पहले बच्चे बनाती है" और उसके इस प्रसिद्ध प्रश्न की प्रतिध्वनि करते हैं "इसलिए उस क्रूर शिक्षा के बारे में क्या समझा जाए जो एक अनिश्चित भविष्य की वेदी पर वर्तमान को बलि चढ़ा देती है, जो बच्चे पर सब तरह की रुकावटों का बोझ डाल देती है और शुरू में ही उसे दुःखी बना देती है, ताकि उसे किसी बाद में आने वाले सुख के लिए तैयार किया जा सके जिसे वह शायद कभी भी न भोग सके ?" मनरो ने लिखा है कि सबसे पहले रूसो ने ही यह विचार उद्घोषित किया था कि "शिक्षा का सारे-का-सारा प्रयोजन, प्रक्रम और साधन बच्चे के जीवन और बच्चे के अनुभव के भीतर ही मिल जाता है"। 'सारे-का-सारा' शब्द हममें से अधिकांश को यह सोचने को मजबूर करता है कि उपर्युक्त कथन अतिरंजित तो नहीं। उसी लेखक ने रूसो के शिक्षा-सम्बन्धी अवधारणा को संक्षेप में इन शब्दों में रखा है : "उपभोग-योग्य, बुद्धिसंगत, तालमेल-युक्त, उपयोगी, और इसलिए प्राकृतिक, जीवन में परिवर्धन का प्रक्रम" जो काफी अच्छा है, और आमतौर से स्वीकार्य है, क्योंकि बच्चे की प्रकृति जड़ (Static) है। यह वृद्धि और परिवर्द्धन करती है।

इस प्रकार बच्चे की प्रकृति पर बल देने का अर्थ उसके स्वाभाविक परिवर्द्धन पर बल देना हो जाता है। पर परिवर्द्धन के कौन से मार्ग स्वाभाविक और कौन से अस्वाभाविक हैं ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए आधुनिक प्रकृतिवादी मनोविज्ञान का पल्ला पकड़ता है। बहुत समय से शिक्षकों को मनोविज्ञान का अध्ययन करने के लिए कहा गया है ताकि वे बच्चे की प्रकृति को समझ सकें पर यह खोज कुछ ही समय से सफल हुई है। प्रचण्ड बुद्धि वाले वयस्क दार्शनिकों का अंतरंग अध्ययन बच्चे के मन की प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डाल सकता था, क्योंकि बच्चा मनुष्य का छोटा रूप न होकर बढ़ता हुआ मनुष्य है। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि शिक्षा के लिए परिवर्द्धन का मनोविज्ञान परमावश्यक है। कुछ लोग यह कहते थे कि बच्चे के परिवर्द्धन पर मूलवंश का परिवर्द्धन निर्भर है, और इस तरह के विचार के अनुसार ही शिक्षा की योजना बनाना चाहते थे। कुछ लोगों ने अधिक अच्छा जैविकीय दृष्टिकोण

पकड़ा और निसर्ग मनोविज्ञान (Instinct Psychology) को पेश किया, पर आजकल के शिशुओं, बालकों और किशोरों का प्रत्यक्ष रूप से और वैषयिक रीति से (Objectively) अध्ययन करने के नए प्रचलन से अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं।

पर असली प्रकृतिवादी किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार, चाहे वह कितना ही परिशुद्ध हो, शिक्षा की योजना बनाने में उतनी दिलचस्पी नहीं रखता जितनी इस बात में रखता है कि बाल-प्रकृति को सीधे तौर से स्वयं अपने आप को व्यक्त करने दिया जाए। शिक्षा प्राकृतिक परिवर्द्धन का पोषण मात्र है और सच्ची शिक्षा तब होती है, जब बच्चे की प्रकृति, शक्तियों और प्रवृत्तियों को न्यूनतम पथ-प्रदर्शन करते हुए बाधाहीन रूप से परिवर्द्धित होने दिया जाता है। कोमेनियस (Comenius) के इस विश्वास में आस्था रखते हुए कि "प्रकृति उपयुक्त समय पर अपना कार्य करती है", प्रकृतिवादी शिक्षक बच्चे को उसकी प्राकृतिक अभिरुचियों के अनुसार चलने देता है और उसे बिना बाधा डाले अपने मन-पसन्द कार्य करने देता है। जो चीज उसके आजादी से काम करने में बाधक है, वह बुरी है। कभी-कभी स्कूलों को भी बुरा समझा जाता है, और यह बताया जाता है कि बच्चा किसी अच्छे घर में जो प्राकृतिक शिक्षण पाता है, वह स्कूलों द्वारा दिए जाने वाले कृत्रिम शिक्षण से कितना भिन्न होता है। पर यह भी ठीक है कि कुछ लोग घर और माता-पिता को प्राकृतिक परिवर्द्धन का सबसे बड़ा शत्रु बताते हैं और स्कूल ऐसे आवश्यक स्थान माने जाते हैं जिनमें बच्चे हानिकारक प्रभावों से दूर रह सकते हैं। ये स्कूल बढ़ते हुए बच्चे के परिवर्द्धन के लिए आजादी का आदर्श वातावरण पेश करने का यत्न करते हैं। अस्वाभाविक कक्षा-पद्धति को बुरी नजर से देखा जाता है, जो यह मानकर चलती है कि सब बच्चे एक चाल से चलते हैं, और एक विधि से सीखते हैं, और इसी तरह समय-विभागों को नफरत की नजर से देखा जाता है, जो यह निश्चय कर देती है कि बच्चा किसी खास समय क्या काम किया करे। यहां भी प्रकृतिवाद रूढ़ संस्थाओं का ही विरोध करता है।

शिक्षक को स्वयं भी बहुत सतर्क होना है कि कहीं उसे ही निकाल बाहर न कर दिया जाए। सच तो यह है कि कुछ शिक्षा-पद्धतियों में उसे रहने मात्र दिया जाता है। उसकी किसी भी तरह की दखलन्दाजी को निश्चित रूप से बुरा समझा

जाता है। इतना ही नहीं कि वह बल-प्रयोग या उपदेश की विधि नहीं अपना सकता, बल्कि उसके प्रभावित करने के यत्न का भी निषेध है। यदि उसका कोई स्थान है तो वह पर्दे के पीछे है। वह जानकारी, विचार, आदर्श, और इच्छा शक्ति देने वाला या चरित्र ढालने वाला होने के बजाय बच्चे के परिवर्द्धन का प्रेक्षक (Observer) है। यह गुण बच्चा स्वयं प्राप्त करेगा। बच्चे को शिक्षक की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह पता है कि उसे क्या सीखना चाहिए, उसे यह कब और कैसे सीखना चाहिए, उसे क्या करना चाहिए और वह कैसे करना चाहिए। उसकी शिक्षा उसकी अभिरुचियों और प्रेरकभावों का बाधाहीन प्रवर्तन है, न कि किसी शिक्षक द्वारा उसके ऊपर किया गया कोई कृत्रिम प्रयत्न। तो भी ऐसी शिक्षा-पद्धतियों की बात कानों में पड़ती रहती है जिनमें कोई शिक्षक ही नहीं होता। सामान्यतयः उसे न केवल एक प्रेक्षक के रूप में, बल्कि रंगमंच को सजाने वाले, वस्तुएँ और अवसर प्रस्तुत करने वाले, आदर्श वातावरण पेश करने वाले और ऐसी अवस्थाएँ पैदा करने वाले के रूप में आवश्यक होने दिया जाता है, जिनमें प्राकृतिक परिवर्द्धन हो। इस प्रकार मान्टिसेरी बच्चे के चारों ओर ऐसे उपकरण जमा कर देती है, जो बच्चे की शक्तियों को फलने-फूलने देने, और उसे अपने-आप को शिक्षित करने के वास्ते प्रलोभित करने के लिए बनाए गए हैं। बच्चे के दृष्टिकोण से यह पद्धति स्वयं-शिक्षा की पद्धति है। नारमन मैकमन इससे भी एक कदम आगे बढ़ा और उसने बच्चों की एक-दूसरे को शिक्षित करने की सहज प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया।

इस आधुनिक प्रकृतिवादी आंदोलन के अधिकांश का मूल रूसो की रचनाओं में है। यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिक उसकी इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं होगा कि "मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक खतरनाक काल जन्म और १२ वर्ष की आयु के बीच का काल है", तो भी जिस शैक्षिक विचारधारा का हम वर्णन कर रहे हैं, वह उसके इस विचार से सहमत है कि ५ से १२ वर्ष की आयु तक की शिक्षा शिक्षक द्वारा विधेयात्मक (Positive) प्रयास के बजाय अधिकतर निषेधात्मक होनी चाहिए और शिक्षक को उचित है कि बच्चे को अधिकतर स्वतन्त्र छोड़ दे और उसे यह सीखने दे कि समझदारी से समय कैसे खोया जाए। रूसो ने पेरिस के आर्कबिशप ए. क्रिस्टोफ दाबोमो को एक पत्र में लिखा था :

"मैं विधेयात्मक (Positive) शिक्षा उसे कहता हूँ जो मन को समय से पहले बनाने की और बच्चे को बड़े मनुष्य के कर्तव्य की शिक्षा देने की प्रवृत्ति होती है। मैं निषेधात्मक शिक्षा उसे कहता हूँ जो प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान देने से पहले उन अंगों को, जो इस ज्ञान के उपकरण हैं, पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति रखती है और जो इन्द्रियों के समुचित अभ्यास द्वारा तर्क के लिए रास्ता बनाने का यत्न करती है। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ निकम्मेपन का समय नहीं है, बल्कि इससे उल्टी बात है। यह गुण की शिक्षा नहीं देती, बल्कि अवगुण से रक्षा करती है। यह सत्य की शिक्षा नहीं देती, पर गल्ती से बचाती है। यह बच्चे को उस रास्ते पर चलने देती है जो उसे बड़ा होने पर और सत्य को समझने योग्य होने पर सत्य की ओर ले जाएगा, और जो उस समय उसे अच्छाई की ओर ले जायगा, जब उसमें अच्छाई को पहचानने और उसे अच्छा समझने की योग्यता पैदा हो जायगी।"

इस काल में बच्चे के मन को किसी ढाँचे में ढालने या मजबूर करने के लिए कोई काम नहीं किया जाएगा। उदाहरण के लिए, उसे पढ़ना सिखाया नहीं जाएगा, यद्यपि सम्भाव्यतः वह स्वयं यह कला सीख जाएगा। उसके शरीर के अंगों, इन्द्रियों और शक्तियों को अभ्यास कराया जाएगा या कसरत कराई जाएगी, पर उसकी आत्मा खाली रहेगी। प्राकृतिक परिणामों के अनुशासन के अलावा कोई और नैतिक प्रशिक्षण उसे नहीं दिया जाएगा।

शिक्षा की प्रकृतिवादी अवधारणा को हम संक्षेप में इन शब्दों में रख सकते हैं कि इसमें शिक्षा की तस्वीर में स्वयं बच्चे को मुख्य स्थान दिया जाता है, शिक्षक, स्कूल, पुस्तक या पढ़ाई के विषय को नहीं। सर जान एडम्स ने डा. स्टैनले हाल का घड़ा हुआ एक नया शब्द प्रयोग करते हुए इसे पीडोसैंट्रिक अर्थात् बाल-केन्द्रीय (Paidocentric) प्रवृत्ति कहा। अपने संतुलित निर्णय और लोक-बुद्धि (Common sense), सारतत्व पर पहुँचने की उनकी कुशलता और अपनी मूल्यांकन की शक्ति के कारण वे इस शताब्दी के प्रथम चरण के सारे शिक्षा-क्षेत्र का सर्वेक्षण कर सके और 'नये अध्यापन और नयी शिक्षा' के विविध पहलुओं का मूल्य-निर्धारण कर सके। अपनी पुस्तक **दी न्यू टीचिंग** में उन्होंने विविध प्रसिद्ध विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत विधियों के विवरण संकलित किए और एक आरम्भिक अध्याय में उन सबका सामान्य अंश निकाल कर रखा और इसे बाल-केन्द्रीयता (Paidocentricism) नाम दिया। **एडूकेशनल मूवमेंट्स**

एण्ड मेथड्स नामक पुस्तक में उन्होंने अपने वे लेख संकलित किये जो शुरू में **दी जर्नल एडूकेशन** के लिए लिखे गये थे और जो तालांग-गति (Eurythmics) से लेकर लेटिन अध्यापन की विधियों में सुधार तक के शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर थे, और यहाँ भी उन्हें यह सामान्य आधार मिल गया कि स्वयं बच्चे पर निरंतर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। उनकी रचनाओं की इस माला में शायद सबसे अधिक कीमती लेख **माडर्न डिवलेपमेंट्स इन एडूकेशनल प्रेक्टिस** है जिसमें उन्होंने स्वयं आधुनिक शिक्षा के विविध पहलुओं की आलोचना की है, और यहाँ भी आरंभिक अध्याय में यह बताया है कि शिक्षा-सम्बन्धी आधुनिक प्रयोग में बहुत सी जटिलता और विस्तार हो जाने के बावजूद असल में बच्चे को ही प्रमुखता मिल गई है। बाल-केन्द्रीयता को आधुनिक आंदोलान का मूल आधार कहा जा सकता है और यह सारतः प्रकृतिवादी है।

शिक्षा के प्रकृतिवादी अवधारण को दूसरे तरीके से संक्षेप में इस तरह कहा जा सकता है कि यह मनोविज्ञान पर आधारित है। शिक्षा में मनोवैज्ञानिक आंदोलन को गति देने वाला भी रूसो ही था। जब उसने बलपूर्वक यह कहा कि शिक्षा बच्चे की प्रकृति से मेल खानी चाहिए, तब उसने स्पष्ट कर दिया कि शिक्षक को उसकी प्रकृति का ज्ञान होना चाहिए; और इस महत्त्वपूर्ण समस्या को सुनिश्चित रूप से पेश करने के कारण वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक आंदोलन का एक पथ-प्रदर्शक था। यह सच है कि उससे पहले टामस फुलर हो चुका था जिसने अच्छा अध्यापक उसे बताया है, जो "अपने छात्रों की प्रकृति का उतनी ही सावधानी से अध्ययन करता है जितनी सावधानी से वे अपनी पुस्तकों का करते हैं।" पर फ्रेंच दार्शनिक के प्रबल पक्षपोषण ने ही अब बच्चे की प्रकृति की उपेक्षा करना असंभव बना दिया। उसके परवर्तियों, पेस्टालोजी, हरबार्ट और फ्रोबेल, ने विभिन्न तरीकों से उसकी कल्पना को मूर्त्तरूप देने का यत्न किया और उनके जमाने से मनोवैज्ञानिक आंदोलन दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से आगे बढ़ गया है। अभी इस आंदोलन की गति क्षीण नहीं हुई क्योंकि आज भी हम बच्चे की सही प्रकृति का पता लगाने का और रूसो के इस कथन के ध्वनितार्थों को समझने का यत्न कर रहे हैं कि वह प्रकृति ही शिक्षण के प्रक्रम में मुख्य उपादान है।

इस प्रकार, मनोवैज्ञानिक आंदोलन, जो शिक्षा-संबंधी प्रकृतिवाद का मूल

आधार है, काफी देर से चला आता है, और आज तो इसका विस्तार अंतहीन हो गया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, बच्चे की प्रकृति को जानने की इच्छा से स्वयं बच्चे का सीधा अध्ययन होने लगा और उसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरोत्तर ज्ञान-भण्डार बढ़ता गया जिससे शिक्षक लाभ उठा सकता है। यह ज्ञान शिक्षा-मनोविज्ञान संबंधी अनेक पुस्तकों में संगृहीत है। यहाँ हम उसके कुछेक पहलुओं की चर्चा कर सकते हैं। मैकडागल का मनोविज्ञान जन्मजात अभिरुचियों और आचरण के प्रेरक भावों पर बल देता था। वह यह बताता था कि ये किस तरह स्थायी भावों (Sentiments) या बड़े पैमाने के प्रेरक भावों (Motives) में संगठित हो जाते हैं और फिर ये किस तरह आत्मनिष्ठ स्थायी भाव (Self-regarding sentiments), चरित्र (Character) और इच्छा के रूप में मिलकर एक हो जाते हैं। यह उन शिक्षकों के लिए बड़ा उपयोगी विचार सिद्ध हुआ है जो अपनी कला का अध्ययन करते हैं और बच्चे को सीखने के लिए प्रेरित करने तथा चरित्र का निर्माण करने की अपनी कला में सुधार करना चाहते हैं। थोर्नडाइक तथा अन्य लोगों ने शिक्षण का जो प्रत्यक्ष अध्ययन किया, उसे हस्त-कौशल और मानसिक कौशल के अध्यापन पर सफलता से लागू किया जाता है। बच्चे के सोचने और तर्क करने तथा उसके कल्पना-चित्र बनाने की रीतियों का अध्ययन काफी आगे बढ़ा है और छोटे बच्चों को पढ़ाने पर इसका बड़ा असर पड़ा है। परिवर्धन के अध्ययन से यह तथ्य सामने आया है कि अपनी वृद्धि की उत्तरोत्तर अवस्थाओं में बालक बहुत भिन्न वस्तु होता है। इसका परिणाम यह ही नहीं हुआ कि अध्ययन के विषय बालक की बढ़ती हुई अभिरुचियों के अनुसार रखे जाएं या किसी एक विषय के अध्यापन में उपयुक्त क्रमिक अवस्थाएं बना दी जाएं, बल्कि यह भी हुआ है कि हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली ऐसे रूप में पुनर्गठित हो गई कि वह क्रमशः आरंभिक, बाल्यकाल, कुमारावस्था और किशोरावस्था की आवश्यकताएं पूरी कर सकें। बुद्धि (Intelligence) संबंधी गवेषणाओं ने हम सबको यह निश्चय करा दिया है कि बुद्धि संबंधी क्षमता में इतने बड़े अंतर होते हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और यह आशा करना कि सब बच्चे इस दृष्टि से समान होंगे या एकसी कठिनाई के कार्य कर सकेंगे, मूर्खता है। अब स्वभाव और भावना के प्ररूपों (Temperamental and Emo-

tional Types) के दुरूह प्रश्न पर गवेषणाएं आरंभ की गई हैं, जिनके परिणामों की बहुत से शिक्षा-शास्त्री बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मनोविश्लेषण या मनोगाहन (Psycho-analysis) अर्थात् अचेतन या सुषुप्त चेतन का मनोविज्ञान आज के शिक्षा संबंधी प्रकृतिवाद से विशेष रूप से निकट संबंध रखता है। इस विचारधारा के मनोवैज्ञानिक मनुष्यों और समाजों को कष्ट देने वाले चेतना रोगों (Neuroses) और उनके परिणामस्वरूप होने वाली निष्फलता को उन अप्राकृतिक और दमनकारी प्रभावों का परिणाम मानते हैं जो आरंभिक जीवन में, विशेष रूप से यौन विषयों (Sex matters) में, कार्य करते रहे हैं। फ्रायड के विचार शिक्षा के क्षेत्र में और इससे बाहर युद्धोत्तर काल के प्रकृतिवादियों को ईश्वर के वरदान की तरह थे। यह माना जाता था कि उसके विचारों ने अबाधित आत्म-अभिव्यक्ति और संयम से पूर्ण मुक्ति के उनके पक्ष की सबलता सिद्ध कर दी है। शिक्षा में मनोविश्लेषण को लागू करने के विषय में धड़ाधड़ पुस्तकें निकलीं और बिकीं। मनोविश्लेषण को महत्त्वपूर्ण मानने वाली शिक्षा-पद्धतियों का लक्ष्य यह था कि इच्छाओं के दमन और उसके परिणामस्वरूप होने वाले अचेतन संघर्ष और चेतना रोगों की अवस्था को न पैदा होने दिया जाए और इस तरह स्वतंत्र प्राकृतिक परिवर्धन हो सके। यद्यपि इस विषय पर बहुत सी अतिरंजित बातें और एकांगी विचार पेश किए गये हैं, पर कुल मिलाकर शिक्षा के क्षेत्र में यह आन्दोलन एक स्वस्थ आन्दोलन रहा है। इसने यौन विषयों और अधिकार या सत्ता के प्रति उचित प्रवृत्ति को पुष्ट किया है। इसने शिक्षकों और अनुचित कृत्रिम लज्जाशीलता, धमकाने की विधियों, शारीरिक दण्ड के, कहने का मतलब यह है कि बालक की ऊर्जाओं को दबा कर रखने के किसी भी तरीके के, खतरों की चेतावनी दे दी है। इसने बालकपन और किशोरावस्था में अनुचित आचरण को समझने और उसका इलाज करने में जो सहायता दी है और इस अनुचित आचरण के कारणों को दूर रखने का जो प्रबल प्रयास किया है, वह शायद इसकी सबसे मूल्यवान् देन है।

प्रकृतिवादी शिक्षा की वास्तविक विधियों के सिलसिले में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि ये विधियाँ वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव पर बड़ा बल देती हैं। प्रकृतिवादी रूसो के इस सूत्र को गम्भीरता से मानते हैं : "अपने छात्र को कोई

शाब्दिक शिक्षा न दो; उसे सिर्फ अनुभव से सीखने दो।" यथार्थवाद का दर्शन शाब्दिक पढ़ाई के बजाए वास्तविक वस्तुओं के साथ संपर्क की इस प्रकृतिवादी प्रवृत्ति का समर्थक है। यह नारा "कि शब्द नहीं बल्कि वस्तुएँ चाहिएँ" सावधानी से जांचने योग्य है, पर इसमें यह गुण है कि यह अध्यापकों को उनकी शब्द सिखाने को रूढ़ प्रवृत्ति के विरुद्ध चेतावनी देता है और उन्हें यह स्मरण कराता है कि यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि उनके छात्रों का शब्दकोष वास्तविक अनुभव के ठोस आधार पर बना हो। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, विज्ञान पुस्तकों से या बोर्ड पर तस्वीरें बना कर ही न पढ़ा देना चाहिए। छात्र को इसकी शिक्षा प्रयोगशाला में स्वयं कार्य करके, और जहाँ सम्भव हो वहाँ प्राकृतिक घटनाओं का स्कूल से सर्वथा बाहर प्रत्यक्ष अध्ययन करके प्राप्त करनी चाहिए। ज्यामिति (Geometry) पुस्तकों में युक्तियों और निर्मेयों (Problems) द्वारा नहीं पढ़ानी चाहिए, चाहे वे कितने भी विशद रूप से स्पष्ट किए गए हों। इसकी शिक्षा तभी सार्थक होगी जब खेलने के मैदानों या स्कूल के मैदान का सर्वेक्षण (Survey) कराया जाए, स्कूल की ऊँचाई नपवाई जाए, नदी की चौड़ाई निकलवाई जाए और क्षेत्रमित्ति (Mensuration) के अन्य क्रियात्मक अभ्यास कराये जाएं। स्काउट या बालचर आन्दोलन की विधियाँ पसन्द की जाती हैं और बालचर-ज्यामिति शब्द नया गढ़ा गया है। भूगोल यात्राओं द्वारा पढ़ाना चाहिए, पुस्तकों और नक्शों द्वारा नहीं। संक्षेप में, प्रकृतिवादी शिक्षक का यह विचार ठीक ही है कि शिक्षक के व्याख्यान की अपेक्षा बच्चे के सीखने के अनुभव पर अधिक बल दिया जाए।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें सामाजिक जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य शब्दों द्वारा सीखने के बजाए स्कूल को एक ऐसे स्वतंत्र प्राकृतिक समाज के रूप में संगठित करके सीखे जाते हैं जिसमें प्रत्येक के काम का स्वागत होता है और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी चीज में नेता और शेष चीजों में अनुयायी होना सीखता है। पुरानी सत्ता-प्रदर्शक विधियां खत्म कर दी गई हैं और जगह-जगह स्वशासन कायम हो गया है। पदाधिकारी स्वतंत्रतापूर्वक चुने जाते हैं और जहाँ तक अध्यापक का संबंध है, "वह अब निरंकुश राजा के बजाए अपने छोटे से गणराज्य में एक स्थायी राष्ट्रपति का कार्य करता है जिसे नागरिकता के कर्तव्य

और भी अधिक सावधानी और परिश्रम से निभाने चाहिएँ क्योंकि उसे अपने पद के कारण कुछ विशेष शक्तियां हासिल हैं"।

स्कूल के समाज को यथासंभव वास्तविक बनाने की दृष्टि से प्रकृतिवादी प्रायः सहशिक्षा का पक्षपोषण करते हैं। उनका यह कहना है कि लड़के और लड़की को अलग करना अप्राकृतिक है और इस तरह के अलगाव से लड़के और लड़की में एक-दूसरे के प्रति अप्राकृतिक प्रवृत्तियाँ पैदा हो जाती हैं। यह बड़ा उलझनदार सवाल है जिस पर दोनों पक्षों में सुनिश्चित विचार प्रकट किये गये हैं। एक ओर तो डिमोलिन का फ्रांसीसी विचार है कि फ्रांस में सह-शिक्षा न केवल भयंकर, बल्कि खतरनाक और अनैतिक सिद्ध हुई है, और दूसरी ओर अमेरिकन और स्काटिश शिक्षाविज्ञों का विचार है जो सह-शिक्षा को पूर्णतया उचित मानते हैं। इंग्लैंड में सह-शिक्षा के छात्रावास वाले स्कूलों में कुछ उल्लेखनीय परीक्षण हुए हैं, और वे प्रकृतिवादी आंदोलन के अनुसार ही हैं, क्योंकि यदि यह तर्क किया जाए कि बच्चों को अपने माता-पिता से दूर रखना अप्राकृतिक है तो इसका उत्तर यह है कि अच्छे छात्रावास बालकों के प्राकृतिक परिवर्धन के लिए घर से अधिक अच्छी अवस्थाएं प्राप्त कराने का यत्न करते हैं और उनका आदर्श सर्वोत्तम पारिवारिक और सामुदायिक जीवन होता है।

शिक्षा की प्रकृतिवादी विधियों के सिलसिले में खेलने के तरीके का उल्लेख बिना किये नहीं रहा जाता। इसका आधारभूत सिद्धांत यह है कि सारी शिक्षा खेल की भावना और विधि से दीजाए। खेल के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चा आजादी से खेलते समय ही अपनी प्रकृति को और अपने प्राकृतिक परिवर्धन के मार्गों को अधिक-से-अधिक खुल कर प्रकट करता है। खेल चाहे आदिकालीन मनुष्य के कार्यों का सूचक हो, या चाहे भविष्य के प्रौढ़ कार्यों का पूर्वाभ्यास हो, या सहज प्रवृत्तियों की ऊर्जा को विमुक्त करने का साधन हो, पर इस बात पर सब सहमत हैं कि यह प्रकृति की शिक्षा देने की रीति है। यह बात बालकपन के खेल के बारे में ही सच नहीं है। खेल बाद के जीवन में तुच्छ और समय बर्बाद करने वाला ही नहीं है, बल्कि मनुष्य अपना सारा सृजनात्मक काम सच्ची खेल की भावना से ही करता है। इस प्रकार खेल के तरीके के विविध रूप सृजनात्मक शिक्षा की प्रमुख सामान्य विधि हैं, और ये सारतः प्रकृतिवादी हैं। इसे ऐसी शिशु पाठशालाओं में भी पूरी तरह

प्रयोग में लाया गया है जिनके साथ मान्टीसेरी का आदरणीय नाम नहीं जुड़ा हुआ है। बालचर आन्दोलन, स्कूलों की यात्राएं और स्वशासन की सब योजनाएं इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। सच तो यह है कि इस सूत्र में शिक्षा की वे सब विधियां आजाती हैं जिनसे प्रसन्नतापूर्ण, स्वतःस्फूर्त सृजनात्मक कार्य की भावना का पोषण होता है और इसके क्रियात्मक उदाहरण अनंत हैं।

शिक्षा-विषयक सिद्धांत और प्रयोग में आधुनिक प्रकृतिवादी आंदोलन को ए० एस० नील ने **एडोमिनीज लौग** से लेकर **दैट ड्रेडफुल स्कूल** तक पुस्तकों की एक माला में स्पष्ट और सुनिर्दिष्ट रूप में प्रतिपादित किया है। पहली पुस्तक में उसने शिक्षा की प्रचलित विधियों का विरोध किया है और अब वह कहता है कि उस पुस्तक में सही रास्ता टटोलने की कोशिश की गई है। उसने लिखा था कि स्कूली पढ़ाई बिलकुल गलत है, पर उसे यह ज्ञात नहीं था कि उसे ठीक कैसे किया जाए। पिछली पुस्तक में उसने बताया है कि समरहिल स्कूल में उसने उसे कैसे ठीक किया। उस पुस्तक का सारांश यहाँ दे देना उचित होगा ताकि प्रयोग में प्रकृतिवाद की अपनी विशेषताएं स्पष्ट हो जाएं।

यह मान कर कि जीवन का लक्ष्य सुख है, नील ने समरहिल को संसार का सबसे सुखी स्कूल बनाने की कोशिश की है। यह छात्रावासयुक्त स्कूल है क्योंकि घर तो मुख्यतः प्रौढ़ों की दृष्टि से बनाया गया होता है, जबकि छात्रावास-युक्त स्कूल बच्चों के लिए बनाया गया है। लक्ष्य यह है कि स्कूल को बच्चे के अनुरूप बनाया जाए। आजादी जरूरी है, क्योंकि आजादी में ही बच्चा प्राकृतिक रीति से पनप सकता है। इस प्रकार सारे अनुशासन, हिदायतों, सुझावों, नैतिक प्रशिक्षण और धार्मिक शिक्षा को धता बता कर नील बच्चों को अपने निजी रूप में रहने की आजादी देता है। उसका यह दावा है कि समरहिल स्कूल के बच्चे स्वस्थ और आजाद बच्चे हैं जिनके जीवनों को भय और घृणा ने बिगाड़ नहीं डाला है, और कि उसका स्कूल, शायद डोरारसेल के स्कूल को छोड़ कर, आजादी में और सब स्कूलों से आगे है।

वह इस बात में पूर्ण विश्वास प्रकट करता है कि बच्चा स्वतः अच्छा होता है, बुरा नहीं। वह अच्छा पैदा होता है और जब भय और घृणा के सब अवसर खत्म कर दिये जाएं, तब वह अच्छा ही रहता है। सब प्रकृतिवादियों की तरह वह बच्चों के खेल को सर्वोपरि महत्त्व का समझता है। बाल्यकाल का

अर्थ है खेल का काल, और खेल का काल जितना लोग आमतौर से समझते हैं; उससे बड़ा होता है। इस प्रकार समरहिल में बच्चे चाहें तो सारे दिन खेलते हैं और उनका काम सृजन करना है। वह बच्चों पर बड़ों के पैमाने नहीं लागू करता, और सत्ता तथा नैतिकता को वह उनकी स्वतंत्रता को रोकने वाले सिपाही समझता है। बच्चे छोटे प्रौढ़ नहीं हैं बल्कि एक दूसरी ही स्पीशीज हैं। असल में महत्त्व की बात यह है कि वे क्या हैं, यह नहीं कि प्रौढ़ों की राय में वे क्या होने चाहिएं। उनकी अभिरुचियां तात्कालिक हैं और उनके लिए भविष्य का कोई अस्तित्व नहीं। उन्हें धर्म की शिक्षा न देनी चाहिए क्योंकि कोई भी बच्चा आजाद होने पर धार्मिक कृत्य नहीं करना चाहता और इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि पूजा या उपासना बच्चों में नैसर्गिक चीज है। बच्चों की मूल्य संबंधी धारणा प्रौढ़ों की धारणा से भिन्न होती है। इस प्रकार उन्हें 'ऊंची' रुचियों की ओर लेजाने का कोई यत्न नहीं किया जाता, चाहे 'ऊंची' शब्द का कोई भी अर्थ हो। बच्चे शास्त्रीय संगीत या शास्त्रीय पेंटिंग पसंद नहीं करते और यदि कोई स्कूल दीवारों पर सुन्दर प्राचीन पेंटिंग कराकर और कमरों में सुन्दर फर्नीचर रखकर उन्हें ऊंचा उठाने का यत्न करता है तो वह गलती कर रहा है। बच्चे असभ्य हैं और जब तक वे संस्कृति की मांग न करें, तब तक इन्हें अधिक-से-अधिक असभ्य वातावरण में ही रहना चाहिए।

इन आधारभूत बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षक को सदा बच्चों के साथ रहना चाहिए। उसे बच्चों को निषेधात्मक ढंग से, अर्थात् यह जानते हुए कि क्या नहीं करना, और प्रेम तथा अनुमोदन के विधेयात्मक ढंग से समझाना चाहिए क्योंकि इस प्रकार ही उनकी बातों में संजीदगी आ सकती है। बच्चों को प्यार करने और उनकी बातों का अनुमोदन करने के लिए आवश्यक है कि वह स्वयं कभी बच्चा रहा हो और बड़ा हो जाने तथा बचपन को भूल जाने की दुखदायी घटना से बचा रहे। उसमें परिहास-बुद्धि होनी चाहिए, अर्थात् बालकोचित परिहास की बुद्धि होनी चाहिए क्योंकि बच्चों में परिहास-बुद्धि के बजाए कौतुक-बुद्धि होती है। इस प्रकार, अपना बड़प्पन पूरी तरह छोड़कर उनसे किसी तरह के लिहाज की आशा न करते हुए शिक्षक को इस बात में संतुष्ट रहना चाहिए कि बच्चे उसे अपने बराबर का समझें और वह अपने लिए कुछ पाने के बजाए स्वयं अपने को सदा लुटाता रहे। नील कहता है कि उसका

अपना जीवन "एक दीर्घ अर्पण" का जीवन है और ऐसा ही होना चाहिए।

उसका यह कहना है कि बच्चों के मौलिक सद्गुण के विषय में मेरा विचार मेरे दीर्घ अनुभव से प्रमाणित हो गया है। जो कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे मूल्यवान् उपकरणों का दुरुपयोग और विनाश, उनका कारण यह है कि हम बच्चे से यह आशा करते हैं कि सम्पत्ति के विषय में वह प्रौढ़ों की तरह व्यवहार करे या कमजोरों को सताने और असामाजिक आचरण करने के मामलों का कारण यह है कि घर पर नासमझी के व्यवहार से बालक की प्रकृति विकृत हो जाती है। अत्यधिक नैतिक और अत्यधिक धार्मिक माता-पिताओं द्वारा यौन अभिरुचियों का अस्वस्थ दमन इस कठिनाई का मुख्य कारण माना जाता है। स्कूल में नील इस दमन से बचने की कोशिश करता है, और इसके लिए पूरी तरह स्पष्ट बातचीत का रास्ता अपनाता है। यौन प्रश्नों पर खुले तौर से चर्चा होती है और इसमें कोई नैतिक निषेध नहीं है। वह यौन विषयों को नैतिक समस्या नहीं मानता और नग्नता भी चलने देता है। लड़कों को खुले आम कसम खाने दिया जाता है क्योंकि वे कसम खाने को प्राकृतिक भाषा मानते हैं। समरहिल में कोई भी बात ऐसी नहीं जिसकी चर्चा न की जा सकती हो। यौन विषयों के प्रति स्वस्थ रवैय्या रखने पर बहुत बल देने का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सहशिक्षा का उत्साहपूर्वक समर्थन किया जाता है क्योंकि वही एकमात्र सम्भव शिक्षा है। खतरे की घंटी बजाने वाले लोगों को नील का यह उत्तर है कि यदि यौन विषयों में दबाई हुई, और इसलिए अस्वाभाविक, दिलचस्पी न हो तो अवांछनीय घटनाएँ होने का कोई डर नहीं है, और वह अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाता है कि इंग्लण्ड में किसी सहशिक्षा वाले स्कूल के हेडमास्टर को सम्भवतः इतनी कम चिन्ता न होगी जितनी उसे है। संक्षेप में, समरहिल में कहीं गुप्त बातों का स्थान नहीं है और बच्चे जीवन के प्रति वस्तुतः निर्मल रुख रखते हैं।

यौन विषयों के प्रति जो असंतोषजनक प्रवृत्तियाँ घर के व्यवहार के कारण पैदा हो जाती हैं उनके लिए 'प्राईवेट पाठ' दिये जाते हैं, जो मनोविश्लेषण के बजाय अनौपचारिक बातचीत होती है। इन पाठों का, जिन्हें नील अपना सबसे महत्त्वपूर्ण काम समझता है, उद्देश्य पारिवारिक स्थितियों से पैदा होने वाली कठिनाइयों को दूर करना, यौन विषयों सम्बन्धी निषेधों को हटाना तथा नैति-

कता और भय द्वारा पैदा किये गये सब कम्प्लेक्सों, अर्थात् भावग्रन्थियों, को खत्म कर देना है। वह उसे पुनः शिक्षण कहता है और उसे आवश्यक सफाई मानता है। वह अपनी बातचीत को वैषयिक (Objective) रखता है और विश्लेषण की कोई निश्चित विधि प्रयुक्त नहीं करता क्योंकि उसका यह विश्वास है कि बच्चे आजादी में रहकर अपने कम्प्लेक्सों को खत्म कर सकते हैं। बच्चे में चेतना रोग (Neurosis) का इलाज भावना को मुक्त कर देने मात्र से हो सकता है। इलाज करने वाले औषध, प्रेम, अनुमोदन और अपने प्रति सच्चा रहने की आजादी हैं। इलाज धीरे-धीरे होता है। आकस्मिक और एकाएक इलाज मनोविज्ञान की किताबों में ही होता है। बच्चे प्राइवेट पाठों का, जो सिर्फ भावना के प्रयोजन (Emotional Purposes) के लिए दिये जाते हैं, स्वागत करते हैं, और कभी-कभी उनकी माँग करते हैं। पर यदि बच्चे उसका विरोध करें तो वे नहीं दिये जाते।

समरहिल में शासन आवश्यक होता है। किसी को भी सामाजिक आजादी नहीं है, क्योंकि दूसरे के अधिकारों का आदर करना पड़ेगा। व्यष्टिगत आजादी हर किसी को होनी चाहिए। बालक सदा मनचाहा काम नहीं कर सकता क्योंकि वह चारों ओर अपने बनाये हुए कानूनों से घिरा है। उसे सिर्फ अपने को प्रभावित करने वाले मामलों में ही इच्छानुसार चलने की आजादी होती है। शासन यानी सरकार स्कूल के समाज को नियम में रखने के लिए होती है, पर यह स्वशासन होना चाहिए। बच्चों को अपने सामाजिक जीवन को विनियमित करने की पूर्ण आजादी अनुभव होनी चाहिए और ऊपर से उन्हें कोई हिदायतें न मिलनी चाहिएँ। शासन का कार्य मजिस्ट्रेट के न्यायालय के रूप में कार्य करना नहीं है बल्कि नियम बनाना और समुदाय की सामाजिक विशेषताओं पर विचार करना है। दूसरी बात यह है कि जो नियम बनाये जाते हैं वे आवश्यक सारभूत बातों के बारे में होते हैं, ऊपरी बातों के बारे में नहीं।

प्रत्येक सत्र के आरम्भ में पाँच व्यक्तियों की सरकार वोट द्वारा चुनी जाती है। ये पाँच बड़े छात्र होते हैं। शुरू में समुदाय के लोकप्रिय सदस्य ही आमतौर से चुने जाते हैं पर बाद में उनका स्थान शांत और समर्थ लड़के ले लेते हैं। उनका एक मुख्य कार्य यह है कि स्कूल से बाहर स्कूल के यश की रक्षा करें और वे एक तरह का मंत्रिमण्डल-सा बना लेते ह जो नियम-भंगों पर विचार करता है, जूरी की तरह फैसला देता है और दण्ड देता है। प्रत्येक शनिवार की

रात को एक बृहत्सभा होती है जिसका सभापति वही चुना जाता है; वह मंत्रि-मण्डल जो कभी भी बड़ों की सलाह नहीं लेता, इस बैठक में अपना फैसला सुनाता है और वह बैठक उस फैसले को पुष्ट, अस्वीकृत या संशोधित करती है। मंत्रि-मण्डल को असीमित शक्ति है यहाँ तक कि वह निकाल भी सकता है। नील बताता है कि यह उग्र कार्यवाही करने के लिए कभी नहीं कहा जाता, पर वह यह स्वीकार करता है कि स्कूल के नाम पर उसने स्वयं छात्रों को निकाला है। कभी-कभी उसने यह व्यवस्था की है कि लड़कों को निकालने से पहले उनके लिए समुचित स्थान की व्यवस्था कर दी जाए, पर निकाला तब ही गया है जब मनोवैज्ञानिक उपायों से उस लड़के को सुधारने का प्रबल प्रयत्न कर लिया गया। दूसरों को तंग करने और चोरी करने आदि के अपराधों पर प्रायः मंत्रिमण्डल और साप्ता-हिक बृहत्सभा कार्यवाही करती है। चोरी के लिए दण्ड प्रायः नहीं दिया जाता, पर मुआवज़ा सदा देना पड़ता है। बहुत से मामूली अपराधों की सज़ा स्वयं जुर्माना दे देना है। बच्चों की अपने निजी लोकतंत्र के प्रति निष्ठा हैरान करने वाली है। कोई अपराधी अपने शासनकर्त्ताओं के प्राधिकार को चुनौती या घृणा की दृष्टि से नहीं देखता और प्रायः सरकार का फैसला अपराधी और समुदाय दोनों द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है।

नील का यह स्पष्ट मत है कि स्वशासन शिक्षा के साधन की दृष्टि से अत्य-धिक मूल्यवान् है और कि एक साप्ताहिक बृहत्सभा एक सप्ताह की किताबी पढ़ाई से अधिक मूल्यवान् है। उसका यह विश्वास है कि यदि सब स्कूलों में वास्तविक स्वशासन हो—वह स्वशासन नहीं जिसमें लड़कों से अध्यापक गन्दा जासूसी का काम कराते हैं—तो आने वाली पीढ़ी के जीवन में सार्वजनिक नैतिकता का स्तर ऊँचा होगा और ऐसे मूल्यों का मान होगा जिनमें सारहीन बातों का स्थान नहीं है। यदि शिष्टाचार (Manners) का अर्थ नील के शब्दों में "दूसरों का ध्यान रखना, अथवा इससे भी आगे बढ़ कर, दूसरों की दृष्टि से अनुभव करना" है, और इस प्रकार उसमें सारहीन लोकाचार (Etiquette) नहीं है तो शिष्टाचार स्वशासन से स्वयं पैदा हो जाता है क्योंकि स्वशासन में आपको निरंतर दूसरे व्यक्ति का दृष्टिकोण देखने को मजबूर होना पड़ता है। नील, जो किसी प्रकार के शिष्टाचार की शिक्षा नहीं देता, यह मानता है कि उसके बच्चों में अच्छे शिष्टाचार इस कारण हैं कि बचपन स्वयं अच्छा होता है।

वह समझता है कि पढ़ाई का कोई महत्त्व नहीं। असली महत्त्व चरित्र का है और वह यह स्वीकार करता है कि उसे बच्चों के पढ़ने में कोई दिलचस्पी नहीं। वह और उसके साथी अध्यापक पढ़ाने की कोई नई विधि नहीं जानते, क्योंकि वे यह समझते हैं कि पढ़ाने का कोई विशेष महत्त्व नहीं और सब तरह की परीक्षाओं से तो उन्हें दिली नफरत है। किताबों का कोई भी महत्त्व नहीं। वे स्कूल का सबसे महत्त्वहीन उपकरण हैं और उनकी पढ़ाई को शिक्षा नहीं माना जा सकता, पर पुस्तकें कक्षा में पढ़ाई जाती हैं, यद्यपि उसमें आना अपनी इच्छा पर है। तथ्य तो यह है कि समरहिल में बहुत पढ़ाई होती है और सब कक्षाओं में बड़ा काम होता है, पर पढ़ाई को कला-कार्य, बर्तन बनाने, लकड़ी के काम और धातु के काम जैसे सृजनात्मक कार्यों से गौण स्थान दिया जाता है। कला और दस्तकारी के इन कामों में बच्चे जो चाहते हैं, वह बनाते हैं। पढ़ाई को बचपन के सामान्य खेल-कूद से भी गौण स्थान दिया जाता है। थियेटर यानी नाटक खेलने को सृजनात्मक कार्य का श्रेष्ठ माध्यम माना जाता है। अध्यापकों और छात्रों द्वारा लिखे गये नाटक खेले जाते हैं और शेक्सपियर के असली नाटकों की अपेक्षा उसके व्यंग और हंसी वाले हिस्से अधिक पसन्द किये जाते हैं। यह बताया गया है कि स्कूल में सृजनात्मक कार्य की दृष्टि से नाटक ने सबसे अधिक कार्य किया है।

प्रकृतिवादी के इस आदर्श उदाहरण को अपने सामने देखकर हम सारी स्थिति पर फिर विचार करें तो उससे लाभ ही होगा। अध्यात्मवादी को यह मानना होगा कि स्वस्थ प्रकृतिवादी शिक्षक को बहुत लम्बा रास्ता तय कराता है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि शिक्षा सम्बन्धी विधि में हाल में जो तरक्की हुई है, वह, बल्कि बाल-प्रवृत्ति के तथ्यों पर आधारित समुचित विधि का आदर्श ही प्रकृतिवाद से पैदा हुआ है। जब शिक्षा के उपायों और साधनों पर विचार किया जाता है तब यही दृष्टिकोण उचित प्रतीत होता है कि बच्चे की प्रवृत्ति का पता लगाया जाए और वह जैसी भी है वैसी ही से आगे बढ़ा जाए। पर अध्यात्मवादी यह कहेगा कि बच्चे को उसके अपने रूप में छोड़ना उचित नहीं। प्रकृतिवाद शिक्षा सम्बन्धी विधियों में तो संतोषजनक है पर शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों में वह सन्तोषकारक नहीं। प्रकृतिवाद में "स्वतः मूल्यवान् प्रत्येक वस्तु दुनिया से लुप्त हो जाती है········ उपयोगी और वह वस्तु जो जीवन के संघर्ष में जीवित प्राणियों की हितवृद्धि करती है, सबसे अधिक मूल्य-

वान् बन जाती है। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से तो यह है, जैसा कि आमतौर से कहा जाता है, कि कोई ऊँचे शिक्षा सम्बन्धी लक्ष्य हैं ही नहीं। प्रकृतिवादी लक्ष्य का चरम रूप यह है कि सिर्फ आत्म-अभिव्यक्ति होनी चाहिए और उसके मार्ग में कोई बाधा और रुकावट न होनी चाहिए, पर यदि मनुष्य का वर्तमान स्व-रूप (Self) सन्तोषजनक है तो स्कूल और शिक्षक व्यर्थ हैं। यह ठीक है कि प्रकृतिवाद के उस उग्र रूप को हम उपेक्षित कर सकते हैं जो शिक्षा की सारी अवधारणा का स्पष्ट निषेध है, क्योंकि सब समझदार प्रकृतिवादी रूसो का अनुकरण करते हुए शिक्षक की व्यवस्था करते हैं। पर तब भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा सम्बन्धी प्रकृतिवाद में मुख्य ध्यान वर्तमान का और निकट भविष्य का होता है। और किसी दूर के ध्येय पर दृष्टि नहीं होती—इस प्रक्रम का लक्ष्य अधिकतर वातावरण से समंजन ही होता है, परन्तु ऐसे प्राकृतिक मनुष्य से, जो शायद एक अर्थ में पूरी तरह परिवर्धित है पर अपनी बौद्धिक, कलात्मक और नैतिक शक्तियों का पूरी तरह विकास नहीं कर सका है, सन्तुष्ट नहीं हुआ जा सकता।

असल में सब चीज इस बात पर निर्भर है कि हम 'प्रकृति' का क्या अर्थ करते हैं। प्रकृतिवाद के जिस रूप पर हमने अब तक विचार किया है, वह प्रकृति का अर्थ बाह्य प्रकृति के बजाय मनुष्य की प्रकृति करता है, पर वह यह मानकर चलता है कि मनुष्य की प्रकृति वह है जो कुछ मात्रा तक पशुओं में भी है और कि वह उसकी निसर्गवृत्तियों, क्षुधाओं और आद्यभावों (Instincts Appetites and primitive emotions) की बनी होती है। इसलिए यह मनुष्य की आत्मिक प्रवृत्ति की पूरी तरह उपेक्षा न करे तो भी उसे गौण स्थान देती है। अधिक गहरा प्रकृतिवाद इस आत्मिक प्रकृति को एक सारभूत मानवीय गुण मानकर अपने विचार-क्षेत्र में ले सकता है, और इस प्रकार इस निन्दा से बच सकता है कि वह इसे जैविकीय दृष्टि से संगत न होने के कारण उपेक्षित करता है। वह यह स्थापना कर सकता है कि मनुष्य और उसके मूल्य प्रकृति के अंग हैं और मनुष्य की निम्न प्रकृति की तरह उच्च प्रकृति भी 'प्राकृतिक या नैसर्गिक है'। ऐसा प्रकृतिवाद अध्यात्मवाद के बहुत निकट होगा और दोनों को मिलाने में कोई कठिनाई न होगी। पर प्रकृतिवाद का जो रूप सामान्यतया माना जाता है, उसमें अध्यात्मवाद का पूरक और सही करने वाला

प्रभाव उस पर डालना आवश्यक है, और अधिक से अधिक पक्के प्रकृतिवादी शिक्षक, जानते हुए या न जानते हुए, ऐसा पूरक कार्य करते हैं। वे इस बात से सन्तुष्ट नहीं रहते कि बच्चा किसी भी तरह परिवर्धित होता रहे, और वे निश्चित रूप से एक लक्ष्य रखकर कार्य करते हैं, चाहे वह कितना ही धुँधला हो। शिक्षात्मक प्रयास के किसी सन्तोषजनक ध्येय के विषय में स्पष्ट दृष्टि अध्यात्मवाद से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए यदि हम इन बातों को ठीक पृष्ठ-भूमि में समझना चाहते हैं तो हमें अध्यात्मवादी अवधारणों पर विचार करना होगा।

अध्याय ५

शिक्षा में अध्यात्मवाद

(Idealism in Education)

हम देख चुके हैं कि दर्शन में अध्यात्मवाद के अनेक रूप हैं, कि यह कोई सुनिश्चित सिद्धांत या सैद्धांतिक उपपत्तियों का समूह होने के बजाए एक अभिवृत्ति (Attitude) और एक भावना (Spirit) है। दर्शन की तरह शिक्षा में भी अध्यात्मवाद के अनेक रूप हैं जो असल में शिक्षात्मक समस्याओं को हल करने के सामान्य तरीके हैं, न कि उन समस्याओं के कोई सीधे समाधान हैं। अब हम अध्यात्मवाद के कुछ पहलुओं पर पुनः विचार करेंगे, पर इस बार शिक्षा के दृष्टिकोण से विचार करेंगे, और हमारा उद्देश्य यह होगा कि हम शिक्षा के दार्शनिक आधार के रूप में इस का जो विस्तृत महत्त्व है, उसको मोटे तौर से समझ सकें, और प्रत्येक अच्छे शिक्षा सम्बन्धी प्रयास में इससे जो पथ-प्रदर्शन मिल सकता है, वह प्राप्त करें। अनेक दृष्टिकोणों से देखकर हम उस भावना को कुछ अंश में पकड़ने की आशा कर सकते हैं जो उन सब को अनुप्राणित करती है, और कुछ सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने की आशा कर सकते हैं। हम यह देखेंगे कि अध्यात्मवाद शिक्षा की विधियों की अपेक्षा उसके लक्ष्यों और उद्देश्यों में अधिक योगदान कर सकता है।

आध्यात्मिक बारीकियों को छोड़ते हुए और आवश्यक बातों की ओर ध्यान देते हुए हम शुरू में ही अध्यात्मवाद की इस आधारभूत प्रस्थापना का स्मरण कर सकते हैं कि मानसिक या आत्मिक अंश भौतिक अंश की अपेक्षा अधिक वास्तविक या कम से कम अधिक महत्त्वपूर्ण है; कि जिन दो संसारों से हमारा व्यवहार होता है, अर्थात् भौतिक संसार और अनुभव का संसार, उनमें से अनुभव का संसार भौतिक संसार की अपेक्षा अंतिम सत्य से अधिक मेल खाता है, कि

स्वयं वास्तविकता की प्रकृति भी आत्मिक है, भौतिक नहीं। शिक्षा की दृष्टि से इससे यह अर्थ निकलता है—जिसमें शिक्षा-क्षेत्र के सब अध्यात्मवादी विश्वास रखते थे—कि अंततोगत्वा मानव-शास्त्र (Humanities), अर्थात् वे शास्त्र जो स्वयं मनुष्य के विषय में हैं, भौतिक विज्ञान के अध्ययन की अपेक्षा, शिक्षा के साधन के रूप में अधिक मौलिक महत्त्व के हैं, मन के कार्य, मानव के वे पहलू जिन्हें हम संस्कृति, कला, नैतिकता और धर्म का नाम देते हैं, अपनी प्रकृति के कारण हमें वस्तुओं की गहराई तक जितनी अच्छी तरह पहुँचा सकते हैं, उतनी अच्छी तरह वैषयिक तथ्य (Objective Fact) का अध्ययन नहीं पहुँचा सकता। निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि मानवीय और वैषयिक अध्ययनों में कोई सुनिर्दिश्ट प्रभेद नहीं है और कि दोनों में जो अंतर है, वह प्रकार का अंतर न होकर मात्रा का अंतर है क्योंकि वैज्ञानिक अध्ययन स्वयं मनुष्य के मनका एक महत्वपूर्ण कार्य है; दूसरे, जैसा कि हम देख चुके हैं, बाह्य प्रकृति का गहराई में वैषयिक अध्ययन कुछ लोगों को वास्तविकता के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी सिद्धांत पर और संसार को मन की एक विराट मूर्त्ति मानने पर पहुँचा सकता है। यह कैसी मनोरंजक बात है कि सर जेम्स जीन्स को विश्व के संचालन में शुद्ध गणित (Pure Mathematics) या शुद्ध विचार-समूह दिखायी देता है जो सुनिश्चित रूप से मन की सृष्टि है, पर वैषयिक वैज्ञानिक सामान्यतः अपने-आप तस्वीर से अलग रहता है और उसके परिणाम स्वयं अनुभव के बारे में न होकर अनुभव के आधार अर्थात् पदार्थ के बारे में होते हैं।

यदि अनुभव जगत् बाह्य प्रकृति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और अधिक आधारभूत रूप से वास्तविक है तो अनुभवकर्त्ता मनुष्य स्वयं और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि सुकरात ने बहुत पहले समझ लिया था। एक और प्राचीन अध्यात्मवादी ने आकाश, चन्द्रमा और तारों के विचार से विमुख होकर मनुष्य की प्रकृति की जाँच शुरू की थी और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि मनुष्य "फरिश्तों से कुछ नीचे" है और "गौरव और प्रतिष्ठा से अभिषिक्त" है, तथा उसका परमात्मा की अन्य सब रचनाओं पर अधिकार है। अध्यात्मवादी विचार का असली तत्त्व यही है कि वह मनुष्य की गरिमा (Dignity) और उसकी प्रकृति की विशिष्टिता पर बल देता है।

रोडिन की प्रसिद्ध मूर्त्ति **ल पेंस्यू** (Lepenseur) में यह भाव बड़े प्रभा-

वोत्पादक रूप में मूर्त्तिमान हुआ है कि मनुष्य का, जो मननशक्ति से युक्त है, संसार में अद्वितीय स्थान है, और कि वह पशु जगत के उच्चतम प्राणी से भिन्न वर्ग में है। यह अध्यात्मवादी विश्वास विकास के तथ्य का खण्डन नहीं करता, पर यह इस बात को ध्वनित करता है कि मनुष्य का यह जैविकीय वर्णन, कि वह उच्चतम प्राणी है, अपर्याप्त और अधूरा है। जो अध्यात्मवादी विकास के सिद्धांत को मानते हैं, उनका यह कहना है कि असली महत्त्व की बात यह है कि विकासात्मक प्रक्रम का अंतिम ध्येय क्या है; उसका आरम्भ-बिन्दु या उसके परिवर्द्धन की क्रमावस्थाएं महत्त्व की चीज नहीं। आकस्मिक विकास (Emergent Evolution) का विचार इस स्थापना से संगत हो जाता है क्योंकि इसका अर्थ यह है कि उच्चतर धरातलों पर पहुँचने पर कुछ ऐसी चीज निकल आती है जो पहले नहीं थी। क्रमशः या शायद अकस्मात् मूल्यों के नए वर्ग आ जाते हैं। हो सकता है कि विकास का सारा प्रक्रम यह ही हो कि उन अंतिम मूल्यों के साक्षात्कार के अधिकाधिक निकट पहुँचा जाए जो जगत की गहराई में विद्यमान हैं। स्वर्ग के बाग की पुरानी कहानी को इस नए रूप में समझा जा सकता है कि इसमें मनुष्य का निर्मल श्रेष्ठता की अवस्था से गिरना दिखाया गया है। इस कहानी के कुछ अंश का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इसमें आलंकारिक रूप में मनुष्य के ऊंचा उठने के बारे में यह विचार वर्णित किया गया है कि सृष्टि के क्रम में मनुष्य किसी समय और किसी प्रकार एक नए धरातल पर पहुंच गया होगा और इस तरह देवताओं की तरह अच्छाई और बुराई को जानने वाला नैतिक प्राणी बन गया होगा। मनुष्य में आत्मिक प्रकृति पैदा हो गई जिससे वह नैतिक मूल्यों को समझने लगा। इन मूल्यों का पूर्ण साक्षात्कार ही विकास का अंतिम ध्येय है; किसी वातावरण से पूर्ण अनुकूलन विकास का ध्येय नहीं है, पर हां, यदि अध्यात्मवादी के नाते हम मनुष्य का सच्चा वातावरण इस मूल्यों के जगत को ही समझें तो वातावरण से पूर्ण अनुकूलन को विकास का अंतिम ध्येय कहा जा सकता है।

तो, मनुष्य के पशुपूर्वजों के कारण मनुष्य का प्रकृतिवादी विवरण उसका एक छोटा-सा अंशमात्र है। उसके पशु उद्गम के रूप में उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि असल में मनुष्य आत्मा है, पशुत्व नहीं, और आत्मा में ही हम वास्तविक तत्व प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं, पशुत्व में नहीं।

मनुष्य की आत्मिक प्रकृति कोई ऐसी चीज नहीं है जो मनुष्य के साथ जोड़ दी गई हो। वह तो मनुष्य के मनुष्यत्व का सारतत्व है।

इस प्रकार अध्यात्मवाद मानव जीवन के सर्वोत्तम रूप की भव्यता और बहुमूल्यता पर बल देता है। मानव व्यक्तित्व सबसे अधिक मूल्यवान् चीज है और वह ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना है। इस तरह के विचार से हम शिक्षा के अध्यात्मवादी लक्ष्य पर पहुँचते हैं और वह लक्ष्य है व्यक्तित्व को ऊंचा उठाना या आत्म-साक्षात्कार (Self-realisation) अर्थात् आत्मा के उच्चतम सामर्थ्यों को वस्तुतः मूर्त्तिमान् कर देना। सच तो यह है कि कुछ प्लेटो के अनुयायी अध्यात्मवादी यह मानते हैं कि वस्तुओं की प्रकृति में प्रत्येक व्यष्टि का एक परिपूर्ण आदर्श (Perfect Pattern) रहता है, जो नन (Nunn) के शब्दों में, उसका व्यष्टित्व (Individuality) है, पर वह जैविकीय अर्थ में व्यष्टित्व नहीं, और कि शिक्षा का मुख्य कार्य यही है कि प्रत्येक व्यष्टिगत जीवन में उस परिपूर्ण आदर्श का साक्षात्कार करने की परिस्थितियां बनाए। लक्ष्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उच्चतम और सत्यतम रूप में आ सके। दूसरी बात यह है कि यदि मानव व्यक्तित्व का पूर्ण साक्षात्कार सबसे अधिक महत्त्व की चीज है तो इसका यह मतलब होता है कि शिक्षण सम्बन्धी ध्येय सब के लिए आत्म-साक्षात्कार होना चाहिए, न कि सिर्फ थोड़े से चुनींदा लोगों के लिए। तो, अध्यात्मवादी सिद्धांत का यह रूप आम शिक्षा के लिए एक दार्शनिक घोषणा-पत्र बन जाता है।

दि फिलासाफिकल बेसिज आफ एडूकेशन में रस्क के गहरे विचारों का अध्ययन करने से भी हम ऐसे ही निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। यह देखते हुए कि "हाल में मनुष्य की दिलचस्पी अपनी निजी योग्यता से हटकर अपने वातावरण पर हो गयी है", वह उस वातावरण का दो तरह से विश्लेषण करता है, अर्थात् (क) साम्पत्तिक या भौतिक और (ख) सांस्कृतिक या मानसिक, और इन वातावरणों के प्रति अपनी और पशुओं की अभिवृत्ति की तुलना करके मनुष्य की प्रकृति की विशेषता सामने लाता है।

पशुओं को, जैसा भी भौतिक वातावरण हो, उसे मानना पड़ता है। उनमें इसे बदलने की प्रायः जरा भी शक्ति नहीं है और वे या तो अपने आप को इसके अनुकूल बनाएं या नष्ट हो जाएं। पर मनुष्य ऐसा लाचार नहीं है कि

उसे भौतिक वातावरण को अपरिवर्त्तनीय मानना पड़े। अपनी सूझ-बूझ और कार्य-कौशल से वह उस वातावरण को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बना लेता है, अपने हृदय की इच्छानुसार ढाल लेता है, और संक्षेप में कहें तो वह एक कलारचित भौतिक वातावरण का सृजन कर लेता है। इस प्रकार वातावरण से अनुकूलन का प्रकृतिवादी लक्ष्य असंतोषजनक और अधूरा मालूम होता है। वही शिक्षा शिक्षा कहला सकती है जो कम-से-कम मनुष्य की उन सूझ-बूझ की शक्तियों को बढ़ावा दें जिनसे वह अपने सामने प्रस्तुत वस्तुओं का अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग कर सके। इसका न्यूनतम लक्ष्य यह होना चाहिए कि उसकी एक उपयुक्त कलारचित वातावरण सर्जित करने की शक्ति बढ़े।

इसके जबाब में जीव-शास्त्री (Biologist) पशु-पक्षियों की आविष्कार-बुद्धि के वे उदाहरण दे सकता है जिनमें दी हुई वस्तुओं से कलारचित वातावरणों का सृजन किया गया, जैसे पक्षियों के घोंसले, ऊदबिलावों (Beaver) के बांध, अर्थात् नदी नालों में बनाए हुए घर। पर उसे यह मानना होगा कि मनुष्य का भौतिक वातावरण के प्रति जो रुख है, वह प्रकार में (In kind) पशु-पक्षियों के रवैये से सर्वथा भिन्न न होते हुए भी, मात्रा की दृष्टि से बहुत अधिक भिन्न होता है। पर सांस्कृतिक वातावरण के सम्बन्ध में दोनों में और भी अधिक गहरा अन्तर है क्योंकि उसमें पशु-पक्षियों का कोई हिस्सा नहीं है। "यह आत्मिक या सांस्कृतिक वातावरण मनुष्य का अपना बनाया हुआ है। यह मनुष्य के सृजनात्मक क्रिया-कलाप का परिणाम है"। धर्म, नैतिकता, कला, साहित्य, गणित और विज्ञान युग-युगान्तर से चले आते हुए मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्यपरक क्रिया-कलाप का परिणाम हैं। ये सच्चे अर्थों में मानव-सम्बन्धी शास्त्र हैं। संस्कृति की वृद्धि धीरे-धीरे हुई है और इसमें सब युगों के अनेक मानसों का योगदान रहा है। यह मनुष्य जाति को मिलाकर एक करती है और उसके संगठन को बढ़ाती है और इसमें दूसरों के हिस्सा लेने से यह बढ़ती है। इसलिए यह सांस्कृतिक वातावरण मनुष्य जाति की साँझी थाती है जो खासतौर से उसकी अपनी चीज है। मानव प्रकृति ही इसे जानती है, प्रकृति नहीं।

मनुष्य को सच्चे और विशिष्ट अर्थों में मानव होने के लिए अपनी इस थाती को ग्रहण करना चाहिए। वह सांझी संस्कृति उसे अपने लिए पुनः प्राप्त और

पुनः सर्जित करनी चाहिए और यदि हो सके तो सांझे भंडार में कुछ देना भी चाहिए। शिक्षा प्रत्येक व्यष्टि और प्रत्येक पीढ़ी को ऐसा करने में सहायता देने वाली होनी चाहिए और क्योंकि मनुष्य जाति की इस विशिष्ट थाती में हिस्सा लेने की कोशिश करने पर व्यष्टि अपने मनुष्य रूप को अधिकतम निखारता है, इसलिए हम फिर इसी बात पर आ जाते हैं कि शिक्षण का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है—इस बार आत्मसाक्षात्कार का अर्थ हमारे लिए और भी अधिक विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार युग-युगान्तर से चले आते हुए मानव कुटुम्ब के एक सदस्य के नाते अपने सामर्थ्यों को पहचान कर मनुष्य ने एक ऐसी अमूल्य सम्पत्ति हासिल कर ली है जिससे उसे वंचित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं है। उसने ऐसी चीज उपलब्ध की है जो अनश्वर है।

पर, क्योंकि सांझी संस्कृति को अपने अन्दर सफलतापूर्वक ग्रहण करके मनुष्य न केवल इसमें कुछ योगदान कर सकता है, बल्कि इसके लिए उसे विशेष प्रेरणा मिलती है, इसलिए यह स्पष्ट है कि एक पीढ़ी में शिक्षा को जितनी अधिक सफलता मिलेगी, अगली पीढ़ी में, उसका काम उतना ही बढ़ जाएगा। ज्यों-ज्यों संस्कृति का समुच्चय बढ़ता है, त्यों-त्यों इसे अगली पीढ़ी को देने और इसकी और वृद्धि के लिए अनुकूल अवस्थाएँ बनाने का शिक्षा का कार्य अधिकाधिक जटिल होता जाता है। उसे अच्छी तरह समझने के लिए किसी मध्ययुगीय विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम की, जिसकी सातों विद्याएँ मनुष्य अच्छी तरह ग्रहण कर सकता था, आधुनिक विश्वविद्यालय के विस्तृत संस्कृति भण्डार से तुलना कीजिए, जिसमें से अधिक-से-अधिक योग्य और तत्पर विद्यार्थी भी कुछ ही विषयों का अध्ययन कर सकता है। जैसा कि रस्क ने लिखा है, "विद्या की यह बढ़ती हुई सम्पत्ति अगली पीढ़ी को अच्छी तरह पहुँचा सकने के लिए अधिक दक्ष और कम-खर्च विधियां अपनानी होंगी।" पर अधिक-से-अधिक दक्ष और कम-खर्च विधियां अपनाने पर भी आजकल हम सारे ज्ञान के पण्डित होने की आशा नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि साँझी संस्कृति के संरक्षण और वृद्धि के काम में 'श्रम का विभाजन' आवश्यक है।

क्या मनुष्य जाति अपने सांस्कृतिक वातावरण का सचमुच सृजन करती है, या वह ऐसे प्रदेश में प्रवेश मात्र करती है जो नित्य और शाश्वत है? उदाहरण के लिए, क्या मनुष्य सुन्दर वस्तु का सृजन करता है, अथवा वह इसे प्राप्त करता

है ? जो लोग प्लेटो के जड़ अध्यात्मवाद को स्वीकार करते हैं, वे पिछला दृष्टिकोण रखते हैं और यह मानते हैं कि मूल्य और विचार पहले से हैं और उन्हें प्राप्त किया जाता है।[1] जो लोग अधिक गतिशील और व्यवहारवादी दृष्टिकोण रखते हैं, वे यह मानेंगे कि उन्हें मनुष्य स्वयं उत्पन्न कर रहा है। यह एक आध्यात्मिक प्रश्न है कि मनुष्य अपने नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्यपरक कार्यों द्वारा वास्तविकता के उपादान में कोई विधेयात्मक बृद्धि कर रहा है, अथवा वह उस चीज में, जो पहले से सदा से वहाँ मौजूद है, अधिकाधिक गहरा ही जा रहा है, और इस प्रश्न के उत्तर का हमारे शिक्षण-सम्बन्धी निष्कर्षों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता प्रतीत होता। यदि प्लेटोवादी विचार सही है तो शिक्षा से मनुष्य जाति उसकी संस्कृति के जरिये अधिकाधिक पूर्ण रूप में आत्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो सकनी चाहिए। यदि गतिशीलता वाला विचार सही है तो शिक्षा का कार्य है आत्मिक क्षेत्र के विस्तार को बढ़ाना। दोनों ही अवस्थाओं में मानव संस्कृति का सांझा भण्डार लगातार बढ़ रहा है।

एडम्स ने शिक्षा के अध्यात्मवादी अवधारण पर विश्व की युक्तियुक्तता के दृष्टिकोण से विचार किया है। हमने अभी देखा कि इस युक्तियुक्तता को मानना अध्यात्मवाद का एक महत्वपूर्ण उसूल है, अर्थात् यदि वस्तुएँ किसी मन द्वारा संचालित हो रही हैं, यदि विश्व किसी अर्थ में एक विचार-प्रक्रम है, तो वह विश्व, जिसमें मनुष्य भी आ जाता है, अवश्य युक्तियुक्त होना चाहिए। विश्व अवश्य एक व्यवस्था (Cosmos) है, अव्यवस्था (Chaos) नहीं। वस्तुएँ अपनी प्रकृति से ही युक्तिसंगत और बुद्धिसंगत होनी चाहिए।

निस्संदेह वैज्ञानिक यह मानकर चलते हैं कि भौतिक विश्व में यही अवस्था है, और वे निरन्तर जो नियम खोज रहे हैं, उनसे उनका यह मानना अच्छी तरह

---

१. उदाहरण के लिए, गणित सम्बन्धी विचार। "मेरा विश्वास है कि गणित सम्बन्धी वास्तविकता मनुष्य से बाहर जगत में विद्यमान है, कि हमारा काम उसे खोजना या प्रेक्षित करना (Observe) है, और कि हम जो साध्य (Theorems) सिद्ध करते हैं और जिन्हें हम बड़ी शान के साथ अपनी 'सृष्टि' बताते हैं, वे हमारे प्रेक्षणों के नोटमात्र हैं"—जी० एच० हार्डी, ए मैथिमैटिकल एपौलौजी, पृष्ठ ६३-६४

उचित सिद्ध हो जाता है, पर जब युक्तियुक्तता की मान्यता बाह्य प्रकृति से आगे नैतिक जगत् पर भी लागू की जाती है, तब वह अधिक कठिन हो जाती है। अध्यात्मवादी इसे सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि वह जगत् का हिस्सा होने के कारण इससे बाहर होकर इसे वैषयिक रीति से नहीं देख सकता। पर जैसे प्रकृति के एकरूप न होने पर विज्ञान व्यर्थ होता, वैसे ही नैतिक जगत के युक्तियुक्त न होने पर दर्शन व्यर्थ होगा। इसलिए अध्यात्मवादी आत्मिक जगत में अपनी नियम की खोज जारी रखता है।

ब्राउनिंग का यह कथन कि "ईश्वर अपने स्वर्ग में रहे—दुनिया में सब ठीक है", अध्यात्मवादी के पक्ष का ऐसा कथन है जो अपने-आप में बहुत से लोगों को अधिक हर्षपूर्ण और आशावादी प्रतीत होता है। इसी प्रकार लीबनिट्ज़ का यह कथन है कि दुनिया में जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है। इस विचार से पूरी तरह सहमत हो जाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि जो कुछ है, वह ठीक है। ईसा ने अपनी कठिनतम घड़ियों में जो शब्द कहे थे, उनमें युक्ति-युक्तता में अधिक गहरा विश्वास प्रकट होता है—"दुनियाँ में तुम्हें कठिनाइयाँ आएँगीं, पर उनमें प्रसन्न रहो। मैंने संसार को जीत लिया है।" इसमें हमें एक संकेत मिलता है। अध्यात्मवादियों को एकदम आशावादी न होना चाहिए। उन्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि संसार में अच्छाई के साथ बुराई भी है, पर वे मनुष्य के नैतिक मूल्यों को समझने की बुद्धि, उसकी अच्छाई को ग्रहण करने और बुराई से दूर रहने की योग्यता और दृढ़संकल्प पर बल देते हैं। वे दूरगामी दृष्टिकोण से देखते हुए सारे विश्व को युक्तियुक्तता की एक परिपूर्ण अवस्था की दिशा में संचालित होता हुआ पाते हैं। इस दृष्टिकोण से शिक्षा उस लक्ष्य की प्राप्ति में मनुष्य का सहायक प्रयत्न है।

मनुष्य स्वयं भी इस विश्व का हिस्सा है। महापिण्ड के भीतर एक सूक्ष्म पिण्ड है और उसकी प्रकृति अनिवार्यतः अपने भीतर एक युक्तियुक्त एकता की दिशा में यत्नशील होती है। एक जीवपिण्ड के रूप में वह "भिन्नता में एकता" प्रदर्शित करता है—उसके सब पृथक् हिस्से एक लक्ष्य की सिद्धि के लिए मिल कर कार्य करते हैं: वह सिर्फ वृद्धि (Grow) नहीं करता, परिवर्धन भी करता है (Develops)। प्रकृतिवाद बड़ी खुशी से इस कथन से सहमत हो जाएगा, पर परिवर्धन के ध्येय के बारे में यह अध्यात्मवाद से मतभेद रखता है। यदि किसी

जीव पिण्ड के परिवर्धन की यह परिभाषा की जाए कि यह एक ऐसे रूप में आने के लिए स्वतः-दिष्ट (Self-directed) यत्न है जिसके लिए इसमें अंतर्जात आवेग (Impulse) होता है, तो प्रकृतिवाद उस रूप को सिर्फ मुख्यतः शरीर और इसके कार्यों के रूप में सोचता है। पर अध्यात्मवाद सदा इस बात पर बल देता है कि अंतिम रूप में आत्मिक गुण होता है।

पर यदि किसी बालक में अपना उचित रूप हासिल करने और परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए अंतर्जात आवेग होता है, तो फिर शिक्षक की क्या जरूरत ? इस प्रश्न का भी प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद अलग-अलग जवाब देते हैं। हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवाद शिक्षक को संशय की दृष्टि से देखा करता है, और उसकी उपस्थिति को बराबरी के आधार पर ही सहन कर लेता है। "क्योंकि बालक स्वर्ग से आता है, इसलिए यह समझ लिया जाता है कि शिक्षक दूसरी जगह से आया है"। बालक का अपना असली गौरव शिक्षक के अच्छे आशय से किये गये हस्तक्षेप के कारण विलुप्त हो जाता है। पर अध्यात्मवाद शिक्षक को इतना प्रतिकूल नहीं मानता। एडम्स हमें यह याद दिलाता है कि शिक्षक स्वयं भी कभी बालक था; दूसरे शब्दों में, वह भी इस युक्तियुक्त विश्व में, एक इकाई था। शिक्षक और शिक्ष्यमाण दोनों अधिक विस्तृत जीवपिण्ड के हिस्से हैं; दोनों का संसार की समस्त योजना में अपना स्थान है और वे अपना-अपना कार्य पूरा कर रहे हैं। दोनों में संबंध यह है कि शिक्ष्यमाण के लिए शिक्षक वह विशेष वातावरणीय कारक है जिसका काम उसे वास्तविकता के अधिक निकट ले जाना, और यथासंभव अधिकतम परिपूर्णता की दिशा में मार्ग प्रदर्शित करना है।

शिक्षक का क्या कार्य है ? इस प्रश्न का अध्यात्मवाद की ओर से शायद स्पष्टतम उत्तर फ्रीबेल के किण्डरगार्टन वाले प्रसिद्ध रूपक में है। विद्यालय एक बाग है, शिक्ष्यमाण एक नाजुक पौधा है और शिक्षक सतर्क माली है। अब पौधा बिना किसी बाहरी सहायता के बढ़ेगा और अपने उचित रूप में आएगा, पर यह बात होते हुए भी कि प्रत्येक पौधा अपनी निजी प्रकृति के अनुसार परिवर्धित होगा—उदाहरण के लिए, यह असंभव है कि गोभी गुलाब के रूप में परिवर्धित हो जाए—माली का कुछ-न-कुछ स्थान रहता ही है। अच्छा माली अपनी कला द्वारा यह यत्न करता है कि उसकी गोभियां और गुलाब दोनों

उत्कृष्टतम रूप में विकसित हों। उसके प्रयत्नों के बिना पौधा जो रूप लेता, अब उससे अधिक उत्कृष्ट रूप लेता है। तो भी, पौधे की यह तो अपनी प्रकृति ही है कि वह उचित अवस्थाओं में वह रूप प्राप्त करे। प्रकृतिवादी किसी भी गुलाब से संतुष्ट हो सकते हैं, पर अध्यात्मवादी बढ़िया गुलाब चाहते हैं। इस प्रकार शिक्षक अपने प्रयत्नों से शिक्ष्यमाण को, जो अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार परिवर्धित हो रहा है, उस उच्चता पर पहुँचने में सहयोग देता है जिस पर वह वैसे न पहुंच सकता।

इस प्रकार, हम फिर इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आत्मसाक्षात्कार ही जीवन का ध्येय और शिक्षा का लक्ष्य है। एडम्स यह मानता है कि शिक्षा के अनेक आदर्शों में से आत्मसाक्षात्कार "एक ऐसा आदर्श है जो अध्यात्मवाद से विशेष रूप से संबंधित है"। अध्यात्मवादियों को इसके किसी-न-किसी रूप पर सहमत होना ही पड़ेगा। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि अध्यात्मवादी और प्रकृतिवादी लक्ष्यों में ठीक वही अंतर है, जो आत्मसाक्षात्कार (Self-realisation) और आत्म-अभिव्यक्ति (Self-expression) में है, और जो शिक्षा शास्त्री आत्म-अभिव्यक्ति के बजाय आत्मसाक्षात्कार का पक्ष लेता है, वह जानकर या अनजाने अध्यात्मवाद की श्रेणियों में आ जाता है। दूसरे, शिक्षक और शिक्ष्यमाण के संबंध पर विचार करने से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि शिक्षण के प्रक्रम में शिक्ष्यमाण की तरह शिक्षक भी अपनी खुद की मुक्ति का रास्ता बना रहा है, कि असल में दोनों ही एक-दूसरे के साथ परस्पर-क्रिया द्वारा आत्म-साक्षात्कार की ओर बढ़ रहे हैं।

पर रस्क ने सांझे सांस्कृतिक मूल्यों पर जो बल दिया है, वह हमें आत्म-साक्षात्कार के विषय में ऐसी कोई गलतफहमी होने से बचाए रखता है कि इसका अर्थ मनुष्य का सबसे अलग होकर या आत्मनिर्भर होकर रहना है। वह हमें स्मरण कराता है कि "मनुष्य की उच्चतर या आत्मिक प्रकृति सारतः सामाजिक है" और कि "सामाजिक प्रकृति मनुष्य की बुद्धिगत या आत्मिक प्रकृति—और इसीलिए विश्व-प्रकृति की अभिव्यक्ति है"। मनुष्य अपने पूरे सामर्थ्यों का साक्षात्कार मानव कुटुम्ब के एक सदस्य के रूप में ही, उन सांस्कृतिक मूल्यों में हिस्सा लेता हुआ और उन्हें बढ़ाता हुआ, जो सारी मनुष्य जाति की सांझी संपत्ति हैं, अपने पूरे सामर्थ्यों का साक्षात्कार कर सकता है। अध्या-

त्मवाद आत्मिक मूल्यों के यथार्थ अस्तित्व, उनकी नित्यता और उनकी विश्व-व्यापकता की पुष्टि करके शिक्षा के सामाजिक अवधारण को समृद्ध बनाता है और हमें इसे उचित महत्व देने के लिए प्रेरित करता है।

जब सुकरात ने, जो यह मानता था कि यदि सत्य सिद्ध करना है तो दो मनों का मतैक्य परमावश्यक है, अपनी सत्य की खोज में एक साथी की आवश्यकता बताई, तब वह अध्मात्मवाद की इस महान् धारणा से युक्त था कि जिस सत्य को हमें खोजना है, वह नित्य और अपरिवर्तनशील है, तथा काल और स्थान से निरपेक्ष है। एक ही सामग्री लेकर चलने वाले और सही ढंग से सोचने वाले विभिन्न मन एक ही निष्कर्ष पर पहुंचने चाहिए। दूसरी बात यह है कि एकसी अवस्थाओं में एक मन विभिन्न समयों पर एक ही निष्कर्ष पर पहुंचेगा, जैसाकि वैलमेन ने कहा था : "जो बात मैं आपसे तीन बार कहता हूं वह सत्य है"। यह मतैक्य स्वयं सत्य की सार्वत्रिकता (Universality) के कारण है। यही बात नैतिकता के बारे में है। सार्वत्रिक नैतिक सिद्धांत, अध्यात्मवादी विचार के अनुसार, वस्तुओं की अपनी प्रकृति में विद्यमान हैं। इसलिए उनका विभिन्न मानसों पर वही प्रभाव होना चाहिए; और इन मनों के लिए उनका अवबोधन या समझना सांझा आधार बन जाता है। जो कुछ ठीक है, वह सदा और हरएक के लिए ठीक है। कांट ने अपने इस सूत्र में नैतिक नियम की व्याप्ति की कसौटी सुझाई है : "इस प्रकार कार्य करो कि 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' वाला कथन सार्वत्रिक विधान के सिद्धांत के रूप में सदा ठीक सिद्ध हो"

हम देख चुके हैं कि प्लेटो-पंथी अध्यात्मवाद इस मान्यता का विस्तारमात्र है कि आत्मिक मूल्य नित्य और अपरिवर्तनशील हैं, कि वे ऐसे वास्तविक विचार या सारतत्व हैं; जिनमें सार्वत्रिक स्वरूप होता है, वे मिलकर शिवं (The Good) बनते हैं। जीवन का साध्य यह है कि सत्य को खोजकर और उसका ध्यान करके "असीम सत्ता से आंतरिक संबंध" स्थापित किया जाए, विश्व की आत्मा से सामंजस्य पैदा किया जाए : शिक्षा का काम यह है कि वह हमें अंतिम सार्वत्रिक या विश्वव्यापी मूल्यों की हमारी खोज में सहायता दे जिससे "विश्व का सत्य हमारा सत्य बन जाए और हमारे जीवन को शक्ति दे"। क्योंकि वह शिवं, जिसकी खोज में हम लगे हुए हैं, सार्वत्रिक स्वरूप वाला है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि इसकी खोज से परिवर्धित व्यक्तित्व बहुत कुछ एक से

होंगे, क्योंकि उनका अलग-अलग, विश्व की आत्मा से सामंजस्य है।"आत्मिक जीवन का परिवर्धन और अनुभव व्यष्टियों को भीतर से जोड़ देते हैं; व्यष्टियों के गंतव्य लक्ष्यों की अपनी विशिष्ट प्रकृति इस सांझे जीवन से बनती है"। इस प्रकार परिवर्धित व्यक्तित्व या अध्यात्मवाद का आत्मसाक्षात्कार मनुष्य जाति को पृथक् करने वाला तत्व नहीं है, बल्कि उसे एक बनाने वाला तत्व है। इस दृष्टिकोण से हम देखते हैं कि आत्म-साक्षात्कार के लिए होने वाली शिक्षा सामाजिक लक्ष्य की पूरी तरह प्राप्ति कराती है। शिक्षक अपने छात्र को "एक विशिष्ट और सर्वथा पृथक प्राणी" के बजाए एक ऐसा प्राणी मानकर "जिसमें एक नया और विश्वव्यापी जीवन प्रादुर्भूत हो रहा प्रतीत होता है", उसे सच्चे आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाने में सहायता दे सकता है।

अध्यात्मवाद जगत् की योजना में मूल्यों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है और यह मानता है कि मनुष्य में इन मूल्यों को समझने की आत्मिक क्षमता है। इस कारण वह मनोविज्ञान को मनुष्य का अधूरा अध्ययन, और शिक्षण संबंधी सिद्धांत का उतना ही अपर्याप्त आधार मानता है। वैज्ञानिक ज्ञान की श्रेणी में आने को उत्सुक आधुनिक मनोविज्ञान विज्ञान के वैषयिक या वस्तुपरक ढंग अपनाता है और आचरण के तथ्यों (Facts of Behaviour) और उनके कारणों का वैषयिक रीति से अध्ययन करता है। इसने कार्य और कारण का सिद्धांत अपना लिया है जो विज्ञान की प्रगति में इतना सफल रहा है, और नियतिवाद (Determinism) को अपना आधारतत्व बनाया है। हार्ट ने मनोवैज्ञानिक नियतिवाद का सिद्धांत इस रूप में रखा है :

"भौतिक जगत् की तरह मानसिक जगत् में मी प्रत्येक घटना का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। यदि आवश्यक पूर्ववर्ती कारण मौजूद हैं तो उनका परिणाम अनिवार्यतः होगा, और यदि हम परिणामों को देखते हैं तो हम यह जान जाते है कि यह कुछ सुनिश्चित कारणों के संयोग से ही पैदा हुए हैं। 'अकस्मात्' (Chance) का मनोविज्ञान में उसी तरह कोई स्थान नहीं है, जैसे भौतिक विज्ञान में। मनुष्य के मन में जो भी विचार आता है, चाहे वह कितना भी आकस्मिक या अप्रासंगिक प्रतीत होता हो, वह उसके आने से पहले हुए विविध मानसिक प्रक्रमों के परिणामस्वरूप ही पैदा हो सकता था। यदि मुझे यह कहा जाए कि कोई संख्या अपने मन में सोच लो तो

ऊपर से यह प्रतीत होता है कि मैं कौनसी संख्या सोचता हूँ, यह बात मेरे लिए कोई महत्व नहीं रखती, पर असल में वह संख्या उस क्षण की मानसिक अवस्था द्वारा सुनिश्चित और पक्के तौर से निश्चित या नियत है—अनिवार्यतः एक विशिष्ट संख्या ही मन में आवेगी। किसी और संख्या का आना सम्भव नहीं। शायद यह स्थिति पाठक को विकृत और अयथार्थ लगेगी, पर यदि इसे आरम्भिक स्वयंसिद्धि के रूप में न मान लिया जाए तो मनोविज्ञान नाम की चीज का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। हमारा अपना दार्शनिक विश्वास कुछ भी हो, पर जब तक हम मनोविज्ञान और विज्ञान की रीति से विचार कर रहे हैं, तब तक हमें कार्य-कारण के नियम के सब ध्वनितार्थों को मानना होगा।"

सब मनोवैज्ञानिक हार्ट की तरह स्पष्टता से अपनी यथार्थ स्थिति नहीं बताते, पर प्रायः वे सब आज आचरण को वैज्ञानिक अर्थ में व्याख्येय (Explicable) और पूर्वानुमेय (Predictable) मानते हैं, यद्यपि वे अब तक इस बात को परीक्षण द्वारा सिद्ध करने में सफल नहीं हुए। आचरण के अच्छे और बुरे रूप बराबर दिलचस्पी और महत्व के हैं। आचरण के नैतिक मूल्यांकन को इस अध्ययन से बाहर रखा गया है क्योंकि यह अध्ययन वस्तुपरक (Positive) माना जाता है, आदर्शी (Normative) नहीं।

शिक्षाशास्त्री सामान्यतया यह मानते हैं कि उनके अध्ययन का एक आदर्शी पहलू है, और कि उन्हें शिक्षा के लक्ष्यों और मूल्यों की खोज करते हुए मनोविज्ञान से आगे जाना होगा, पर शिक्षण सम्बन्धी मनोविज्ञान के लेखक प्रायः इतना कहकर सन्तोष कर लेते हैं और शिक्षा का मनोवैज्ञानिक वर्णन शुरू कर देते हैं, और मूल्यों का प्रश्न दूसरे लोगों के लिए छोड़ देते हैं। इसका परिणाम बहुधा बुरा होता है, क्योंकि लेखक के निजी दार्शनिक विचार कुछ भी हों, पर पाठक को सारे शिक्षण क्षेत्र की एक गलत तस्वीर दिखलायी देती है।

क्योंकि शिक्षण मनोविज्ञान मूल्यों, आदर्शों और प्रमापों (Standards) की पूर्ण उपेक्षा न करता हुआ भी उन्हें गौण स्थान देता है, इसलिए आजकल के मनोवैज्ञानिक प्रभाव से प्रभावित विद्यार्थी अपने सिद्धान्त और प्रयोग में उनकी उपेक्षा करने लगता है। दूसरी बात यह है कि मनोविज्ञान का नियतिवादी (Deterministic) दृष्टिकोण शुद्ध न किया जाए, तो उससे शिक्षा में नियतिवाद की प्रवृत्ति आ जाती है। उदाहरण के लिए, मानसिक जाँच के

परिणामों को अपने आप में देखा जाए तो उनसे शिक्षक इस निराशाजनक निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य की सफलता उसकी आनुवंशिक योग्यता के बिल्कुल अनुरूप ही होती है, कि अन्तिम परिणाम प्रकृति के अनुसार होता है, प्रयत्न के नहीं। मनोविज्ञान में निसर्गवृत्ति के सिद्धान्त (Instinct Doctrine) ने भी, जो बहुत पहले बनाया गया था और जो मनुष्य को पशु-पूर्वजों मे आए हुए नैसर्गिक बलों द्वारा प्रेरित प्रवृत्ति-पुंज के रूप में पेश करता था, बहुत से लोगों में मनुष्य की उच्चतर आत्मिक आकांक्षाओं के बारे में एक भाग्यवादी प्रवृत्ति पैदा करने का काम किया है।

इस नियतिवाद में पर्याप्त सुधार करने की क्षमता अध्यात्मवाद में ही है। अध्यात्मवादी पूछता है, "यदि मानवीय आचरण और विचार में नियतिवादी का सिद्धान्त अतिरंजित रूप में हो तो? यदि हमारा स्वतन्त्र इच्छा सम्बन्धी विश्वास भंग न हो, बल्कि यथार्थ हो तो?" यदि उसके संशय उचित हैं तो उसे इस बात को अस्वीकार करना होगा कि नियतिवाद पर आधारित मनोविज्ञान मनुष्य की पूरी व्याख्या कर सकता है। यदि वह मनोविज्ञान के इस मौजूदा निष्कर्ष को स्वीकार कर लेता है कि मनुष्य का वैज्ञानिक परीक्षाओं द्वारा मापा जाने वाला अधिकतम बौद्धिक सामर्थ्य उसके आनुवंशिक गुणों के ठीक-ठीक अनुसार नियत होता है, तो उसकी यह मान्यता हो जाती है कि वैज्ञानिक परीक्षाओं से सब बातें नहीं नापी जातीं। इससे उसका यह संशय भी प्रकट होता है कि वैज्ञानिक परीक्षाएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीज को नापती भी हैं या नहीं। वह यह मानता है कि जिन आत्मिक मूल्यों पर वस्तुपरक मनोविज्ञान विचार नहीं करता, वे प्रयत्न द्वारा पोषित किए जा सकते हैं, और कि शिक्षा को जो कार्य करने का यत्न करना चाहिए, वह सदा पूरा करना सम्भव है।

रस्क ने बताया है कि नैतिक मूल्यों की समस्या में मनोविश्लेषण का स्थान बड़ा मनोरंजक है क्योंकि यह 'इड' अर्थात् 'तद्' (Id) और 'ईगो' अर्थात् 'अहं' (Ego) के मध्य संघर्ष की, अर्थात् नैसर्गिक प्रवृत्तियों और आदर्श मूल्यों के मध्य संघर्ष की अपनी मौलिक धारणा में इनका अस्तित्व वस्तुतः मान लेता है।

मनोविश्लेषक को आदर्श मूल्यों का अस्तित्व मानना होगा, अन्यथा संघर्ष नहीं हो सकता, और इस तरह उसका काम खत्म हो जाएगा। इस प्रकार,

मनोविश्लेषकों को यथार्थता के अध्यात्मवादी निर्वचन में विश्वास प्रदर्शित करना पड़ता है ।

तो यह कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषण पर आधारित कुछ शिक्षा-प्रणालियां अपना मनोवैज्ञानिक आधार होते हुए भी अध्यात्मवादी की अवधारणा से असंगत नहीं हैं । बच्चे को अपने संघर्षों में सामंजस्य लाने में सहायता करके शिक्षक उसे सारी यथार्थता से अपना सामंजस्य पैदा करने में सहायता कर रहा है, और आत्मिक मूल्यों को विजय करने के योग्य बना रहा है ।

पर यद्यपि मनोविज्ञान के बहुत से रूपों में आदर्श मूल्यों का अस्तित्व ध्वनित होता है, परन्तु यह उनका कोई सन्तोषजनक वर्णन नहीं कर सकता । अपने वस्तुपरक दृष्टिकोण से यह इस बात पर प्रकाश डाल सकता है कि क्यों कुछ लोग बौद्धिक योग्यता प्राप्त कर सकते हैं और क्यों कुछ लोग यह योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते हैं । पर यह इस तथ्य की कोई विशेष व्याख्या नहीं कर सकता कि अत्यन्त साधारण लोग वीरता और परोपकार के बड़े महान् कार्य कर सकते हैं, कि उनके आचरण में मूल्य की बुद्धि होती है । यह मूल्यों को अपने विचार-क्षेत्र से बाहर कर देने के कारण ही शिक्षा का पूर्ण आधार बनने का अपना दावा खो देता है । अध्यात्मवाद, जो मूल्यों को आवश्यक सामग्री मानता है, और उन्हें वास्तविक मानता है तथा यह स्वीकार करता है कि मानव प्रकृति का एक परमावश्यक और प्रमुख अंश इसकी उन्हें ग्रहण करने की शक्ति है, इस बात को नहीं मानता कि वस्तुपरक मनोविज्ञान, जो मूल्यों को उपेक्षित करता है, कभी भी मनुष्य का पर्याप्त चित्र प्रस्तुत कर सकता है । रस्क ने लिखा है कि "मनोविज्ञान को या तो अपनी वस्तुपरक परिभाषा छोड़नी होगी, अथवा अपना यह दावा छोड़ना होगा कि वह मानसिक जीवन की पूरी व्याख्या कर सकता है" । किसी भी पूरी व्याख्या में मूल्यों को "हमारी मानसिक प्रकृति के बुनियादी कारक मानना होगा और यह सिद्ध करना छोड़ना होगा कि वे नैसर्गिक वृत्तियों या किसी अन्य चीज में से निकलते हैं । यदि हम अध्यात्मवाद को स्वीकार करते हैं तो हमें यह मानना होगा कि "ऐसे कारकों की उपेक्षा करना शिक्षण मनोविज्ञान को निरर्थक बना देना है, क्योंकि शिक्षा का कार्य बालक की अन्तर्जात क्षमताओं को मूल्यों का महत्व समझने योग्य बनाना, उसे सच्चे मूल्य समझाना, और अपने खुद के जीवन में

उन्हें मूर्त्त रूप प्राप्त कराना है। शैक्षणिक अभावों के प्रभाव में वे सुषुप्त रहते हैं। शिक्षा से मनुष्य उन्हें ज्ञानपूर्वक समझने लगता है।

तो फिर, आत्मिक मूल्य कौन से हैं जिन्हें जानना और महत्त्वपूर्ण समझना तथा सराहना जीवन का और शिक्षा का लक्ष्य है ? यदि हम इस प्रश्न का उत्तर थोड़ी भी सुनिश्चितता से दे सकें तो हमें एक ऐसी कसौटी मिल जाएगी जिससे हम शिक्षण के किसी भी प्रयत्न का मूल्य निकाल सकते हैं, और इसके परिणाम की व्यापकता का फैसला कर सकते हैं।

प्लेटो ने कुछ स्थानों पर शिवं के रूप (The Form of The Good) को और कुछ स्थानों में परम सुन्दर (Supreme Beauty) को हमारी आत्मा की यात्रा का ध्येय बताया है और टेलर के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्लेटो की शिवं और सुन्दरं एक ही वस्तु थी। कीट्स की वे पंक्तियां भी हमें याद है जिनमें उसने सत्यं और सुन्दरं को एक बताया है :

"सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य, बस इतनी ही बात तुम दुनिया में जानते हो और इतनी ही तुम्हें जानने की आवश्यकता है।"[१]

पर हम में से बहुत से लोग परम शिव के बारे में कुछ अधिक जानना चाहेंगे, और यदि सम्भव हो तो उसका कुछ कामचलाऊ विश्लेषण देखना चाहेंगे, हालांकि विश्लेषण से निकलने वाले तत्त्व उसी एक अंतिम विचार के विभिन्न पहलू होते हैं। आत्मिक मूल्यों का सत्यं, शिवं, और सुन्दरं के रूप में विश्लेषण आमतौर से स्वीकार किया जाता है, और इसके साथ ही यह बात भी मानी जाती है कि मनुष्य की आत्मिक गतिविधियां भी तीन तरह की, अर्थात् बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्यपरक होती है। इस दृष्टिकोण को ए. क्लटन ब्रोक ने १९१४-१८ के महायुद्ध से पूर्व लिखी गई एक छोटी सी पुस्तक में बड़े सरल और सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया था और वह विचार का अच्छा आधार बन सकता है। आपने लिखा है :

"आत्मा का एक दर्शन है जो आत्मा को सर्वोच्च मानता है, और जिसने मनुष्य की प्रकृति और विश्व की प्रकृति के बारे में सत्य को सिद्ध कर दिया

---

[१] "Beauty is truth, truth beauty"—that is all,
Ye know on earth, and all ye need to know.

है—इस सत्य की, प्रत्येक मनुष्य अपने स्वयं के प्रयोगों द्वारा, अपने लिए पुष्टि कर सकता है। आत्मा का दर्शन हमें यह बताता है कि आत्मा तीन चीजें चाहती है, और इन्हें वह इन्हीं के खातिर चाहती है, इनसे आगे किसी और लक्ष्य के खातिर नहीं। वह सही चीज करना चाहती है, सही चीज करने के खातिर ही; सत्य जानना चाहती है, सत्य जानने के खातिर ही; और एक तीसरी इच्छा है जिसे उतनी आसानी से बयान नहीं किया जा सकता, पर जिसे अब मैं सौन्दर्य की इच्छा कहता हूँ।

"ये तीन इच्छाएं, और ये तीन ही, आत्मा की इच्छाएं हैं। वे हमारी अन्य सब इच्छाओं से इस बात में भिन्न हैं कि वे अपने ही खातिर पूरी करने की कोशिश की जाती है और सच बात तो यह है कि उनके अपने खातिर ही उनकी पूर्त्ति की कोशिश की जा सकती है। यदि किसी और बाहरी उद्देश्य से उनके पीछे दौड़ा जाए तो उनकी प्रकृति बदल जाती है।

"इस प्रकार जैसे आत्मा की तीन इच्छाएँ हैं, वैसे ही उसके तीन कार्य भी हैं और वे तीन ही हैं। उनके नाम हैं नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्यपरक कार्य, और मनुष्य इसी कारण जीवन धारण करता है कि वह आत्मा के ये तीन कार्य करता रहे, अन्य किसी कारण नहीं।"

यह सुनिर्दिष्ट अध्यात्मवाद यह मानता है कि प्रत्येक मूल्य अनुपम है और कि इनमें से किसी को दूसरे पैमाने में नहीं प्रकट किया जा सकता। मनुष्य सत्य-ज्ञान की इच्छा या सौन्दर्य प्राप्ति की इच्छा इसलिए नहीं करता कि वह अच्छा हो सके। कला सुनिश्चित रूप से कला के खातिर है, नैतिकता के खातिर नहीं, और इसका कोई भी नैतिक प्रयोजन नहीं हैं। शिवं, सत्यं और सुन्दरं निरपेक्ष गुण हैं जिनमें से प्रत्येक अपनी आवश्यकता के कारण मौजूद है, और वह अपने आप में पूर्णतया वांछनीय है। क्लटन ब्रोक हमें अपने इस सिद्धांत की सत्यता की पुष्टि के लिए अपने निजी अनुभव की जांच करने के लिए कहता है कि इन तीनों मूल्यों में से प्रत्येक की अपनी निरपेक्ष, स्वतन्त्र प्रकृति है और उसकी पुस्तक ऐसे निष्कर्ष के पक्ष में प्रभावोत्पादक दलील है।

कुछ लोग सत्यं, सुन्दरं और शिवं को अनुभव (Experience) के त्रिविध विभाजन का संवादी (Corresponding) मानते हैं, अर्थात् संज्ञान (Cognition) या ज्ञान का अनुभव, भावना (Affect) या महसूस करने का अनुभव

और प्रयसन (Conation) या प्रयास करने का अनुभव । यह त्रिविध विभाजन मनोविज्ञान में सामान्यतया स्वीकार किया जाता है । ऊपर से देखने पर यह विचार युक्तियुक्त मालूम होने लगता है, पर इसकी जांच करने पर इसका आधार दृढ़ नहीं प्रतीत होता । स्पष्ट है कि आप मूल्यों के क्षेत्र में वस्तुपरक मनोविज्ञान को अपर्याप्त बताते हुए उसके निष्कर्षों को ऐसे पूर्वावयव (Premises) नहीं मान सकते जिन से मनुष्य के आत्मिक मूल्यों को निगमित (Deduce) किया जा सके । अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि यह संवादिता सादृश्य (Analogy) के ढंग की है, पर सादृश्य को दलील बनाना खतरनाक है । जो हो, मनोवैज्ञानिक के विचारों की गम्भीर परीक्षा से यह तथ्य सामने आता है कि उसके लिए ज्ञान, भावना और प्रयास तीन भाग मात्र हैं । उनका कोई पृथक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और वे अनुभव को, जो एक और अविभाज्य है, देखने के भिन्न-भिन्न तरीके मात्र हैं । कोई ऐसी अवस्था नहीं हो सकती जिसमें सिर्फ ज्ञान हो पर भावना या प्रयास हो, या भावना हो पर ज्ञान और प्रयास न हो, या प्रयास हो पर भावना और ज्ञान न हो, और यह निश्चित है कि सत्य की या सौन्दर्य की या शिवत्व की सफल खोज के लिए हमें अपनी ज्ञान, भावना और प्रयास की सारी शक्तियों की अपेक्षा है । इस प्रकार, यदि मनुष्य के अनुभव का त्रिविध विश्लेषण परिपूर्ण (Perfect) मान लिया जाए तो भी इसका यह अर्थ नहीं कि उसके आत्मिक मूल्यों का त्रिविध विश्लेषण पूरा (Complete) हो गया । सम्भव है कि कोई और ऐसे आत्मिक मूल्य हों जिन्हें मनुष्य जान सके, जिनके बारे में वह अनुभव कर सके, जिनके लिए वह प्रयास कर सके ।

धर्म एक ऐसा ही मूल्य है और रस्क की इसे मनुष्य के आत्मिक कार्यों की सूचि में शामिल करने की इच्छा में हम प्रसन्नता से उसके साथ हैं । यह तो ठीक है कि धर्म का और सत्य की या सौन्दर्य की या शिवत्व की खोज का आधार एक ही है—एक दृष्टि से यह नैतिकता से मेल खाता है और दूसरी दृष्टि से यह सौन्दर्य शास्त्र से मेल खाता है—पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपने सारतत्व की दृष्टि से यह इनमें से प्रत्येक से भिन्न है, और कि इसे एक पृथक स्वतन्त्र रूप देना सर्वथा उचित है

विशेष रूप से धर्म और नैतिकता के प्रभेद और सम्बन्ध का प्रश्न बड़े महत्व

और दिलचस्पी का है। धर्म क्या वस्तु है ? यदि हम धर्म की एक ऐसी सामान्य धारणा प्राप्त करना चाहें जिसमें धर्म का सबसे अधिक आद्य (Primitive) रूप भी आजाय और इसका अधिक से अधिक उन्नत रूप भी आ जाय तो यह हमें ए. एस. पीक की इस परिभाषा में मिलती है कि 'धर्म अगोचर के साथ साहचर्य है' (Fellowship With The Unseen)।" धर्म आत्मा के द्वारा उस सत्ता के रूप में पहुँचना है जिसे ईश्वर माना जाता है, यह आत्मा को ईश्वर का अवबोधन, और इसकी ईश्वर के साथ ऐक्य की भावना है। धर्म की लाक्षणिक भावना संभ्रम (Awe), आदर और पूजा की भावना है

नैतिकता प्रायः सामाजिक अर्थ में होती है। किसी असभ्य सामाजिक समूह की नैतिकता उन नियमों या प्रथाओं को कहते हैं जो उस सारे समूह के लिए कल्याणकर होती हैं। ज्यों-ज्यों सामाजिक समूह की अवधारणा बड़ी होती जाती है, त्यों-त्यों उन प्रथाओं को निष्ठापूर्वक मानने के आदर्श को और उदात्त करके मानवबंधुत्व के आदर्श में परिणत किया जा सकता है। पर अब भी इसकी अवधारणा सामाजिक ही है। परन्तु सामाजिक पृष्ठभूमि न होने पर नैतिकता का सर्वोत्तम रूप यह रह जाता है कि मनुष्य निरन्तर उस आत्मिक मूल्य की खोज में लगा रहे जिसे हमने शिवत्व कहा है, और व्यक्तिगत परिपूर्णता के लिए यत्न करता रहे।

इस प्रकार धर्म और नैतिकता एक ही बात नहीं है। सच बात तो यह है कि उन्हें एक दूसरे से कोई वास्ता रखने की आवश्यकता भी नहीं। नैतिकता धर्म से बिल्कुल स्वतन्त्र हो सकती है, और नैतिक नियमों को किसी धार्मिक बल की आवश्यकता नहीं। बहुत से अत्यंत नैतिक व्यक्तियों का कोई धर्म नहीं होता। वे अगोचर के साथ साहचर्य का कोई भी यत्न न करते हुए, यहाँ तक कि अतिमानवीय शक्तियों के अस्तित्व में अविश्वास करते हुए भी उच्चतम नैतिकता को अपने विचार और व्यवहार में ला सकते हैं। इसी तरह यह बात भी ठीक है कि धर्म से अच्छाई या शिवत्व का पैदा हो जाना आवश्यक नहीं। असभ्य अथवा आद्य धर्मों की अभिव्यक्ति की रीतियाँ सुनिश्चित रूप से अनैतिक हो सकती हैं, और वे लोग, जो धर्म के आधुनिक अर्थ में भी सच्चे धार्मिक हैं, बहुधा अपने अज्ञेयवादी या धर्म आदि को न मानने वाले पड़ोसियों की अपेक्षा कम नैतिक होते हैं। ओल्ड टेस्टामेंट को निष्ठापूर्वक पढ़ने वालों को कभी-कभी यह

विस्मय होता है कि जैकब दैनिक आचरण के मामलों में उतना अच्छा न होते हुए भी जितना उसे होना चाहिए था, ईश्वर के इतने अधिक अंतरंगों में क्यों रहा। प्रतीत होता है कि इसका कारण वही प्रभेद है, जो हमने अभी प्रस्तुत किया है। वह विशिष्ट रूप से नैतिक न होते हुए भी आदिकाल में एक धार्मिक प्रतिभावाला व्यक्ति था, जो इतिहास के आरंभ में ईश्वर के साथ साहचर्य बना सका और ईश्वर के पथ-प्रदर्शन और संरक्षण में रह सका।

रस्क धार्मिक और नैतिक प्रवृत्तियों में वैषम्य दिखाकर धर्म और नैतिकता में प्रभेद बताता है :

"धार्मिक प्रवृत्ति और नैतिक जीवन में एक विषमता यह है कि नैतिक जीवन संघर्ष का जीवन होता है। जिस नैतिक आदर्श को प्राप्त करने के लिए हम यत्नशील होते हैं, वह हमारे निकट पहुँचने के साथ-साथ पीछे हटता जाता है। सूर्य के अस्त होने के विषय में भी हमसे नैतिक संघर्ष चलता रहता है। अधूरापन और असंतोष नैतिक जीवन की विशेषताएँ हैं। इसमें एक सफलता अगले संघर्ष का मार्ग खोल देती है, जबकि उधर धार्मिक जीवन में मनुष्य यह अनुभव करता है कि यदि वह संघर्ष में अभी विजयी नहीं हुआ है, तो भी वह उस पक्ष में है जिसे हराया नहीं जा सकता।"

इस प्रकार शिवत्व की खोज में ऐसा प्रयत्न और संघर्ष आ जाते हैं जिनसे अन्तिम लक्ष्यसिद्धि या संतोष नहीं होता, परन्तु धर्म संतोष, अर्थात् यह भावना, देता है कि सब कुछ ठीक है; ईश्वर नित्य और अनादि-अनंत है, और शान्तिहीन आत्मा को उसमें शान्ति मिल सकती है। सेंट पाल के इन प्रसिद्ध शब्दों में हमें नैतिक संघर्ष की परेशानी के स्थान पर धार्मिक विश्वास की उच्चता आगई दिखाई देती है :

"मैं कितना पापी आदमी हूँ। मुझे इस नाशवान् शरीर से कौन मुक्त करेगा ? मैं अपने प्रभु ईसा की मार्फत ईश्वर का धन्यवाद करता हूँ ?"

पर धर्म और नैतिकता की प्रकृति एक दूसरी से भिन्न होते हुए भी अपने उच्चतर रूपों की ओर बढ़ते हुए वे एक-दूसरे से मिलने और सायुज्यित (Fuse) होकर एक संपूर्ण समष्टि बन जाने की प्रवृत्ति रखते हैं। ओल्ड टेस्टामेंट की आरंभिक पुस्तकों में हम देखते हैं कि धार्मिक शास्तियों (Sanctions) को

जनजातीय नैतिकता (Tribal Morality) को महत्व देने के लिए लाया गया। लेविटिकस की पुस्तक के विभिन्न नियमों और आदेशों के विषय में जो स्पष्टत: एक बनजारे कबीले के सामुदायिक हित के विषय में हैं, और आरोग्य संबंधी नियमों के भंग पर दिये जाने वाले कठोर दण्डों के विषय में कहा गया है कि ये बातें "ईश्वर ने मूसा से कही थीं।" फिलिस्तीनों के साथ होने वाले भयंकर संघर्षों में ईश्वरीय सहायता और अनुमति माँगी जाती थी, जो जाति के जीवित रहने के लिए निःसंदेह आवश्यक थी। यहाँ हमें वे प्रार्थनाएँ याद आ जाती हैं जो १९१४ में युद्ध-देवता (God of Battles) से की गई थीं और जिनका उद्देश्य राष्ट्र की कमर मज़बूत करना था—हम नहीं कह सकते कि वह उद्देश्य पूरा हुआ या नहीं। पर ओल्ड टेस्टामेंट में हम देखते हैं कि ईर्ष्यालु ईश्वर और युद्ध के देवता की अवधारणा के स्थान पर धीरे-धीरे नैतिक ईश्वर आता-जाता है जिसके पवित्र स्थान पर सिर्फ "वह आदमी खड़ा होता है जिसके हाथ निष्कलंक और हृदय शुद्ध हैं।" वह "दया चाहता है, बलिदान नहीं"; वह मनुष्य को कल्याण का मार्ग दिखाता है और उससे सिर्फ यह चाहता है कि वह "न्याय परायण हो, दयालु हो और विनम्र हो।" अंत में ईसाइयत में नैतिकता और धर्म कंधे से कंधा मिलाये दिखाई देते हैं। स्वयं ईसा ईश्वर के पुत्र के रूप में पूजा जाता है और इसलिए उसकी नैतिक शिक्षा के पीछे ईश्वरीय सत्ता है। ईसा की शिक्षाओं को ईश्वरीय न मानते हुए भी उन्हें उच्चतम नैतिक नियम माना जा सकता है, पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उस अवस्था में उसकी विशेष शक्ति जाती रहती। ईसा ने स्वयं यह परम आदेश प्रस्तुत किया है :

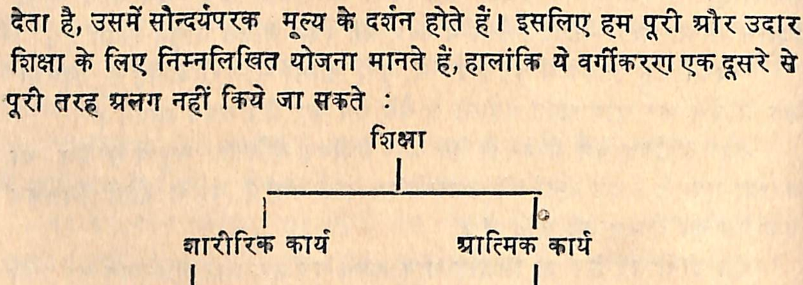
"अपने प्रभु ईश्वर से पूरे हृदय से, पूरी आत्मा से, पूरी शक्ति से, और पूरे मन से प्रेम कर और अपने पड़ौसी से वैसे प्रेम कर जैसे अपने आपसे।"

यहाँ सर्वोच्च धर्म ईश्वर से प्रेम और सर्वोच्च नैतिकता मनुष्य से प्रेम को बताया गया है। इन दोनों को अलग-अलग रखा गया है, पर वे दोनों मिलकर एक प्रेम का नियम बन जाते हैं।

इन दोनों पर प्रेम का सिद्धांत लागू करने पर एक और सम्मिलन का मार्ग दिखाई देता है, क्योंकि मनोविज्ञान की भाषा में, हम सत्यं, शिवं और सुन्दरं के प्रति प्रेम के स्थायी भाव ही पैदा करना चाहते हैं। यदि इन तीनों को ईश्वरीय गुण माना जाए तो उनसे प्रेम का अर्थ स्वयं ईश्वर से प्रेम करना होगा—यह

हमारे अन्दर पैदा हो सकने वाली उच्चतम धार्मिक अभिवृत्ति होगी । इस प्रकार धर्म एक पृथक् मूल्य बनने के बजाय सर्वोच्च मूल्य बन जाता है और अन्य सब मूल्यों को अपने भीतर समाविष्ट कर लेता है।

ऐसा प्रस्तावित दार्शनिक समन्वय टिक सकता हो या नहीं, पर धर्म को सत्यं, शिवं और सुन्दरं में मिला देने से हमें शिक्षा में धार्मिक मूल्यों के लिए एक निरापद और व्यापक कामचलाऊ कसौटी अवश्य मिल जाती है। शिक्षा धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्यपरक होनी चाहिए । यदि सुसंतुलित व्यक्तित्व का निर्माण करना है, तो इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। साथ ही हमें शिक्षा के शारीरिक पहलू को भी न भूल जाना चाहिए, जिसके दो हिस्से हैं; प्रथम तो, शरीर के स्वास्थ्य और आरोग्य पर उचित ध्यान देना चाहिए, क्योंकि स्वास्थ्य और आरोग्य के बिना आत्मिक मूल्यों की प्राप्ति के यत्न में बड़ी रुकावट पड़ती है; दूसरे, शारीरिक कौशल भी आने चाहिएँ जिनके द्वारा मनुष्य नई बातें पैदा कर सकता है, जिनसे वह अपने मौजूदा वातावरण के स्थान पर अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के लिए स्वरचित भौतिक वातावरण बना सके। असल में, शारीरिक और आत्मिक कार्यों को पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता। उनमें कुछ दूर तक सामान्य आधार होता है। नैतिक मूल्य, जो आत्मिक हैं, शारीरिक कार्यों में देखे जा सकते हैं। भौतिक वातावरण की समस्याओं पर कला-कौशल को लागू करके बौद्धिक मूल्यों की प्राप्ति का यत्न किया जा सकता है, और मनुष्य अपनी दस्तकारी द्वारा अपने सामान को जो रूप-रंग देता है, उसमें सौन्दर्यपरक मूल्य के दर्शन होते हैं। इसलिए हम पूरी और उदार शिक्षा के लिए निम्नलिखित योजना मानते हैं, हालांकि ये वर्गीकरण एक दूसरे से पूरी तरह अलग नहीं किये जा सकते :



अध्याय ६

शिक्षा में व्यवहारवाद

(Pragmatism in Education)

व्यवहारवाद की प्रकृत्ति ही ऐसी है कि इसके अनुसार पहले ही शिक्षा के लक्ष्य स्पष्ट रूप से नहीं बनाये जा सकते। इसके अपने जो सिद्धान्त हैं, उनके कारण यह मूल्यों की किसी पूर्वसिद्ध योजना को शिक्षण का लक्ष्य नहीं मान सकता। इसलिए व्यवहारवादी की दृष्टि से शिक्षा उस तरह नित्य आत्मिक मूल्यों को प्राप्त करने के लिए कोई निःस्वार्थ प्रयत्न नहीं है, जो वह अध्यात्मवादी की दृष्टि में था। इसका कार्य यह नहीं है कि सार्वत्रिक नियमों को खोज कर वास्तविकता से ताल-मेल पैदा किया जाए, क्योंकि मूल्य पहले से विद्यमान नहीं हैं। वे सफल प्रयोगों के प्रक्रम से पैदा किये जाते हैं, और ज्यों-ज्यों समस्याएँ हल होती हैं, त्यों-त्यों उनका आविर्भाव होता है। व्यवहारवादी की दृष्टि में शिक्षा का सबसे अधिक सामान्य लक्ष्य नये मूल्यों का सृजन करना ही है। शिक्षक का मुख्य कार्य यह है कि वह शिक्ष्यमाण, अर्थात् शिष्य, को ऐसी स्थिति में पहुँचा दे कि वह अपने लिए मूल्यों का निर्माण कर सके।

यद्यपि व्यवहारवादी आत्मिक मूल्यों के उस विश्लेषण की, जो अध्यात्म-वादी ने किया है, जांच-पड़ताल करेगा, पर इस बात पर वह सहमत हो सकता है कि शिक्षा में इसके बौद्धिक, सौंदर्यपरक, नैतिक और धार्मिक तथा शारीरिक पहलू होने चाहिएँ, क्योंकि मुख्यतः इन्हीं पहलुओं के कार्यों द्वारा मूल्यों का सृजन किया जा सकता है। पर ये कार्य इन कार्यों के खातिर ही नहीं किये जाते, बल्कि मानवीय आवश्यकताओं के सिलसिले में किये जाते हैं। व्यवहारवादी के लिए ज्ञान की निःस्वार्थ गवेषणा का कोई अर्थ नहीं है। बौद्धिक शिक्षा इसके अपने ही खातिर नहीं हुआ करती। इसी प्रकार, सौन्दर्य-प्राप्ति का, या आधार-

भूत नैतिक सिद्धान्तों की प्राप्ति का कोई निःस्वार्थ प्रयत्न नहीं होता। आधार-भूत नैतिक सिद्धान्त उन आचरणों का सामान्य नाम मात्र है जिनसे संतोषजनक परिणाम पैदा हुए हैं। इसी प्रकार, निरपेक्ष परमेश्वर की खोज निरर्थक है। व्यवहारवादी ईश्वर में विश्वास को उसी अवस्था में उचित मानता है, यदि उसे इस उपकल्पना की आवश्यकता हो।

संक्षेप में, वह हमारे इस विचार को भ्रामक मानता है कि शिक्षा दर्शन का क्रियात्मक रूप है, कि शिक्षण के सम्बन्ध में सुस्थित सिद्धान्त मूल्यों के सच्चे दर्शन का प्रतिबिम्ब है। दर्शन शिक्षा से निकलता है, न कि शिक्षा दर्शन से; दर्शन उन विचारों के समूह को कहते हैं जिनके आधार पर कोई शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग सफल हुआ है, अर्थात् वह शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग जिसके परिणामस्वरूप मूल्यों का सृजन हुआ। ड्यूई ने इसे निम्न शब्दों में रखा है :

"शिक्षा के दर्शन" का अर्थ यह नहीं है कि कुछ पहले से तैयार विचार ऐसी प्रयोग-प्रणाली पर बाहर से लाकर लागू कर दिये जाते हैं, जिनका उद्गम और प्रयोजन मूलतः भिन्न है। यह तो समकालीन सामाजिक जीवन की कठिनाइयों के विषय में सही मानसिक और नैतिक आदतों के निर्माण की समस्याओं का स्पष्ट संव्यवस्थापन (Arrangment) मात्र है। तो, दर्शन की सबसे अधिक गहरी परिभाषा यह हो सकती है कि यह शिक्षा की अत्यधिक व्यापक अवस्थाओं में शिक्षा का सिद्धान्त (Theory of Education) है।'

व्यवहारवादी यह मानता है कि बालक एक दिये हुए वातावरण में मूल्यों का भावी सृजन करने की सामर्थ्य रखता है। इसलिए उसके सामने शिक्षा के प्रसंग में दो ही चीजें हैं, बालक और उसका प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण, और इन दोनों की पारस्परिक क्रिया ही बालक का अनुभव है। शिक्षा में व्यवहारवाद बालक के वर्तमान रूप को लेकर ही चलता है और इस तरह प्रकृतिवाद का साथी बन जाता है। पर यह शायद प्रकृतिवाद की अपेक्षा अधिक सचेत भाव से और विमर्षपूर्वक बालक को एक सहायक प्रकार का, खास तौर से सामाजिक प्रकार का, अनुभव पेश करके, जिसमें वह सीधे हिस्सा लेता है, बालक की मूल प्रकृति को बदलने की कोशिश करता है। बच्चे की यह प्रकृति है कि वह जीवन के साथ प्रयोग करे, और उसे ऐसा करने के लिए, और नई परिस्थितियों का, जो शिक्षक बहुत मात्रा में पेश कर सकता है, सामना करने के

लिए नए उपाय सोचने के लिए बढ़ावा दिया जाता है। पर क्योंकि जीवन स्वयं परीक्षण रूप है, इसलिए कोई ऐसा सुनिश्चित ध्येय नहीं है जिसकी ओर बालक को बढ़ना चाहिए। यदि शिक्षक बालक के लिए कोई खास ध्येय निश्चित करने की कोशिश करता है, या बालक की तरफ से बालक के उद्देश्यों का फैसला करने की कोशिश करता है तो उसकी यह कोशिश सच्ची शिक्षा की शक्ति को नष्ट कर देती हैं।

व्यवहारवादी बाहरी मानदण्डों और सत्ता को हीन दृष्टि से देखता है, और स्वयं बालक की आवश्यकताओं, इच्छाओं, प्रयोजनों और अभिरुचियों को ऊंची दृष्टि से देखता है। इससे भी मूल्यों के पूर्व अस्तित्व के बारे में, प्रकृतिवादी की तरह, व्यवहारवादी की संशयवृत्ति फिर प्रकट होती है। आवेगों, अभिरुचियों और सामर्थ्यों को किसी मूल्य योजना के साक्षात्कार की दिशा में ले जाना शिक्षा नहीं है, जैसा कि अध्यात्मवादी कहता है, बल्कि बालक के अपने वातावरण और उसकी अनुभूत आकांक्षाओं की पूर्त्ति की दिशा में उन्हें ले जाना शिक्षा है। इस प्रकार बालक के प्रयोजन और शिक्षक के प्रयोजन एक दूसरे से बिल्कुल अलग रहते हैं, क्योंकि शिक्षक को अपना कोई खास प्रयोजन नहीं रहता। जहां तक व्यष्टि का सम्बन्ध है, शिक्षा के ऐसे अवधारण में हम यह परिणाम चाहते हैं कि एक गतिशील अनुकूलन-समर्थ मन बनाया जाए, जो सब परिस्थितियों में नए-नए उपाय सोच सके और नए कदम बढ़ा सके, और जिसमें किसी अज्ञात भविष्य में मूल्यों का सृजन करने की शक्ति हो। पर अमरीकन व्यवहारवाद पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उसने शिक्षा के सामाजिक पहलुओं की उपेक्षा की है, क्योंकि उसका विश्वास है कि ऐसे मन समाज में अनिवार्यतः एक अधिक अच्छी और ऐसी अवस्था पैदा करेंगे जिसमें मानवीय आकांक्षाओं की पूर्णतया पूर्त्ति हो सकेगी। पर यह कार्य व्यष्टि के प्रयत्न और बुद्धि-बल से ही हो सकेगा। अमरीकन व्यवहारवादी व्यष्टि में और लोकतंत्र में अगाध आस्था रखता है। उसे मानव की प्रगति और मनुष्य के परिपूर्ण बन सकने के सामर्थ्य में अजेय विश्वास है, और वह मानता है कि यह मानवीय प्रगति और मनुष्य की परिपूर्णता सामाजिक माध्यम में व्यष्टि के परिवर्द्धन और सफलता से ही हो सकती है। शायद व्यष्टि के सामर्थ्य के विषय में व्यवहारवाद की आशावादिता उसे सामर्थ्य के प्राकृतिक अंतर बहुत आसानी से भुला देती

है। सैद्धांतिक दृष्टि से यह सच है पर व्यावहारिक दृष्टि से यह सच नहीं कि प्रत्येक अमरीकन विद्यार्थी अमरीका का राष्ट्रपति बन सकता है।

अध्यात्मवाद और व्यवहारवाद में मुख्यतः यह अंतर है कि एक तो उन मूल्यों को स्वीकार करता है, जिनके साक्षात्कार की दिशा में प्रयत्न किया जाना है, और दूसरा यह मानता है कि वे मूल्य मनुष्य ने स्वयं पैदा किए हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, व्यवहारवाद गतिशील अध्यात्मवाद के बहुत निकट है। रस्क इसे "एक नए आदर्शवाद के परिवर्द्धन की एक अवस्था मात्र मानता है—वह नया आदर्शवाद ऐसा होगा जो वास्तविकता का पूरा ध्यान रखेगा, क्रियात्मक और आत्मिक मूल्यों का समन्वय करेगा, और ऐसी संस्कृति का निर्माण करेगा जो दक्षता की श्रेष्ठता की सूचक होगी, इसके अभाव की नहीं"। अध्यात्मवादी मनुष्य के परिपूर्ण हो सकने के सामर्थ्य में व्यवहारवादी के विश्वास का स्वागत करता है, क्योंकि यह उसकी अपनी उन्नत व्यक्तित्व की धारणा के निकट है, पर व्यवहारवादी यह मानने के बजाए कि एक ऐसा महान प्रयोजन है जिसकी ओर यह विश्व चल रहा है, मानवीय प्रयोजनों और मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति पर बल देता है। यह प्रचण्ड मानवतावादी है। व्यवहारवादी के लिए सब बातों का पैमाना मनुष्य है और अपने परिवर्द्धन के वर्षों में सब शिक्षा सम्बन्धी बातों का पैमाना बालक है।

क्योंकि व्यवहारवाद दर्शन को, 'सफल व्यवहार के आधार के रूप में विद्यमान सिद्धांत' मानता है, इसलिए यह हमें शिक्षा के लक्ष्यों की अपेक्षा उसकी विधियों में अधिक सहायता देता है। सच बात तो यह है कि जहां तक शिक्षा की विधि का सम्बन्ध है, इसकी बहुत सी बातें स्वीकार कर लेने से हमें खुशी और लाभ होगा। हम देखते हैं कि यह स्कूलों की बहुत सी परम्पराओं पर आपत्ति उठाता है, पर जब हम यह सोचते हैं कि इसे स्वयं दर्शन के परम्परागत दृष्टिकोण की सुस्थितता पर संशय है, तब इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं प्रतीत होती। यह किसी चली आती हुई कार्य-विधि को सिर्फ इसी कारण नहीं मान लेता कि यह चली आती है, और हमें यह चेतावनी देता है कि हम प्राचीन और घिसी-पिटी विचार-रीतियों को अब अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग में प्रधान स्थान न दें और नई दिशाओं में कदम बढ़ाते हुए नई-नई विधियां निकालें।

यह इस धारणा का प्रबल विरोधी है कि बालक बड़े ग्रादर के साथ गुरु की चरण सेवा करे ग्रौर विनयपूर्वक पुरानी निष्क्रिय परिपाटी से शिक्षा ले। यह कहता है कि बालक को दूसरे लोगों के विचारों के परिणाम ही याद नहीं कर लेने चाहिएँ; उसे वास्तविक जीवन की परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए ग्रावश्यक ज्ञान ग्रौर कौशल ग्रपने लिए स्वयं प्राप्त करने चाहिएँ। शिक्षा इसे नहीं कहते कि बच्चे को वे बातें सिखा दी जाएँ जो उसे जाननी चाहिएँ, बल्कि उसे प्रयोग ग्रौर सृजनात्मक कार्य द्वारा स्वयं सीखने के लिए बढ़ावा देने को शिक्षा कहते हैं। सच्चा ज्ञान किसी मृत संस्कृति, खास तौर से पुस्तकों, से ज्ञान लेना नहीं है। सच्चा ज्ञान ग्रसल में किसी खास ग्रवस्था में सही काम करने की शक्ति है। व्यवहारवाद सदा विचार के बजाए कार्य पर बल देता है। यह सिद्धांत ग्रौर प्रयोग की एक-दूसरे से पृथक्ता नहीं स्वीकार करता।

इस प्रकार शिक्षण का पुराना सूत्र 'करके सीखो' शिक्षण सम्बन्धी विधि में व्यवहारवाद का एक महत्त्वपूर्ण विचार माना जा सकता है। व्यवहारवाद उस ग्रध्यापक को ठीक समझता है जो किताबी प्रवृत्ति को ग्रनुचित समझते हुए यह मानता है कि बच्चे को निरन्तर दूसर के पढ़ाते रहने से वैसी ग्रच्छी शिक्षा नहीं मिलती जैसी उसे ग्रपने खुद के काम से मिलती है। पर यह सब विषयों में प्रायोगिक काम को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण साधन बताकर ही नहीं रुक जाता। यह कहा जा सकता है कि शिक्षा सम्बन्धी व्यवहारवाद की सबसे ग्रधिक सामान्य विधि यह है कि बच्चे को ऐसी स्थितियों में रखा जाए जिनका उसे जीवन में सामना करना है। साथ ही उसे वे साधन प्रस्तुत किए जाएँ जिनसे वह उनका सफलतापूर्वक सामना कर सके।

ऐसा दृष्टिकोण होने के कारण यह, ग्रनिवार्यतः, पाठ्यक्रम के परम्परागत विषयवार विभाजन को बुरा समझता है। एक विषय को दूसरे विषय से पूरी तरह ग्रलग कर देना उचित नहीं, क्योंकि महत्त्वपूर्ण चीज मानवीय क्रियाएँ हैं, स्कूल में पढ़ाये जाने वाले विषय ग्रौर उनके ग्रन्तर्गत बताई जाने वाली बातें नहीं। ग्रलग-ग्रलग विषय पढ़ाने के बजाए बालक को वह सब ज्ञान ग्राजादी से प्राप्त करने को उत्साहित किया जाता है, जो उस कार्य से सम्बन्धित है, जिसमें वह लगना चाहता है। वह जो कुछ पढ़ता है, वह इसलिए पढ़ता है कि उसे ग्रपनी समस्याएँ हल करने की इच्छा पैदा हुई है ग्रौर उसकी पढ़ाई का मूल्य

इस दृष्टि से देखा जाता है कि इन समस्याओं का सामना करने में उनकी क्या उपयोगिता है।

विषयों के अलग-अलग विभाजन का विरोध और सीखने के प्रक्रम को मिलाकर एक बना देने का समर्थन वे लोग भी करते हैं जो व्यवहारवादी नहीं। एडम्स ने शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे 'समेकनवादियों (Integralists) की सुनिश्चित विचार-धारा का उल्लेख किया था। ये समेकनवादी कोम्ट और डेसकार्टेस के प्रमाण पर, बुद्धि की एकता और ज्ञान की एकता मानते हुए इस बात पर बल देते हैं कि सच्चा शिक्षण समेकित या अखण्ड (Integral) होना चाहिए और कि "जिसे प्रकृति ने एक और अविभाज्य बनाया है, उसे शिक्षकों को विभाजित और खंडित न करना चाहिए। इस विषय में जो प्रथा अधिकतर प्रचलित है, उसकी आलोचना, लेविस के शब्दों में, यह है कि "शिक्षक का एक खण्ड छात्र के एक खण्ड को पढ़ा रहा है", और स्वयं एडम्स ने इसमें इतनी बात और जोड़ दी है कि वह "विषय के एक खण्ड के बारे में पढ़ा रहा है।" एल्डस हक्सले इसका परिणाम यह बताता है कि जानकारी के छोटे-छोटे अनेक टुकड़े "एक दूसरे से बिलकुल अलग-अलग होते हैं, जैसे मानों अज्ञान के अंधकारपूर्ण आकाश में सफेद धब्बे से दिखाई देने वाले बहुत से तारे हों; वे एक विस्तृत सातत्य के हिस्सों के रूप में नहीं होते।

यह सामान्यतया माना जाता है कि स्कूल की पढ़ाई स्कूल में वैसे ही समेकित अर्थात् अखण्डित होनी चाहिए जैसे बाहर की दुनिया में जीवन की पढ़ाई समेकित अर्थात् अखण्डित होती है। प्राचीन शिक्षा कुछ दूर तक एकता पैदा करने वाला तत्त्व पेश करती थी, पर आज वह समेकन का तत्व क्या हो ? इसके उत्तर में फौरन यह कहा जाएगा कि योग्य छात्र अपनी पढ़ाई में मूलाधार स्वयं पैदा करेगा, पर इससे शिक्षक इस मामले में अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो जाता। मानव ज्ञान की सारी समष्टि में, जिसमें सब ज्ञान और विज्ञान आ जाते हैं, सैद्धांतिक रूप से एकता पैदा करने वाला एक तत्त्व दिखाई देता है, पर व्यवहार में ऐसा समेकन असाध्य है, चाहे उसे वांछनीय मान भी लिया जाए। स्पैन्स रिपोर्ट में यह सुझाया गया है कि पाठ्य-क्रम का मूलाधार "इंग्लिश और उस विषय समूह के अध्यापन को माना जाए जिसे बोल-चाल में प्रायः इंग्लिश विषय कह देते हैं" जैसे इंग्लिश साहित्य, वाक्य रचना, इतिहास, भूगोल, धर्मग्रंथ। पर

क्या इस विषय-समूह को वास्तव में मूलाधार कहा जा सकता है ? एल्डस हक्सले का यह सुझाव है कि समेकन करने वाला कारक स्वयं मनुष्य होना चाहिए क्योंकि "मनुष्य ही एक ऐसा विषय है जिसमें सब मनुष्यों की, चाहे वे किसी भी प्ररूप और योग्यता वाले हों, दिलचस्पी है ।" वह कहता है कि ज्ञान और अनुभव का समन्वय मानवीय रूप में होना चाहिए ।

व्यवहारवादी के लिए समेकन करने वाला तत्त्व साधारणतया छात्र का जीवन और अनुभव, और विशिष्ट, रूप से, उसका वर्तमान कार्य होना चाहिए । वह यह जानता है कि मनुष्य के ज्ञान और कौशल के लाखों रूप हैं, और यह कहना निरर्थक है कि ज्ञान और कौशल के क्षेत्र को बहुत विस्तृत करके समेकन किया जा सकता है । पर वह शिक्षक से यह स्मरण रखने को कहता है कि उसके सामने एक मन है, और यह बताता है कि वह मन ज्ञान और कौशल की जो एकता हासिल करता है, वह तो ही निश्चित रूप से प्राप्त हो सकता है यदि वह ज्ञान और कौशल किसी सप्रयोजन कार्य से, किसी वांछित लक्ष्य की सिद्धि के लिए, प्रयत्न करने से, पैदा हो । व्यवहारवादी विधियां बालक को निश्चित रूप से अनुभव करा देती हैं कि उसकी शिक्षा के विविध पहलू परस्पराश्रित हैं ।

स्पष्टतः ये बातें माध्यमिक विद्यालय के काम में याद दिलाना विशे रूपष से आवश्यक हैं । वहीं हम विशेष रूप से यह भूल जाया करते हैं कि "अलग-अलग विषय उस विषय के पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए नहीं बनाए गए, बल्कि वे विषय ऐसे उपकरण और साधन हैं जिन्हें मानव-जाति ने इस जगत् को समझने के लिए, जिसमें वह रहती है, अपने अनुभव में से निकाल कर रखा है" । व्यवहारवादी यह कहता है कि उच्च शिक्षा के पवित्र क्षेत्र में भी समेकन की समस्या हल करना आवश्यक है । शिक्षा की बेकार बातों को बाहर निकाल फेंकना चाहिए और शेष का छात्र के जीवन से सार्थक सम्बन्ध जोड़ना चाहिए । अमरीका में व्यवहारवादी अपने इन विचारों के अनुसार ही कार्य करता है । प्राथमिक विद्यालयों में उसने शिक्षा की समेकित प्रणालियाँ चालू की हैं, और माध्यमिक विद्यालयों की समस्या हल करने के लिए दीर्घकाल तक परीक्षण किए हैं । इस देश के निवासियों को उससे निस्संदेह बहुत कुछ सीखना है और उसका अनुकरण करके हम बड़ा लाभ उठा सकते हैं ।

व्यवहारवाद शिक्षा के प्रक्रम के समेकन पर जो बल देता है, उससे हम

सहर्ष सहमत हैं, पर इस सिद्धांत को पूरी तरह लागू करने में दो-तीन बातें बाधक बनती हैं। यह पूछा जा सकता है कि फिर परीक्षाओं के बारे में क्या होगा। इस प्रश्न का विनीतता से उत्तर देना कठिन है। पर रेमान्ट ने इसका बड़ी विनीतता से, और साथ ही स्पष्टता से, यह उत्तर दिया है : "यदि वर्तमान परीक्षा प्रणाली को स्थिर माना जाए, जिसे हटाया नहीं जा सकता, तो अच्छा यह हो कि हम शिक्षा के बारे में सोचना ही बन्द करदें"। नरम शब्दों में कहा जाए तो बाहरी परीक्षाओं की पद्धति से कोई विशेष लाभ नहीं होता, पर यदि उसी पद्धति के कारण हम शिक्षा के एक ठोस सिद्धांत को लागू नहीं कर पाते, तो हमें उसे बदलने के लिए निरन्तर यत्न करना चाहिए और यह आग्रह करना चाहिए कि हमारे परिणामों को ऐसी विधियों से मापा जाए जो नए चलन के अनुरूप हों और उसे परिणामों के कृत्रिम पैमाने से न नापा जाए।

यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती कि विशेषज्ञ अध्यापकों की प्रणाली समेकन को बेकार कर देती है। चमार के लिए चमड़े से बढ़कर कोई चीज नहीं, और गणित या लैटिन के विशेषज्ञ अध्यापक के लिए बहुधा गणित या लैटिन के अलावा और कोई महत्त्व की चीज नहीं। पुराने ढंग के प्राथमिक विद्यालय में, जिसमें एक अध्यापक एक कक्षा को सब विषय पढ़ाता था, समेकन अधिक आसानी से हो जाता था। इस दृष्टिकोण से यह पद्धति निस्संदेह अच्छी थी, परन्तु आज इस विषय पर सामान्यतः शिक्षा-शास्त्री एक मत हैं कि कुछ शर्तों पर विशेषज्ञ अध्यापक, कुल मिलाकर, वांछनीय वस्तु है। इस प्रकार, एसोसिएशन आफ एजूकेशन कमिटीज और नेशनल यूनियन आफ टीचर्ज की मिली-जुली कमेटी ने यह सिफारिश की है कि "सब उच्च विद्यालयों में विषय के विशेषज्ञों का होना वांछनीय है", परन्तु "विषय की विशेषज्ञता होने पर नियमित स्टाफ सम्मेलन और अध्यापकों में एक-दूसरे से बहुधा परामर्श परम आवश्यक हो जाता है। इसी तरह स्कूल का काम अच्छी तरह से सूत्रबद्ध हो सकता है और इसी तरह अलग-अलग छात्र के कार्य और चरित्र का पर्याप्त नाप हो सकता है"।

इसकी तुलना अमरीका में किए गए व्यापक सुधारों से की जा सकती है। इस देश में बहुत सारे शिक्षा-शास्त्री रूढ़िप्रिय रवैया रखते हैं और वे यह कहते हैं कि विषयों का अलग-अलग और विशेष रूप से पढ़ाना कुछ दूर तक सुविधा

की दृष्टि से और विषय को आद्योपान्त जानने की दृष्टि से उचित मालूम होता है। पर हम इस बात से सहमत हैं कि इसके अति की सीमा में पहुँच जाने का खतरा है, और इसलिए हम प्रतिबंधों का स्वागत करते हैं। व्यवहारवादी सिद्धांतों की दृष्टि से भी पाठ्य-क्रम का विषयों में विभाजन निन्दनीय नहीं हो सकता। यदि किसी समस्या को सफलता से हल करने के लिए गणित के नियम या वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता, और ऐसे ज्ञान की आवश्यकता है जिसे प्राप्त करने के लिए उस विषय का प्रगाढ़ अध्ययन आवश्यक है, तो स्पष्टतः उस समस्या को तब तक के लिए उठा रखना होगा, जब तक वह ज्ञान प्राप्त न हो जाए। कोई व्यवहारवादी शिक्षा इतने पृथक्करण का विरोध नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि छात्र इस समय जिस समस्या को हल करने में लगा हुआ है, सिर्फ उस पर ही विचार नहीं करना है। शिक्षा के परिणामस्वरूप छात्र में बाद के जीवन की समस्याओं को हल करने की क्षमता आ जानी चाहिए और उसकी पढ़ाई इसमें सहायक होनी चाहिए। उसका आज का अनुभव भविष्य के उपयोग के लिए पूँजी के रूप में जमा हो जाना चाहिए। जिन्हें हम 'विषय' कहते हैं वे मनुष्य जाति का पुँजीभूत अनुभव हैं और छात्र को सांझे अनुभव की इस दुनिया का आजाद नागरिक हो जाना चाहिए। यह बात भी व्यवहारवादी मान लेगा, पर वह इस बात पर बल देगा कि अनुभव का यह संचय एक सक्रिय प्रक्रम होना चाहिए, और इन अध्ययनों को हमें ज्ञान की निःस्वार्थ उपलब्धि के बजाए जीवन की परिस्थितियों से जूझने में उनकी उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। इस प्रकार इतिहास का अध्ययन आजकल की घटनाओं को हल करने की शक्ति पैदा करेगा और गणित भौतिक वातावरण को सँभालने और सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं को संगठित करने के साधन प्रस्तुत करेगा।

नैतिक प्रशिक्षण के विषय में यह कहना सामान्यतया सही है कि व्यवहारवाद प्रकृतिवाद की अपेक्षा जिम्मेदारी की अधिक भावना रखता है। शिक्षा की व्यवहारवादी प्रणालियां जिस स्वतंत्र कार्य-व्यवहार की हामी हैं, उसकी स्वतंत्रता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं है, क्योंकि अध्यापक वहां सुनिश्चित रूप से सलाहकार और पथ-प्रदर्शक की हैसियत में ही नहीं है, बल्कि अपने चुने हुए कार्य के अनुसरण से स्वयं आत्म-अनुशासन को बढ़ावा मिलता है। हम व्यवहारवादियों

का यह दावा मान सकते हैं कि छात्र के स्वतंत्र, सुखमय और सप्रयोजन कार्य से प्रारंभण (Initiative) और स्वतंत्रता की स्थायी अभिवृत्तियां पैदा होने की संभावना है, और कि उसके निरर्थक कामों के बजाए वास्तविक कामों में व्यस्त होने से वह नैतिक अनुशासन पैदा होगा जो किसी वास्तविक सृजनात्मक कार्य में भरसक परिश्रम करने से पैदा होता है। स्कूल के उन कार्यों से, जो समुदाय के कार्यों जैसे होते हैं—और स्कूल समुदाय का एक छोटा रूप ही है—जो नागरिकता का प्रशिक्षण मिलता है, वह अभिनन्दनीय है, और क्योंकि स्कूल दुनिया का प्रतिबिम्ब होने के अलावा एकमात्र बच्चों के हितों की दृष्टि से ही आयोजित होता है, इसलिए हम यह मान सकते हैं कि स्कूल की गतिविधियों से मिलने वाली चरित्र की शिक्षा उस शिक्षा से भी अच्छी होगी जो स्कूल से बाहर वास्तविक कार्यों में भाग लेने से मिलेगी।

पर जब कुछ पक्के व्यवहारवादी यह कहने लगते हैं कि प्रत्येक नई पीढ़ी को स्वयं अपने नैतिक मानदण्ड बनाने हैं, और कि पुरानी पीढ़ी को अपना यह परम्परागत अधिकार छोड़ देना चाहिए कि वह नयी पीढ़ी को विचार और आचरण के आदर्श सौंपा करे, तब हमें कुछ अधिक संशय होने लगता है। यह चेतावनी तो स्वीकार की जा सकती है कि इन मानदण्डों को जबर्दस्ती लादना अनुचित है, पर नन की यह बात हमें ठीक जंचती है, जो उसने शिक्षा में सुझाव (Suggestion) के उचित प्रयोग के प्रसंग में कही है, कि अध्यापक को यह अधिकार है कि वह "अपना उत्कृष्टतर ज्ञान और जीवन का अनुभव सबके लिए खोल दे, जिसमें से उसके छोटे से समुदाय के नए पनपते हुए मन अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार ग्रहण कर सकें"। यहाँ आकर व्यवहारवाद और अध्यात्मवाद एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, क्योंकि अध्यात्मवाद यह मानता है कि संसार में कुछ नैतिक सिद्धान्त हैं जिनकी मान्यता नित्य तथा स्थान और काल से निरपेक्ष है। इनके अनुसार पुरानी पीढ़ी की तरह नई पीढ़ी का जीवन भी चलना चाहिए। इसलिए वे नई पीढ़ी को सौंपना आवश्यक है, चाहे फिर वे कितनी ही भद्रता और आडम्बरहीनता से सौंपे जायँ। शायद व्यवहारवाद ने शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग को जो सबसे अधिक निराली और गहरी देन दी है, वह योजना विधि या प्रोजैक्ट मैथड की है—यह विधि एक निश्चित क्रियात्मक समस्या हल करने को सीखने के प्रक्रम का मुख्य अंग समझती है। पहले समस्या

आनी है और इसके सफल समाधान के प्रासंगिक रूप में शिक्षा मिलती है। छात्र को जैसे-जैसे सिद्धान्तों, कौशलों और विधियों की आवश्यकता होती है, वैसे-वैसे वह उन्हें सीखता है। ज्ञान का कोई तर्कसंगत संव्यवस्थापन (Arrangement) महत्त्वपूर्ण और वांछनीय माना जाए तो भी वह दूरस्थ ध्येय है।

स्टिवेन्सन ने शिक्षण की परियोजना की यह साहसपूर्ण परिभाषा की है कि "कोई समस्या-पूर्ण कार्य, जिसे उसकी प्राकृतिक परिस्थितियों में पूरा किया जा सकता है"। उसका "प्राकृतिक परिस्थितियों" का स्पष्ट उल्लेख अधिकतर इस देश के क्रियात्मक अध्यापकों को स्तब्ध कर देता है। शायद परियोजना की यह संशोधित परिभाषा अधिक स्वीकरणीय होगा कि "कोई स्वेच्छयाकृत उपक्रम जिसमें रचनात्मक प्रयत्न या विचार करना पड़े और जिसके परिणामस्वरूप वैषयिक (Objective) परिणाम पैदा हों"। पर इन दोनों बातों का आधारस्थ विचार यह है कि स्कूल के काम उतने ही वास्तविक और प्रयोजनपूर्ण होने चाहिएँ जितने स्कूल से बाहर के विस्तृत जीवन के काम, कि वे इस प्रकार के होने चाहिएँ कि छात्र कोई वांछनीय और स्पष्टतः सिद्ध किया जा सकने वाला लक्ष्य प्राप्त करने के वास्ते उन पर कार्य करने के लिए सचमुच उत्सुक हों।

परियोजनाएँ व्यष्टिगत ढंग की या सामाजिक ढंग की हो सकती हैं, पर सामाजिक ढंग की परियोजनाएं, जिन्हें अमरीकन लेखक 'समाजीकृत कार्य' (Socialized activities) कहते हैं, अधिक उत्कृष्ट मानी जाती है। वे सब से अधिक महत्त्वपूर्ण तब होती हैं जब उनमें, सामाजिक सम्बन्धों में भाग लेना, श्रम का विभाजन, समुदाय के प्रति दायित्व खुशी से स्वीकार करना, आदि कार्य होते हैं, अर्थात् जब वे समूह-कार्य होते हैं, जिनसे सहयोग का प्रचुर अनुभव प्राप्त होता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ऐसी परियोजनाओं को पूरा करने से मनुष्य उलझन-भरे समाज में अपना उचितहिस्सा लेने की महत्त्वपूर्ण तैयारी कर लेता है।

शिक्षा की आरम्भिक अवस्था में ये परियोजनाएँ खेल-कूद की भावना से बनायी और पूरी की जा सकती हैं। बच्चों के स्कूलों में परिवार, डाकखाने, दुकानें, खेत और नगर बनाकर खेल खिलाए जाते हैं। पर इन बनावटी परिस्थितियों में किए जाने वाले कार्य यथासम्भव वास्तविक होते हैं। स्पष्ट है कि छोटे बच्चों में वही परियोजना शिक्षा की दृष्टि से सफल परिणाम पैदा कर

सकती है जिसके निष्पादन में निरक्षरता और गिनतियों को समझने की तथा छोटी-छोटी धन सम्बन्धी गणनाएं करने की अयोग्यता गम्भीर रुकावट बनती हैं। इसलिए पढ़ाई-लिखाई और सरल अंकगणित शुरू करा दी जाती है, क्योंकि बच्चा अपनी परियोजना की पूर्ति में उनकी आवश्यकता अनुभव कर लेने के बाद इसे प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो जाता है।

परियोजना पद्धति के मानने वाले यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा की बाद की मंजिल पर ऐसी परियोजनाएं बनाना आसान नहीं, जो काफी विस्तृत हों। तो भी कोई ऐसा कार्य, जैसे नाटक खेलना, उपयोगी हो सकता है क्योंकि उसमें बोलना, गाना, साहित्य, दस्तकारी, सुई के काम और कला की आवश्यकता होगी। खर्च की योजना बनाने, हिसाब-किताब लिखने और बैलेंसशीट तैयार करने में धन सम्बन्धी गणनाएं तो करनी ही होंगी, और रंगमंच पर प्रकाश आदि की व्यवस्था में प्रायोगिक विज्ञान की भी आवश्यता पड़ेगी।

विभिन्न प्रकार के स्कूलों और विभिन्न आयुओं के छात्रों के लिए कोई परियोजनाएं सुझाना व्यर्थ है, क्योंकि कोई संतोषजनक परियोजना स्वयं स्कूल का कार्य है, और इसलिए वह बाहर से किसी का बताना लाभदायक नहीं हो सकता। यदि परियोजनाएँ नियत कर दी जायँ तो इनमें वही औपचारिकता पैदा हो जायगी जिससे बचना परियोजना विधि का मुख्य उद्देश्य है। वे तो प्रत्येक स्कूल के जीवन और कार्य में स्वभावतः पैदा होनी चाहिए। इन पंक्तियों के लेखक को कुछ समय पहले बताया गया था कि एक माध्यमिक विद्यालय की वाटिका पानी न मिलने के कारण सूख रही थी, पर बदकिस्मती से उस समय सिंचाई के लिए पानी के प्रयोग को म्युनिसिपल अधिकारी बुरा समझते थे। पर विज्ञान के एक चतुर अध्यापक को जमीन पर एक ऐसी जगह दिखाई पड़ी जो सदा गीली रहती थी। उसने यह अनुमान किया कि वाटिका के अन्दर ही पानी का ऐसा सोता मौजूद है जिस पर म्युनिसिपल अधिकारियों का कोई नियंत्रण नहीं। उसने एक कुआं गलाने की परियोजना सोची। कहना न होगा कि इसउपक्रम में उसके लड़के बड़ी उत्सुकता से उसका साथ देने को तैयार हो गये। आप समझ सकते हैं कि उस परियोजना को पूरा करने में कितना सारा प्रायोगिक विज्ञान लड़कों ने सीखा होगा और एक कठिन काम को सफलतापूर्वक पूरा करने का नैतिक मूल्य भी मामूली नहीं है। अध्यापक ने चतुराई से लड़कों को यह बात करके देखने के लिए कहा

कि पत्थर का भार जितना हवा में है, पानी में उससे कम है। इसका परिणाम यह हुआ कि लड़के इस विचित्र तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए आर्शीमिडीज के नियम के बारे में जानने के लिए उत्सुक हो गए। घिरनियों (Pulleys) की आवश्यकता पड़ी और इस प्रकार यात्रिकी (Mechanism) का पाठ पढ़ाया गया। एक लड़का पानी का स्तर बताने वाला पैमाना चाहता था। यह आसानी से बना दिया गया पर लोकमत इस पक्ष में था कि कोई डायल वाला पैमाना अधिक सुन्दर जँचेगा। इस प्रकार ऋजुरेखीय (Rectilinear) गति को वर्तुल गति (Circular Motion) में परिवर्तित करने की छानबीन हुई। यह सब चीज बड़ी प्रशंसनीय है। जब ऐसी स्थिति आ जाए तब विज्ञान के अध्यापक को खुशकिस्मत समझिए। ईश्वर का दिया हुआ अवसर मानकर इसका पूरा उपयोग करना उसकी बुद्धिमत्ता का सूचक है।

एक बड़े पैमाने की तथा दीर्घकालिक परियोजना का उल्लेखनीय उदाहरण लोढम ग्रेंज बोर्स्टाल इंस्टीट्यूशन में दूसरा महायुद्ध शुरू होने से पहले तक मिलता था। इस संस्था में बाल अपराधियों को पुनः शिक्षित करने का अत्यधिक साहस-पूर्ण और सफल प्रयोग किया जा रहा था। इस परियोजना में उन बालकों ने स्वयं पूरे के पूरे ऐसे अच्छे भवन बनाये हैं जिन्हें देखकर उन कालेजों को ईर्ष्या हो सकती थी जिनमें निर्दोष चरित्र के छात्र रहते हैं। इतने लम्बे और महत्त्व-पूर्ण कार्य का शिक्षण सम्बन्धी महत्त्व जितना समझा जाए, उतना ही थोड़ा है। चूंकि यह कार्य एक योग्य, उत्साही और नई रोशनी के अधिष्ठाता (श्री सी०टी० केप) की देख-रेख में किया गया था, अतः उन लड़कों ने एक उस्ताद शिल्पी की देख-रेख में एक न एक धंधा तो सीख ही लिया, साथ ही उन्हें सेवा और सहयोग की भावना में इतना अधिक पुनः शिक्षित किया गया जितना नैतिक उपदेशों की बहुत बड़ी मात्रा से भी होना सम्भव नहीं था।

परियोजनाओं के ऐसे उदाहरणों के विषय में सचमुच उत्साह रखते हुए भी यह बात ज़रा विचारणीय है कि क्या सारी शिक्षा का इस रूप में संगठन करना व्यवहार्य है। यदि यह व्यवहार्य हो, तो भी यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या परियोजना विधि का यह अर्थ है कि हम पहले से यह फैसला नहीं कर सकते कि हमारे छात्रों को क्या सीखना चाहिए। यह व्यवहारवाद का चरमरूप तो अवश्य होगा और यदि व्यवहारवादी इस कठिनाई को हल करने की ओर ध्यान न दें

तो अधिक अध्यात्मवादी लोग उनसे सहमत न हो सकेंगे, पर परियोजना विधि के अधिकतर पक्षपाती ऐसी बात के पक्ष में नहीं। वे मोटे तौर से यह तय कर देते हैं कि वे अपने छात्रों को क्या सिखाना चाहते हैं, और इन चीजों की स-प्रयोजन शिक्षा देने के लिए ऐसी परियोजनाएँ सोचते हैं जो बहुधा बड़ी प्रतिभा प्रदर्शित करती हैं। आखिरकार, सीखने के मामले में परियोजना तानाशाही ढंग की न हो जानी चाहिए।

पर यदि ऐसा हो जाए, तो भी बहुत से अध्यापक यह महसूस करेंगे कि किसी भी परियोजना या परियोजना समूह से छात्रों के ज्ञान में बहुत सी कमियाँ रह जायँगी। कारण यह है कि सारी शिक्षा परियोजनाओं के साथ प्रासंगिक रूप से मिलनी है। इसलिए उसमें कमियाँ या कम से कम अस्पष्टता और ज्ञान में व्यवस्था का अभाव अवश्य रहेगा। अधिकतर व्यावहारिक शिक्षक प्रोफेसर गोडफ्रे टामसन के इस कथन से सहमत होंगे कि प्रासंगिक शिक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी काफी नहीं है। शायद हमारा यह दकियानूसी विचार सही है कि शिक्षा में कम से कम कुछ न कुछ तर्कसंगत व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए और परियोजनाओं में जो कुछ सीखा जाता है, उसको व्यवस्थित और संगठित करने की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान का संगठन करने से न केवल प्रयास की बचत होती है, इससे वह ज्ञान भविष्य के उपयोग के लिए पूंजी के रूप में जमा भी हो जाता है। इसलिए हम टामसन के इस सतर्क निष्कर्ष से सहमत हैं कि "नियमित प्रशिक्षण और प्रासंगिक शिक्षण का विवेकपूर्ण मिश्रण संभाव्यतः सर्वोत्तम है"।

यदि हम, संभवतः अपनी रूढ़िवादिता के कारण, परियोजना विधि के, जो वास्तविक वातावरण में वास्तविक जीवन की सामग्री का प्रयोग करना चाहती है, शब्दों को स्वीकार नहीं करना चाहते, तो हम इसकी भावना को तो स्वीकार कर ही सकते हैं, और असल में भावना ही असली महत्त्व की चीज है, और इस बारे में कोई संशय नहीं है कि वह भावना क्या है। यह, रेमोण्ट के शब्दों में, छात्र का पूरे दिल से किया हुआ प्रयोजन है। अमेरिकन शिक्षक, जिन्होंने असली परियोजना विधि का प्रयोग आरम्भ किया, यह दावा नहीं करते कि इन्होंने स्वयं-शिक्षा के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का आविष्कार किया है, यद्यपि उनका यह दावा करना उचित होगा कि उन्होंने इसका अधिक व्यापक प्रयोग आरम्भ

किया है। बहुत दिन पहले एडम्स ने इस देश में अध्यापकों को कुछ जर्मन शिक्षकों के ज़ीलांगे (Zielangay) के विषय में बताया था। इसका अर्थ यह है कि पाठक का उद्देश्य या प्रयोजन शुरू में ही बता देना, और यह आदर्श अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है। यह बात निःसन्देह ठीक है कि पुराने ढंग के पाठ या पाठों में भी उद्देश्य या प्रयोजन छात्रों के सामने पेश करके उसे उनके सामने रखे रहना चाहिए ताकि उन्हें कभी अनुमान से यह न जानना पड़े कि उसका पाठ किस विषय में है। हम इस विचार को पूरी तरह स्वीकार करते हैं कि सीखने के प्रक्रम के पीछे स्पष्टतः महसूस किये गये प्रयोजन या उद्देश्य की प्रेरणा होनी चाहिए।

गणित संबंधी विषय का पाठ साधारणतया किसी प्रश्न से आरम्भ होना चाहिए, जिससे उस समस्या को हल करते हुए नया ज्ञान पैदा हो। पर यह आवश्यक नहीं कि वह प्रश्न व्यावहारिक ढंग का हो। बुद्धि स्वयं प्रश्न बना सकती है और उनका हल सोच सकती है, और इस अवस्था में भी शिक्षा वैसी ही स-प्रयोजन होगी जैसी पहली अवस्था में। अध्यायन का मुख्य आधार व्यवहारिक समस्या को बनाया जाय या बौद्धिक समस्या को, यह बात, पूरी तरह, सीखने वाले की अभिरुचि पर निर्भर है। ऐसा प्रश्न छांटना चाहिए जो सीखने के प्रक्रम में अधिकतम प्रेरणा और उद्देश्य दे सके। ऐसी प्रक्रिया में हम कम-से-कम परियोजना के मार्ग पर तो हैं, और इसकी भावना पर तो पूरी तरह से हैं ही। यह मानकर कि बौद्धिक प्रश्न कुछ छात्रों को अपेक्षित उद्दीपन दे सकेंगे, हम शिक्षा के उपयोगितावादी पहलू पर अधिक बल देने के विषय में की जानेवाली आलोचना से बच जाएंगे, जो परियोजना विधि पर ठीक ही की जाती है।

शिक्षण में उद्देश्य प्रस्तुत करने के उदाहरण आसानी से बढ़ाये जा सकते हैं। कुछ स्कूल भूगोल की शिक्षा में उद्देश्य का अंश लाने के लिए अपने छात्रों को किसी खास जहाज़ की यात्रा का हाल साथ-साथ बताते जाते हैं और योजना के परिणाम बड़े उत्साहवर्धक होते हैं। विज्ञान सीखने की यह विधि भी है कि 'यह कैसे काम करता है'। बजाए इसके कि धारा-विद्युत् (Current Electricity) के सिद्धान्त पढ़कर उन्हें बाद में बिजली की घंटी पर लागू किया जाय, छात्र असली घंटी से शुरू करता है, और इसके कार्य करने के तरीके को समझने की कोशिश करता हुआ सामान्य विज्ञान के सिद्धान्तों का पता लगाता है। अधिकतर

लड़के मोटर साइकिल के चलने के ढंग को समझने में बड़ी दिलचस्पी रखते हैं, पर उसके अन्तर्गत जो सिद्धान्त आते हैं, उनकी कोरी व्याख्या में दिलचस्पी नहीं लेते। यदि कोई संस्था वैज्ञानिक सिद्धान्त पढ़ाए तो बच्चे उसमें कोई खास दिलचस्पी नहीं लेते, पर यदि विज्ञान की शिक्षा रेडियो सेट के निर्माण को आधार बनाकर दीजिए तो हाल बहुत भिन्न होगा। हम यह मानते हैं कि विज्ञान की ऐसी सोद्देश्य शिक्षा बड़ी उत्तम है, पर साथ ही यह भी मानते हैं कि उन छात्रों के लिए, जिनकी दिलचस्पी मुख्यतः बौद्धिक है, प्रयोग से पहले सिद्धान्तों को बुद्धिपूर्वक अध्ययन करना भी उचित है, क्योंकि, जैसा कि रस्क ने कहा है, हम यह नहीं मान सकते कि "व्यवहारवादी विधि का प्रयोग करने का एक मात्र विकल्प यह है कि विचारहीन होकर किसी नियम को पकड़ लिया जाय। किसी नियम को बुद्धिपूर्वक भी लागू किया जा सकता है।"

यह बात बताने के लिए कि हम अपने अध्यापन में व्यवहारवाद और परियोजना विधि के शब्दों को बिना पकड़े भी इनकी भावना ग्रहण कर सकते हैं, शायद काफी उदाहरण प्रस्तुत किये जा चुके हैं। इस विचार को समाप्त करते हुए इस संबंध में रेमोंट के निष्कर्ष उद्धृत कर देना बहुत अच्छा होगा;

"परियोजना विधि शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोत्तम सेवा यही कर सकती है कि वह यह सुझाव पेश करदे कि स्कूल के साधारण से साधारण पाठ में भी छात्र को अधिक से अधिक प्रयोजन और उद्देश्य से परिपूर्ण होना चाहिए। पर यदि यह विधि हमारे अन्दर यह विचार पैदा कर देती है कि वास्तविक जीवन में बड़ा आदमी जो कार्य करता है, उनकी नकल करने वाली एक खास प्रकार की प्रक्रिया स्कूल जीवन की सब बुराइयों को दूर कर सकती है तो यह परियोजना विधि की सबसे बड़ी कुसेवा होगी।"

अध्याय ७

स्वतन्त्रता और अनुशासन

(Freedom and Discipline)

हम मोटे तौर से यह देख चुके हैं कि विभिन्न दर्शनों से विभिन्न शिक्षा-प्रणालियों का जन्म होता है। विलोमतः, शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों पर जो विचार-भिन्नता है, वह अंततोगत्वा दार्शनिक मत-भिन्नता है। अब हम शिक्षा के कुछ विवाद योग्य विषयों पर अपनी दार्शनिक चर्चा की पृष्ठभूमि में यह दिखाने की आशा से विचार करेंगे कि ऐसे वाद-विवाद वस्तुतः दार्शनिक वाद-विवाद हैं, और कि उन पर तब तक कोई सहमति नहीं हो सकती जब तक इस बात पर ऐकमत्य न हो जाए कि हमारा शिक्षण-कार्य किस दर्शन पर आधारित हो।

ऐसा ही एक प्रश्न स्वतन्त्रता और अनुशासन का है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस प्रश्न पर विस्तृत राजनैतिक अर्थ में विचार करना लाभदायक हो सकता है, पर यहाँ हम इस पर स्कूल के प्रसंग में ही विचार करेंगे। शिक्षण के इन दोनों आदर्शों में सदा एक द्वन्द्व चलता रहता है; कभी स्वतन्त्रता का पक्ष प्रबल हो जाता है और कभी अनुशासन का। पर यह तो सीधी बात है कि अनुशासन ही शिक्षा की परम्परागत अवधारणा है। शिक्षा अनुशासन या प्रशिक्षण का नाम है, यह विचार युगों से आज तक माना जाता रहा है। सदा, या प्रायः सदा, शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले हमारे पूर्वज अपना यह काम मानते थे कि वे बच्चे पर प्रभाव डालें और उसकी मूल प्रकृति को परिवर्तित करें जिससे एक वांछनीय और स्पष्टतः निर्धारित परिणाम पैदा हो सके। शिक्षा की यह अवधारणा १९वीं शताब्दी के मध्य भाग में फैली हुई थी। यह बात **बुक आफ प्रोवर्ब्स** (ओल्ड टेस्टामेंट का एक भाग) के उस उद्धरण से स्पष्ट है जिसे वेस्टमिन्स्टर कालेज के संस्थापकों ने कालेज के मुख्य द्वार के

ऊपर लगाया था; "बच्चे को उस मार्ग की शिक्षा दो जिससे उसे चलना चाहिए। और जब वह बड़ा हो जायगा तब भी वह इससे नहीं हटेगा।" पर १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद के वर्षों में दूसरा पक्ष बड़ा प्रबल हो गया। "स्वतन्त्रता के द्वारा शिक्षा" के नारों से आकाश गूँज गया। हम से यह कहा गया कि बच्चों को बंधन और अनुशासन में रखने का प्रयत्न मत करो, बल्कि इसके बजाय उन्हें स्वतन्त्रता से अपने आपको अभिव्यक्त करने का अवसर दो और हम में से बहुत से लोग यह निश्चय न कर सके कि क्या करना उचित है। एलडस हक्सले ने इस मामले में हमारी निश्चयहीनता की प्रबल निन्दा की है। आपने लिखा है :

"हम छोटे बच्चों को आजादी, बुद्धि, दायित्व, और स्वेच्छया सहयोग के लिए शिक्षित करते हैं। बड़े बच्चों को हम, परंपरा को निष्क्रिय रहकर स्वीकार कर लेने के लिए और आधिपत्य अथवा दासता के लिए शिक्षित करते हैं। इस तथ्य से पश्चिमी लोकतंत्रों में व्याप्त उद्देश्य की अनिश्चितता सूचित होती है। हमारे दिमागों में पुरानी पितृमूलक समाज की परम्परा, और स्वतन्त्रता तथा लोकतंत्र की नई और सर्वथा बेमेल आकांक्षा इकट्ठी रहती हैं। स्वतन्त्रता और लोकतंत्र के उत्साह में हम छोटे बच्चों को स्वतन्त्र और स्वयं अपना शासन करने वाले व्यक्तियों के रूप में शिक्षित करते हैं। उसके बाद हम भयभीत हो जाते हैं और यह सोचकर कि हमारा समाज अब भी सोपानतंत्रीय (Hierarchical) और बहुत मात्रा तक प्राधिकारवादी (Authoritarian) है, हम अपनी सारी ताकत इस बात में लगा देते हैं कि उन्हें या तो शासकों के रूप में शिक्षित करें और या निष्क्रिय दासों के रूप में।

शिक्षा के ये दोनों विचार वास्तव में कितनी दूर तक एक दूसरे से अलग हैं, यह स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें अनुशासन शब्द के अर्थ पर विचार करना होगा। बहुत बार 'अनुशासन और व्यवस्था' शब्दों के बीच लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। लेखक को एक बड़े अच्छे पुराने ढंग के ड्रिल मास्टर की याद आती है जो छात्रों से यह कहा करता था कि तुम मेरे पास ड्रिल और अनुशासन सीखने आते हो। उसके इस कथन में उसका यह विचार बड़े स्पष्ट रूप में ध्वनित हुआ करता था कि वह अपनी व्यायामशाला में अपने विद्या पढ़ाने वाले साथी अध्यापकों के परिश्रम की मूल्यवान् अनुपूर्ति कर रहा है, पर उसकी विधियों से यह निश्चित हो जाता था कि असल में उसके मन में जो चीज है वह व्यवस्था

(Order) है, और यह कह देना उचित होगा कि जहां तक व्यवस्था कायम रखने की योग्यता का सम्बन्ध था, उसके अधिकतर विद्या पढ़ाने वाले सहयोगी इसके समान ही योग्य थे। यह मानते हुए भी कि काम शिष्टता और व्यवस्था से करना प्रायः वांछनीय होता है और कि व्यवस्था से दक्षता और प्रयास की मितव्ययिता पैदा होती है, यह कहा जा सकता है कि बहुत अच्छी व्यवस्था बहुत बुरा अनुशासन भी हो सकती है। दूसरी ओर, यह सामान्यतया सही है कि वस्तुतः अच्छे अनुशासन से सदा व्यवस्था पैदा होने की प्रवृत्ति रहती है। इन दोनों में वास्तविक सम्बन्ध क्या है ?

रस्क हमें यह बात याद दिलाता है कि हरबार्ट के लेखों में इन दोनों का अंतर बिलकुल स्पष्ट था। उसने दो शब्द रखे थे : जुख्ट (Zucht) जिसका अर्थ है अनुशासन या प्रशिक्षण, और रेगी रुंग (Regie Rung) जिसका अर्थ है शासन या व्यवस्था। रेगी रुंग स्कूल में और कक्षा में छात्र के आचरण का संकेत करता है पर जुख्ट का अर्थ अधिक विस्तृत और ऊँचा है। यह 'चरित्र का प्रशिक्षण' (Character Training) अर्थात् चरित्र-निर्माण का वाचक है, और इस दिशा में स्कूल के सारे प्रभाव को निर्दिष्ट करता है। शासन या व्यवस्था का लक्ष्य वर्तमान काल में है, पर प्रशिक्षण बालक के भविष्य की दृष्टि से होता है। "कक्षा में पाठ के समय शांति और व्यवस्था बनाए रखना, अध्यापक के प्रति जरा भी असम्मान न प्रदर्शित होने देना शासन या व्यवस्था का काम है; लड़कों को सुसंस्कृत बनाने के लिए उनके स्वभाव पर सीधा प्रभाव डालना प्रशिक्षण या अनुशासन है"। हरबार्ट की दृष्टि में शिक्षण का लक्ष्य नैतिकता था, पर क्योंकि उसका यह विश्वास था "कि इच्छा की जड़ विचार के खेत में जमती है", इसलिए वह शिक्षण को अपनी उद्देश्य-सिद्धि का मुख्य साधन मानता था। पर शासन या व्यवस्था के बिना शिक्षण नहीं चल सकता। इसलिए अच्छी व्यवस्था को भी लक्ष्य बनाना पड़ता था, जिससे छात्र शिक्षा से लाभ उठा सकें। इस प्रकार शासन या व्यवस्था अनुशासन पैदा करने का साधन थी। तथ्य तो यह है कि व्यवस्था और अनुशासन का आपस में साधन और साध्य का सम्बन्ध है। अनुशासन बड़ा विस्तृत अर्थ रखता है और यह सदा छात्र के चरित्र पर स्कूल के प्रभाव का वाचक होना चाहिए। यह बाह्य आचरण से ही वास्ता नहीं रखता, बल्कि आचरण के भीतरी उद्देश्यों या प्रेरक भावों से भी वास्ता रखता

है। इसे बोर्ड ग्राफ एजूकेशन ने बड़े स्पष्ट रूप में रखा है :

"ग्रनुशासन वह साधन है जिसके द्वारा बच्चों को व्यवस्थित रीति, ग्रच्छे ग्राचरण ग्रौर ग्रपना सर्वोत्तम उपयोग करने की ग्रादत की शिक्षा दी जाती है··· इसके ठीक होने की पक्की कसौटी यह है कि यह छात्रों की उस ग्राचरण की शुद्धता की वास्तविक भावना को निरूपित करता है या नहीं जिसकी उनसे ग्राशा की जाती है। इसे तब तक ग्रच्छा नहीं समझा जा सकता जब तक यह ग्राचरण के सम्बन्ध में ऐसे उत्तम विचारों की बुनियाद पर न खड़ा हो जो बच्चों के चरित्र का ग्रंग बन रहे हैं या बन गए हैं।"

नारमन मैकमैन ने ग्रपनी पुस्तक **दि चाइल्डस् पाथ टु फ्रीडम** में स्कूल की व्यवस्था की विधियों का बड़ा ग्रच्छा विश्लेषण किया है ग्रौर उन्हें दमन (Repression), प्रभाव (Impression) ग्रौर ग्राजादी या मुक्ति (Emancipation), इन तीन शीर्षकों में वर्गबद्ध किया है। यहाँ उसकी बातों पर विचार करना उपयोगी होगा—इसमें पहले तो हम उसके शब्दों का ग्रर्थ देखेंगे ग्रौर इसके बाद उसकी विधियों के मूल्य का चरित्र पर उनके प्रभाव की दृष्टि से कुछ ग्रंदाजा लगाएँगे।

दमनवादी हर समय पूर्ण शांति ग्रौर व्यवस्था चाहते हैं। कहा जाता है कि ग्रनिवार्य शिक्षा के ग्रारम्भिक दिनों में कभी-कभी एक पिन का गिर जाना भी बुरा समझा जाता था ग्रौर इंस्पैक्टर लोग इस ग्राधार पर ग्रनुशासन के मामले में स्कूल को सरकारी सहायता का ग्रधिकारी या ग्रनधिकारी मान लेते थे। यह तो मानना ही होगा कि स्कूल की व्यवस्था की मुख्य परम्परागत विधि कठोर दमन की विधि ही रही है जिसका मुख्य उपकरण शारीरिक दण्ड था, हालांकि महान शिक्षकों ने, जिनके विचार हम तक पहुँच सके हैं, इसको सदा बुरा माना है। शिक्षा के इतिहास की ग्रधिकतर पुस्तकों में हमें मध्यकालीन स्कूलों के खुदे हुए ऐसे चित्र मिलेंगे जिनमें ग्रध्यापक दण्ड देने के किसी साधन का प्रयोग कर रहा है, या प्रयोग करने को तैयार है। ग्रसल में, डण्डा ग्रध्यापक के पद का सूचक चिह्न था। प्रोफैसर कंबरली ने ग्रपनी **हिस्ट्री ग्राफ एजूकेशन** में बताया है कि—

"एक स्वेबियन ग्रध्यापक, जिसका नाम हावर्ली था, ग्रार जो ट्यूटोनिक काल की तरह सूक्ष्म बातों पर ध्यान देता था, यह ग्रभिलेख छोड़ गया है कि ग्रपने

५१ वर्ष ७ महीने के अध्यापन-कार्य में उसने मोटी गणना के अनुसार ६,११,५२७ बार छड़ी से; १,२४,०१० बार डंडें से; २०,६८६ बार फुट-रूल से; १,३६,७१५ बार हाथ से; १०,२३५ बार मुँह पर; ७,६०५ बार कनपटी पर; ११,१५,८०० बार सिर पर ताड़ना की; और २२,७६३ मामूली ताड़नाएँ बाइबिल, व्याकरण, प्रश्नोत्तरी, आदि, पुस्तकों से कीं। उसने लड़कों को ७७७ बार मुर्गा बनाया, ६१३ बार तिकोनी लकड़ी पर मुर्गा बनाया; ३,००१ को गदहे की पोशाक पहनाई और १७०७ को डंडा हाथ में उठाकर खड़ा रखा। उनके अलावा, उसने और बहुत से नए-नए दण्ड दिए जो उसे उसी वक्त सूझ गए। छड़ी की जो मार लगाई गई उसमें से ८,००,००० मार लैटिन शब्दों पर लगाई गई थी। डण्डे की मारों में से ७६,००० मारें बाइबिल के पाठों या गाने की पुस्तकों के बारे में थीं। वह बच्चों को डाँटने-डपटने के लिए ३०० पदावलियां प्रयोग करता था, जिनमें से दो-तिहाई तो जर्मन भाषा में प्रचलित थीं और शेष उसकी अपनी सूझ थीं।"

पुराने जमाने में, जिसे आमतौर पर अच्छा समझा जाता है, इतना अधिक दमन हो सकता था। इन संख्याओं को पढ़कर हमारे चेहरों पर गम्भीर मुस्कराहट आ सकती है पर इनका ध्वनितार्थ भयंकर और अमानुषिक है। बच्चों के जीवन निरन्तर भय और कष्ट से दुखी हो गए होंगे और अध्यापक का अधिकतर समय दण्ड देने और उसका विवरण अपनी दण्ड पुस्तक में दर्ज करने में लगता होगा। इस तरह का अमानुषिक दमन अब भूतकाल की चीज हो गया है, पर लेखक जैसे अधिक वृद्ध पाठकों को अपने स्कूल के जमाने की आतंक के राज्य की कटु स्मृतियां अब भी तंग करती होंगी, जिसमें शारीरिक दण्ड शासन-व्यबस्था का मुख्य साधन होता था। २०वीं शताब्दी के शुरू में स्काटलैंड में अध्यापक के पेशे का मुख्य उपकरण चमड़े का चाबुक होता था। उसकी अपने काम की मुख्य अर्हता उपद्रवी बच्चों की भीड़ को सख्ती से व्यवस्था में रखने की योग्यता ही होती थी। बच्चों से प्रेम करने से अनुशासन में ढिलाई होने का डर था।

दमन को सचमुच अच्छा मानने वाले लोग अपनी विधियों को सृष्टि में पाप के आने के सिद्धान्त के आधार पर उचित मानते थे। वे जैरेमिया के इस कथन को मानते हुए कि "दिल सबसे अधिक धोखा देने वाला है, और अत्यधिक दुष्ट

है", प्रोवर्ब्स के लेखक की इस बात से सहमत थे कि वे बीच-बीच में दण्ड देकर ही बच्चों को अधिकतम लाभ पहुँचा सकते थे। निस्संदेह वे यह सोचते थे कि जो अन्तिम ध्येय प्राप्त होने वाला है, उसकी तुलना में आज का कष्ट कुछ भी नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह कहा जा सकता है कि दमन की विधि भय नामक मोटिव या प्रेरक भाव पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है, और इसके द्वारा आचरण के कुछ मार्ग निर्धारित कर दिये जाते हैं और शेष मार्ग प्रतिषिद्ध कर दिए जाते हैं।

जहां तक विधि का सम्बन्ध है, प्रभाव दमन से बिलकुल उल्टी चीज है। दण्ड के स्थान पर शिक्षक के व्यक्तित्व की मजबूर करने वाली शक्ति आ जाती है। उसका वैयक्तिक प्रभाव और वह जो अध्यापन-प्रणाली सोचता और चलाता है उसका प्रभाव, यह फल पैदा करते हैं कि आचरण वांछित प्रकार का हो। इस प्रकार का शासन या व्यवस्था निजी आदर्श, सीधी नैतिक प्रेरणा और अच्छी अवस्थाओं के परोक्ष प्रभाव के जरिये होती है। आतंक के राज्य के स्थान पर आदर और प्रेम का राज्य होता है।

१९वीं शताब्दी के इंग्लिश पब्लिक स्कूलों में मुख्य प्रभाववादी स्कूल रग्बी का आरनोल्ड और अथिङ्गहम का थ्रिग थे। उन्होंने न केवल अपने छात्रों पर ही अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाला, बल्कि पब्लिक स्कूल शिक्षण की सारी पद्धति पर भी अपनी एक स्थायी छाप लगा दी। प्रभाववादी अपने श्रेष्ठतम रूप में बालक के उन जन्मजात नेताओं में होता है जिसके हल्के से इशारे का भी इच्छा और उत्सुकता से पालन किया जाता है। शायद हम में से बहुत से लोगों के मन में दमनवादियों की स्मृतियों के साथ-साथ कम-से-कम एक ऐसे जादूगर की मधुर स्मृतियां हैं, जिसका प्रभाव हम पर अब तक मौजूद है। यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि प्रभाववादी प्रणाली में भी शिक्षक की इच्छा बच्चे की इच्छा पर हावी होती ही है, कि यद्यपि वह पहले अच्छे साधन प्रयोग में लाता है, पर अंत में वह भी बल-प्रयोग का सहारा लेता है, कि वह आचरण के कुछ मानदण्ड निश्चित कर लेता है, जिन्हें वह अवश्य कायम रखने का यत्न करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वह भय की भावना को प्रेरित नहीं करता, पर वह भी बालक की अनुवर्ती सहज प्रवृत्ति (Submissive Propensity) को जान-बूझकर और सुनिश्चित रूप से प्रयोग में लाता है।

पर मुक्तिवादी (Emancipationist) दमन और प्रभाव दोनों को बुरा समझता है। वह बच्चे को बाधाहीन स्वतंत्रता देने का पक्षपाती है—बच्चा अपनी प्रकृति के अनुसार चलता हुआ जो चाहे करे और उसे भयंकर दुष्परिणामों के भय से या सचेत या अचेत रूप से उपदेश और उदाहरण के अनुवर्तन से कोई बाधा न पहुँचाई जाए। शिक्षक बच्चे की प्रवृत्तियों और आवेगों में तो कोई रुकावट डाले ही नहीं, वह उन्हें मार्ग दिखाने की कोशिश भी न करे। यह तभी हो सकता है जब वह अपने आपको खत्म कर दे, शोभा के साथ एक ओर खड़ा रहे और सिर्फ प्रेक्षक का कार्य करता रहे। मान्टीसरी इस विचार की जगत्-प्रसिद्ध व्याख्याता है। नारमन मैकमैन टिपट्री हाल में पूरी तरह मुक्तिवादी था और ए० एस० नील के विचार और कार्य पहले बताए जा चुके हैं। मुक्तिवादी विचार सृष्टि में पाप के उदय के सिद्धान्त को पूरी तरह अस्वीकार करने पर आधारित हैं। इसके स्थान पर हम बच्चे की सहज अच्छाई में गहरा विश्वास रखते हैं और वर्ड्सवर्थ के इस विचार को पूरी तरह मानते हैं कि 'बच्चा यश और गौरव के बादलों पर कदम रखता हुआ स्वर्ग से आया है'। मुक्तिवादी न तो भय की भावना पर चोट करता है, और न अनुवर्तन की भावना पर। वह बच्चे की अपने आपको दिखाने की सहज वृत्ति को ऊँचा उठाता है और 'आत्म-अभिव्यक्ति' (Self-expression) को अपना नारा बनाता है।

इस प्रकार स्कूल के अनुशासन के मामलों में सुनिर्दिष्ट पक्ष हमारे सामने आ गए। अब हम उनके बारे में क्या कहना चाहते हैं? उन पर मुख्यतः इस दृष्टि से विचार करना चाहिए कि अनुशासन की जो परिभाषा की गई है, उसके अनुसार अनुशासन लाने में वे कहाँ तक कारगर हैं। व्यवस्था तो आखिरकार एक सहायक चीज यानी साधन मात्र है और अनुशासन साध्य या लक्ष्य है। चरित्र पर किसका प्रभाव अच्छा होता है? किससे अच्छा अनुशासन पैदा होता है?

बहुत कट्टर मुक्तिवादियों को छोड़कर शेष लोग यह स्वीकार करेंगे कि कभी-कभी हलके ढंग का दमन अच्छा होता है, पर अधिकतर शिक्षक इस बात से सहमत होंगे कि लगातार व्यवस्थित दमन का परिणाम बिल्कुल बुरा होता है। दमन स्कूल में व्यवस्था की तात्कालिक समस्या सदा हल कर देता है, पर इसका अनुशासन सम्बन्धी दुष्परिणाम तब दिखायी देता है जब वे लोग, जो इसके शिकार हुए हैं, स्कूल से बाहर निकालते हैं या अन्त में स्कूल की पढ़ाई खत्म कर लेते हैं।

बोर्ड आफ एडुकेशन के इस फैसले से सब लोग सहमत होंगे कि "निरा दमन सिर्फ तब कारगर होता है जब बच्चे उसी अधिकारी के अधीन हों जो इसका प्रयोग करता है।"

दूसरी बात यह है कि दमन लोकतंत्रीय आदर्शों से मेल नहीं खाता। किसी सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) राज्य की शिक्षा-प्रणाली में इसका चाहे जो स्थान हो, पर किसी लोकतंत्रीय राज्य के भावी नागरिकों के लिए यह सर्वथा अनिष्टकर वस्तु है। एल्डस हक्सले ने तीखे शब्दों में कहा है :

"अगर आपका ध्येय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र है तो आपको लोगों को स्वतंत्र होने और अपना शासन आप करने की कलाएँ सिखानी चाहिएँ। यदि इसके स्थान पर आप उन्हें डराने, धमकाने और निष्क्रिय आज्ञापालक की कलाएँ सिखाते हैं तो आप आजादी और लोकतन्त्र प्राप्त नहीं कर सकते, जिन्हें आपने लक्ष्य बनाया है। अच्छे साध्य अनुपयुक्त साधनों से सिद्ध नहीं किए जा सकते।"

आपने आगे लिखा है :

"यह बात बड़ा महत्त्व रखती है कि जर्मन की मांटीसरी सोसाइटी को वहाँ की राजनैतिक पुलिस ने १९३५ में विघटित कर दिया था, और जुलाई १९३६ में मुसोलिनी के शिक्षा मन्त्री ने इटली में सब सरकारी मांटीसरी कार्यों को बंद करने का आदेश दे दिया था।"

संक्षेप में, यदि हम, लोगों को सोद्देश्य स्वतः निर्धारित कार्य की और जिम्मेवारी की शिक्षा देना चाहते हैं तो भय की भावना को, जो कार्य को रोकने वाली बहुत बड़ी भावना है, प्रेरित करना बिल्कुल गलत साधन है।

शारीरिक दण्ड के उलझनदार सवाल के विषय में शायद यह कहना बुद्धिमत्ता नहीं होगी कि यह कभी किसी भी अवस्था में नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि बहुत बार यह आवश्यक हो सकता है, और इसके परिणाम अच्छे हो सकते हैं, पर इसका सहारा लेने का अर्थ हमेशा यह होगा कि हमने यह स्वीकार कर लिया कि या तो अच्छी विधियाँ प्रयोग में लाई ही नहीं गयीं, और या वे व्यर्थ सिद्ध हुईं, यद्यपि उनकी विफलता का यह अर्थ नहीं कि किसी खास स्कूल के किसी खास अध्यापक में कोई दोष है। कोई यह न समझ ले कि यह विचार आधुनिक काल के मृदु अध्यापक के पक्षपातियों के विचार का प्रतिबिम्ब है, इसलिए हम रोमन शिक्षक क्विंटिलियन का कथन प्रस्तुत करते हैं जिसने पहली

शताब्दी में, जिसमें मृदुता या नरमी नहीं बरती जाती थी, इस पद्धति की निन्दा की थी :

"बच्चों को शारीरिक दण्ड देने का मैं समर्थन नहीं कर सकता यद्यपि यह पुरानी परिपाटी है; प्रथम तो इस कारण कि यह अपमान है दासों को दिया जाने वाला दण्ड है, और असल में तो एक बेइज्जती है (जैसा कि यदि आप परिवर्तित जमाने की कल्पना करें तो स्पष्ट हो जायगा); दूसरी बात यह है कि यदि किसी बालक का स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह धिक्कार से नहीं सुधरता, तो वह बदमाश दासों की तरह कोड़ों की मार को भी सह लेगा; और अन्तिम बात यह है कि यदि वह आदमी, जो नियमित रूप से अपना काम उससे निकालता है, उसके साथ हो तो किसी ऐसे दण्ड की जरा भी जरूरत नहीं होती। इस समय अध्यापकों का प्रमाद ऐसा प्रतीत होता है कि लड़कों को सही काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जाता बल्कि जब इन्होंने सही काम न किया हो तब उन्हें दण्डित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, जब आप किसी लड़के को कोड़े से मार चुके तो जब वह युवक बनेगा जिसे इस तरह नहीं डराया जा सकता और जिसे और अधिक कठिन पढ़ाई पढ़नी है, उससे आप क्या व्यवहार करेंगे ? इन कारणों के अलावा वे और बहुत सी बातें भी जोड़ लीजिए जिनका उल्लेख करना सुखदायक नहीं और जो बाद में लज्जा का कारण बन सकती हैं, जो पीटे जाने वाले बच्चों को कष्ट या भय के कारण प्रायः हो जाती हैं, और यह शर्म मन को चंचल और हतोत्साह कर देती है और वह लोगों की नजरों से बचना चाहता है और हर समय बेचैनी अनुभव करता है।"

बार-बार शारीरिक दण्ड देना अध्यापक और छात्र दोनों का अधःपतन है। सच्ची बात तो यह है कि इसी के कारण अध्यापक का पेशा बदनाम हो गया और उस बदनामी से यह अब जाकर मुक्त हो रहा है। फ्रायड के सैडिज्म (यौन प्रवृत्ति का ऐसा विकार जिसमें क्रूरता का आवेश होता है) और मैज़ोकिज़्म (यौन प्रवृत्ति का वह विकार जिसमें दूसरे लिंग के व्यक्ति की अधीनता या क्रूर बर्ताव आनन्ददायक लगता है) के प्रसिद्ध सिद्धान्तों ने क्विन्टिलियन द्वारा निर्दिष्ट उन वस्तुओं पर "जिनका उल्लेख करना आनन्ददायक नहीं", नई रोशनी डाली है, और उन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। सैडिज्म और मैज़ोकिज्म शब्द उनप्रवृत्तियों के वाचक हैं जो पीड़ा पहुँचाने और पाने की विकृत (Perverted)

यौन संतुष्टि में अनुभव होती हैं। सैडिज्म अध्यापक को यह चेतावनी देता है कि शारीरिक दण्ड देते हुए उसे यह निश्चय होना चाहिए कि उसका उद्देश्य निष्कलंक है और मैज़ोकिज़्म शारीरिक दण्ड के सम्बन्ध में दी जाने वाली इस प्रचलित सफाई को, कि बच्चे स्वयं इसे पसन्द करते हैं, संदिग्ध बना देता है। यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि किशोरावस्था में शारीरिक दण्ड देने से इतने अधिक खतरे हैं कि यह कभी भी नहीं दिया जाना चाहिए।

मुक्ति का, जो दमन से बिल्कुल उल्टी चीज है, इस आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकता कि इससे अच्छी व्यवस्था पैदा होती है। पर इसके पक्षपाती व्यवस्था को अवांछनीय न मानते हुए भी महत्त्वहीन मानते हैं। उनका यह दावा है कि पूरी स्वतन्त्रता देने वाली प्रणालियों का चरित्र पर बहुत हितकर प्रभाव होता है, कि वे ऐसे मनुष्य पैदा करती हैं जो विचार और कार्य में निर्भीक होते हैं और जो किसी भी स्थिति का सामना करने को तैयार रहते हैं। उनका कहना है कि ये उत्तम परिणाम बाधाहीन आत्म-अभिव्यक्ति के जरिये ही प्राप्त होते हैं।

पर, जैसा कि हमेशा हुआ करता है, मूल्य का प्रश्न आ जाता है। यह पूछना प्रसंगोचित होगा कि क्या इस तरह पाला हुआ आत्मा वास्तव में अभिव्यक्त करने योग्य है, क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं है तो आत्म-अभिव्यक्ति का स्वयं व्यष्टि के लिए और अन्य लोगों के लिए भी कोई मूल्य नहीं। क्या हमें ऐसी आत्मा के सृजन का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए जो व्यष्टिगत और सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान् हो? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में है तो क्या मुक्ति या खुली छूट दे देना ऐसा करने का सर्वोत्तम तरीका है, और यह न भूलना चाहिए कि अधिक से अधिक लोकतन्त्रीय समुदायों में भी सामाजिक जीवन व्यष्टि को पूर्ण आजादी नहीं देता। जब आत्म-अभिव्यक्ति दूसरे लोगों के अधिकारों, आराम और सुविधा में बाधा डालती हो, तब उसे रोकना चाहिए। यह कहना कठिन है कि स्कूल की सारी आजादी इस आधारभूत तथ्य को समझने में कुछ सहायक होती है।

खुली छूट के कट्टर पक्षपाती फ्रायडवादी मनोविज्ञान का उल्लेख करके अपने पक्ष का समर्थन किया करते हैं, जिसमें प्राकृतिक सहज वृत्तियों के दमन से होने वाली बुराइयों पर बड़ा प्रकाश डाला गया है, पर बारीकी से जाँच करने पर ये

युक्तियाँ ठहर नहीं पातीं। फ्रायड ने जिस दमन को हानिकारक बताया है वह अज्ञानपूर्ण दमन है, जिसमें आदमी को स्वयं यह पता नहीं कि उसके भीतर मौजूद महत्त्वपूर्ण बलों को रोका जा रहा है। वह कहीं भी यह नहीं कहता कि यदि विनाशकारी परिणामों से बचना है तो व्यष्टि को अपने प्रत्येक अनुभूत आवेग को अभिव्यक्त करना ही चाहिए। समाज-विरोधी आवेगों का सचेत रूप से स्वेच्छया ज्ञानपूर्वक दमन करना कभी किसी को हानिकारक नहीं हुआ।

दूसरे, यदि खुली छूट के सिद्धान्त का अर्थ यह है कि स्कूल में व्यवस्था संदेह की वस्तु है तो यह बात को अतिरंजित करना है। बालक व्यवस्थित रूप में कार्य करना पसन्द करता है और कुछ दूर तक दिशा-निर्देशन और बंधे-बँधाए काम को अच्छा समझता है। बोर्ड आफ एडुकेशन ने अध्यापक को यह ठीक ही सलाह दी है कि वह "यह मानकर चले कि उसके छात्रों में समझदारी से आचरण करने की इच्छा मौजूद है।"

प्रभाव का प्रयोग जब किसी प्रबल व्यक्तित्व वाले अध्यापक द्वारा किया जाता है तब उससे निस्संदेह अच्छी व्यवस्था कायम होती है। इसी तरह यह बात भी सच है कि इसका चरित्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है, अर्थात् अनुशासनकारी प्रभाव होता है। हम शुरू में अपने नैतिक स्थायी भाव, अभिवृत्तियाँ और उत्साह प्रशंसित व्यक्तियों के सम्पर्क से ही प्राप्त करते हैं। विधि के रूप में प्रभाव, सीधे अध्यापक की अहंभावना को संतुष्ट करता है और उसे यह सोचकर आनन्द अनुभव होता है कि वह अपने छात्रों के चरित्र का निर्माण कर रहा है। पर ठीक इसी कारण खुली छूट के पक्षपाती प्रभाववादियों के बारे में सख्त बातें कहते हैं। उनकी दृष्टि में आरनोल्ड और थ्रिन्ग असली अपराधी हैं, और वे उन पुराने ढंग के दमनवादियों से कहीं अधिक खतरनाक है जिनकी विधियाँ इतनी जाहिर तौर से गलत हैं कि लोकमत उनका अधिकाधिक विरोधी होता जाता है। वे कहते हैं कि प्रभाव डालना मूलतः गलत है, क्योंकि यह मौलिकता को कुण्ठित करता है, व्यष्टित्व को दबाता है, बच्चे के पवित्र व्यक्तित्व को दूषित करता है, और शिक्षक की अनुकृतियां मात्र पैदा करता है। इस प्रकार, सिद्धांत रूप में वे इसलिए असहमत नहीं हैं कि इसका कोई अनुशासनकारी प्रभाव नहीं होता, बल्कि इसलिए असहमत हैं कि इसका बहुत अधिक प्रभाव होता है।

दूसरे लोग यह कहते हैं कि यह विधि वांछनीय हो या न हो, पर सामान्य-

तया: यह इस तथ्य के कारण अव्यवहार्य होती है कि सब अध्यापक विशिष्ट व्यक्तित्व वाले नहीं होते। यदि एक अध्यापक ऐसा है जो सफलतापूर्वक प्रभाव डाल सकता है, तो दस ऐसे हैं जो नहीं डाल सकते। इस कठिनाई को आसानी से बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जा सकता है। नया अनुभवहीन अध्यापक भी आयु, ज्ञान और जीवन के अनुभव में अपने छात्रों से आगे बढ़ा हुआ होता है, और इसलिए वह प्रभाव डालने के लिए अनुकूल स्थिति में होता है। दूसरे, यदि वह नियम के कारण अपने लिए व्यक्तिगत रूप से आदर की आशा न करे, तो भी वह उस आदर की आशा तो तर्कसंगत रूप से कर ही सकता है, जो उसके पद को मिलना चाहिए। सर जान एडम्स अपने छात्रों से पूछा करते थे कि विद्यार्थी आमतौर से अपने अध्यापकों की आज्ञा क्यों मानते हैं। अपनी आदत के अनुसार, सुकरात के ढंग से छात्रों के कच्चे-पक्के जवाबों को काट देने के बाद वे तब तक सवाल-जवाब करते रहते थे, जब तक यह सच्चाई सामने न आ जाए कि छात्र असल में अपने अध्यापकों की आज्ञा इसलिए मानते हैं क्योंकि अध्यापक स्कूल में बाहर के विस्तृत समाज के प्रतिनिधि हैं और उनके पीछे सारे संगठित समाज की सत्ता और समर्थन है।

यह स्पष्ट है कि अब विवाद प्रभाव और मुक्ति या खुली छूट के बीच है, क्योंकि दमन तो स्पष्टतया विचार-कोटि से बाहर है। इन दोनों में से क्या होना चाहिए? यदि ये दोनों चीजें होनी चाहिए, तो इन्हें किस अनुपात में मिलाया जाए।

खुली छूट के सिद्धांत को मानने वाले सब समझदार विचारक वहीं तक आजादी को मानते हैं, जहाँ तक वह उच्छृंखलता न बन जाए। हम यह भी देख चुके हैं कि सामान्य बालक अव्यवस्था के मुकाबले व्यवस्था को पसन्द करता है, और जैसे कि एल्डस हक्सले ने चेतावनी दी है, हम बालकों को अत्यधिक आजादी देने के दोषी हो सकते हैं। उन्होंने लिखा है:

"यह कहना उचित न होगा कि 'आधुनिक' विद्यालय कहीं अत्यधिक आधुनिक न बन जाएँ। यह भी खतरा है कि कहीं बच्चों को इतनी अधिक आजादी दे दी जाए जितनी उनके लिए लाभदायक नहीं हो सकती, और इतनी जिम्मेवारी उन्हें सौंप दी जाए जितनी वे नहीं चाहते या सँभालना नहीं जानते। बालकों को अत्यधिक आजादी और जिम्मेदारी देना उन पर एक ऐसा बोझ डालना है जो उनमें से बहुतों को परेशान करने वाला और थका डालने वाला

है। कुछ अपवादों की बात जाने दें, तो बालक निश्शंक होना पसन्द करते हैं; वे नैतिक नियमों के दृढ़ ढांचे का और विनीत आचरण के नियमों का भी सहारा अनुभव करना पसन्द करते हैं। ऐसे दृढ़ता से जमाए हुए ढांचे के भीतर स्वतंत्रता, जिम्मेवारी और सहयोग की शिक्षा देने के लिए बहुत स्थान पड़ा है।"

माण्टीसरी पर सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति और विनीत आचरण सिखाने के प्रति उदासीनता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। वह अपनी संचालिकाओं को यह सलाह देती है कि उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि विद्यालय में समाज-विरोधी आचरण पर उचित प्रतिक्रिया हो और अपराधी को सामुदायिक कार्यों में हिस्सा लेने से स्थायी रूप से वंचित कर दिया जाए। यहां सिद्धांत के पीछे समझ को तिलांजलि नहीं दे दी गयी है। शिक्षक का उत्तरदायित्व स्वीकार किया जाता है और उसका प्रभाव भी डाला जाता है, यद्यपि यह स्कूल के वातावरण के द्वारा यथासम्भव अमूर्त्त रूप से डाला जाता है। पर आखिरकार वह वातावरण शिक्षक का ही बनाया हुआ है, और अंत में यही नतीजा निकलता है कि पद्धति किसी व्यक्तिगत शिक्षक के प्रभाव के कारण ही चलती है, चाहे वह प्रभाव कितना ही परोक्ष हो, और उस शिक्षक की इच्छा ही चलती है और उसके ही उद्देश्य की पूर्ति की जाती है। मांटीसरी सावधानी से आयोजित वातावरण प्रस्तुत करके उसके द्वारा प्रभाव और संस्कार डालती है।

पर इस लेखक की सम्मति में प्रभाव इतने अधिक महत्त्व की और वांछनीय विधि है कि उत्साही मुक्तिवादी उसे पसन्द न करेगा। अनुशासन शब्द के अर्थ पर अधिक गहराई में विचार करने से शायद बात अधिक साफ हो सकेगी। यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुशासन और शिष्य शब्द एक ही धातु से निकलते हैं। शिष्य वह होता है जो किसी गुरु के चरणों में बैठकर जीवन के विषय में उसकी शिक्षाएँ ग्रहण करता है। उसका रवैया शिक्षार्थी या अप्रैंटिस का रवैया होता है। यह शिष्यत्व बड़े प्रभावी रूप में अनुशासन पैदा करता है। शुरू में हम यह कह सकते हैं कि अनुशासन का अर्थ यह है कि एक अपरिपक्व मन अधिक परिपक्व मन के प्रभाव और निदेश का अनुवर्तन करे और इस तरह उस मन की अभिवृत्तियों और आदर्शों को अपने में धारण करे। ये आदर्श और अभिवृत्तियां "जीवित से, जीवित के जरिये, जीवित को" संचारित की जानी चाहिएँ: इसका और कोई उपाय नहीं है। एक व्यक्तिगत शिक्षक अवश्य होना चाहिये जो प्रभाव

डाले, चाहे वह कितने ही हलके और अज्ञात रूप से यह प्रभाव डाले; अन्यथा न शिक्षा हो सकती है और न अनुशासन।

शिक्ष्यमाण (Educand) के प्राकृतिक परिवर्धन को सुधारने की कोशिश करते हुए शिक्षक को अपने अपरिपूर्ण रूप की नकल पैदा करने का लक्ष्य रखने की आवश्यता नहीं, और न उसे ऐसा लक्ष्य रखना चाहिए—मुक्तिवादी प्रभाव-वादी पर यही आरोप लगाता है कि यह वैसा करना चाहता है। बल्कि उसे मुक्तिवादी की इस चेतावनी से सतर्क रहना चाहिए कि कहीं वह अनजान में वैसा तो नहीं कर रहा। वह इस खतरे से इस तरह बच सकता है कि वह नए खिलते हुए मनों की निष्ठा व्यवस्थित रूप से जाति के नैतिक महापुरुषों की ओर और उन आदर्शों की ओर, जो उनमें मूर्तिमान थे, ले जाने का प्रयत्न करे। साथ ही उसे, जहाँ तक हो सके वहाँ तक, उन आदर्शों को अपने अन्दर मूर्तिमान् करना चाहिए, क्योंकि शिक्ष्यमाण पहले उसी से शुरू करेगा। शुरू में ही छात्र उसकी उत्कृष्टि बुद्धि के सामने सिर झुकाएँगे, पर वह उस दिन की कोशिश में लगा रहेगा जब वे और वह दोनों मिलकर एक साथ महानतम पुरुषों के शिष्य बन जायेंगे, जब वे भी उसकी तरह उन "आदर्शों को स्वीकार करेंगे जिन्हें मानव जाति के श्रेष्ठ और व्यापकतम अनुभव ने स्वीकार किया है"। जब ये आदर्श, ज्ञान-पूर्वक और इच्छा से, आचरण के प्रेरक मान लिये जाते हैं, तब प्रभाव द्वारा अनुशासन सच्चा आत्म-अनुशासन बन जाता है और चरित्र दृढ़ हो जाता है।

हम यह आशा करना चाहते हैं कि बिल्कुल खुली छूट और बाधाहीनता आदि मूर्खतापूर्ण नारों की अपेक्षा नैतिक शिक्षा के बारे में यह विचार अधिक सच्चा और अधिक सहायक माना जा सकता है। स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के समझदारी से जो भी अर्थ किए गए हैं, वे सब इसी अर्थ में अनुशासन को अवश्य मानते हैं। यदि अनुचित वैयक्तिक प्रभाव बुरा है तो स्कूल का ही काम है कि वह एक ऐसा जीवन-मार्ग प्रस्तुत करे जिसे बालक उस जीवन-मार्ग से कुछ अच्छा और अधिक पूर्ण समझें जो वे स्वयं अपने लिए सोच सकते थे, क्योंकि इस प्रकार ही यह उनकी ऊर्जाओं को काम में लगा सकेगा और उनकी निष्ठा प्राप्त कर सकेगा। पर प्रभाव को न तो पूरी तरह खत्म किया जा सकता है और न खत्म किया जाना चाहिए। यह ठीक है कि बच्चे को यथासम्भव स्वतन्त्र होना चाहिए, परन्तु शर्त यह है कि वह स्कूल के आचरण के मानदण्ड को

स्वीकार करे। यदि वह इसे इच्छापूर्वक और निष्ठा से स्वीकार कर लेता है तो उसे स्वतन्त्रता और अनुशासन के लाभ इकट्ठे ही प्राप्त हो जाएँगे। संक्षेप में, यदि हम यह चाहते हैं कि बालक अपने स्वरूप को पहचान सकें तो उन्हें काफी आजादी दी जानी चाहिए। यदि उन्हें अपनी शक्तियों का पूर्णतम परिवर्धन करना है तो उन्हें उचित अनुशासन और प्रशिक्षण को स्वीकार करने को तैयार रहना चाहिए।

स्वतन्त्रता की पुकार का यह अर्थ लगाये जाने का खतरा सदा मौजूद है कि हमारे मन में जो भी काम करने की प्रवृत्ति हो, उसे ही करने की स्वतन्त्रता दी जाए। हम फिर यह कहना चाहते हैं कि ऐसी आजादी निरी निरंकुशता है। जब आदर्श स्वीकार कर लिए जाते हैं, चरित्र का निर्माण हो जाता है और सबल इच्छा का आधार बन जाता है, तब मनुष्य मन में यों ही आने वाले आवेगों के पीछे चलने के लिए अपने आप को स्वतन्त्र नहीं समझता, बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता से दूर रह कर ही वह अपने घर का स्वामी होता है और इस तरह अपने भीतर विद्यमान प्रकाश का अनुसरण करने के लिए अधिक ऊँची स्वतन्त्रता प्राप्त करता है और उसकी निम्न प्रकृति की जंजीरें उस पर रुकावट नहीं लगातीं। आत्म-अनुशासन को ही सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता कहा जा सकता है। "स्वतन्त्र वह मनुष्य है जिसे यह ध्यान है कि जिस कानून का मैं पालन कर रहा हूँ वह मैंने ही बनाया है।"

असल में स्वतन्त्रता और अनुशासन का विवाद इस विवाद का ही एक पहलू है कि प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद में किसे शिक्षा का दर्शन बनाया जाए। प्रकृतिवादी स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं और अध्यात्मवादी अनुशासन के। स्पष्ट है कि यदि शिक्ष्यमाण को अपनी आत्मिक शक्यताओं को मूर्तिमान करना है तो उसे ऐसे अनुशासन में चलना चाहिए जिससे वह अपने जीवन के उन महान मूल्यों को समझ सके जिन पर अध्यात्मवाद बल देता है। इस बात पर विशेष कुछ कहना अनावश्यक है, पर अनुशासन पर विचार समाप्त करने से पहले यह जानना उचित होगा कि इस विषय में व्यवहारवाद कोई अलग बात कहता है या नहीं।

"प्राकृतिक परिणामों का अनुशासन" इस व्यवहारवादी सिद्धांत के साथ मेल खाता है कि किसी कार्य-विधि का मूल्य उसके प्रयोग में आ सकने से जाँचा

जाएगा। जो लोग इस विचार के समर्थक हैं उनका यह कहना है कि मनुष्य को अच्छे और बुरे कामों का अंतर उनके प्रत्यक्ष परिणाम स्वयं अनुभव करके सीखना चाहिए। रूसो कहता है कि निषेधात्मक शिक्षा के काल में "बालकों को दण्ड सिर्फ दण्ड के रूप में कभी नहीं मिलना चाहिए। यह उनकी भूल के प्राकृतिक परिणाम के रूप में ही होना चाहिए"। वह यह भी लिखता है कि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक की "अतर्कसंगत इच्छाओं में सिर्फ प्राकृतिक रुकावटें पड़ें या उसे सिर्फ वह दण्ड मिले जो उसके अपने कार्यों के परिणामस्वरूप पैदा हो। ये सबक उसे वैसी ही परिस्थितियाँ फिर पैदा होने पर याद आ जाएँगे"। बाद में हरबर्ट स्पेन्सर ने प्राकृतिक परिणामों के अनुशासन को नैतिक शिक्षण का मुख्य सिद्धांत बताया और इसके समर्थन में बहुत कुछ लिखा। बालक को अपने आचरण के "अपरिहार्य परिणाम और अनिवार्य प्रतिक्रियाएँ भोगनी चाहिएँ और उसके ऐसे कार्यों पर ही हितकर रुकावटें होनी चाहिएँ जो उसके शारीरिक मंगल की दृष्टि से अनुचित हों"। "शीघ्र ही इस कठोर परन्तु हितकर अनुशासन को पहचान कर बालक उसका उल्लंघन न करने के विषय में अत्यधिक सावधान हो जाता है। इसलिए "यह देखना माता-पिता का काम है कि उनके बच्चे अपने आचरण के सच्चे परिणामों और प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं को आदतन अनुभव करें; माता-पिता उन परिणामों या प्रतिक्रियाओं को न तो दूर करें, न उन्हें बढ़ायें और न उनके स्थान में कृत्रिम परिणाम प्रस्तुत करें"।

इस पर यह सीधी आलोचना की जा सकती है कि प्राकृतिक परिणाम भूल के अनुपात में बहुत बड़े हो सकते हैं, और उनसे बालक को गहरी हानि हो सकती है। स्पेन्सर हमें यह निश्चय कराता है कि "कष्टदायक प्रतिक्रियाएँ उल्लंघन के अनुपात में ही होती हैं"। पर अपने निबंध के पिछले हिस्से में स्पेंसर यह स्वीकार करता है कि "जहां अंग टूटने या अन्य गहरी क्षति होने का भय हो वहाँ बलपूर्वक रोकना ठीक है"। उसके महान समकालीन टामस हेनरी हक्सले ने प्रकृति के अनुशासन को बहुत कठोर बताया है, और इसी कारण "कृत्रिम शिक्षा" देने का प्रतिपादन किया है।

प्रकृति का अनुशासन सब अनिवार्य विधानों की तरह कठोरता और अपव्यय से काम करता है। अज्ञान से और आग्रहपूर्वक आज्ञाभंग का एक सा दण्ड

मिलता है; असमर्थता और अपराध की बराबर सज़ा दी जाती है। प्रकृति का अनुशासन चेतावनी देकर मारने वाला या पहले मारने और पीछे चेतावनी देने वाला नहीं है, बल्कि बिना चेतावनी के मारने वाला है।

हक्सले ने आगे लिखा है: "यह जानने का काम आप पर छोड़ दिया जाता है कि आपकी कनपटी क्यों घायल हुई"। तर्क-वितर्क कर सकने वाला प्रौढ़ व्यक्ति तो स्वयं कारण ढूँढ़ने की कोशिश कर सकता है, पर बालक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सदा कार्य और कारण का सम्बन्ध जोड़ सकेगा। पर यदि वह इस तथ्य को नहीं महसूस कर सकता कि उसके अपने ही कामों से वह परिणाम पैदा हुआ तो यह समझ में आना कठिन है कि उससे नैतिक शिक्षा कैसे मिलेगी। यदि वह ऐसा करने में सफल भी हो जाए तो उसमें जो नैतिकता पैदा होगी, वह निश्चित रूप से अहंकेंद्रित (Egocentric) होगी, जो दूसरे के अधिकारों और सुखों को उपेक्षा की दृष्टि से देखती होगी। नैतिकता सारतः एक सामाजिक पृष्ठभूमि की चीज़ है और प्राकृतिक परिणाम के अनुभव से सच्ची नैतिकता के बजाए दूरदर्शिता और स्वार्थ की वृत्ति पैदा होती है।

प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन नैतिक शिक्षण की विधि के रूप में उतना ही अपर्याप्त है जितना व्यवहारवाद शिक्षा के दर्शन के रूप में अपर्याप्त आधार है। इसके पीछे निरपेक्ष नैतिकता का कोई विचार नहीं, और यदि कोई अध्यात्मवाद के उसूलों पर पक्का रहे तो वह इसे बिलकुल बचपन में नैतिक प्रशिक्षण की एक उपयोगी विधि मात्र मान सकता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि रूसो ने इसका जीवन के उस काल के लिए ही समर्थन किया है जिसमें बच्चे की आत्मा खाली रहती है। नैतिक नियम की उसकी यह परिभाषा कि "कोई अच्छा कार्य नैतिक रूप से तभी अच्छा है जब वह अच्छे कार्य के रूप में किया जाए, वह अन्य कारणों के कारण अच्छा नहीं" किसी भी अध्यात्मवादी को संतुष्ट करने के लिए काफी है। पर स्पेन्सर में नैतिकता की ऐसी ऊंची अवधारणा नहीं पाई जाती। इसके बजाय हमें उसका यह सीधा कथन मिलता है कि "नैतिकता के सब सिद्धांत, चाहे वे शुरू में कोई भी धारणाएँ लेकर चलें; इस बात पर सहमत हैं, कि वह आचरण अच्छा है जिसके तात्कालिक और दूरस्थ कुल परिणाम हितकर हैं, और वह आचरण बुरा आचरण है जिसके

तात्कालिक और दूरस्थ परिणाम मिलाकर हानिकारक हैं"। और इसलिए हम "शारीरिक आचरण को उसके हितकर या अहितकर परिणामों के अनुसार अच्छी या बुरी श्रेणी में रखने से इन्कार नहीं कर सकते"। चाहे अध्यात्मवादी स्पेन्सर की युक्ति की तर्कसंगत स्पष्टता कितनी ही स्वीकार करे, पर उसे उसके साध्यावयव (Major Premise) की सत्यता की जांच करनी ही पड़ेगी।

अध्याय ८

बौद्धिक अनुशासन

(Intellectual Discipline)

हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवादी दर्शन वातावरण से समंजन (Adjustment to environment) को शिक्षा का लक्ष्य बताता है, व्यवहारवाद प्रगति और मानवीय मूल्यों के सृजन को लक्ष्य बताता है, और अध्यात्मवाद व्यक्तित्व के परिवर्धन और सार्वत्रिक मूल्यों से तालमेल पर बल देता है। इनमें से कोई भी दर्शन यह नहीं कहता कि ज्ञान शिक्षा का साध्य या लक्ष्य है। तो भी, यह स्पष्ट है कि वातावरण से समंजन उस वातावरण के ज्ञान के बिना नहीं किया जा सकता; प्रगति और मूल्यों का सृजन तब तक बात ही बात है जब तक मनुष्यों और वस्तुओं के बारे में अधिक पूर्ण ज्ञान न हो; व्यक्तित्व का विकास और मूल्यों की सराहना तब तक असम्भव हैं जब तक आत्मिक जगत का ज्ञान बढ़ता न जाता हो। इस प्रकार किसी भी तरफ से चलें तो यहीं पहुँचते हैं कि ज्ञान शिक्षा का लक्ष्य न होने पर भी उसका अपरिहार्य साधन है। लक्ष्य के सम्बन्ध में जितने भी दृष्टिकोण हैं, प्रायः उन सबसे चलकर शिक्षक इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ज्ञान वह उपकरण है जिसके द्वारा वे अपना उद्देश्य सिद्ध करते हैं। तो, ज्ञान, जैसा कि एडम्स ने कहा था, शिक्षा का आर्गेनन या उपकरण अथवा साधन है।

महान अध्यात्मवादी शिक्षकों ने एक स्वर से यह कहा है कि शिक्षा मुख्यतः चरित्र और व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है, ज्ञान से नहीं। पर अपनी विरोधी विचार-धाराओं के पक्षपोषकों की तरह उन्होंने भी साधन के रूप में ज्ञान को ऊंचा आसन दिया है। उदाहरण के लिए, हरबार्ट ने कहा है कि शिक्षा का सारा लक्ष्य और प्रयोजन नैतिकता या सद्गुण की दिशा में होना चाहिए। पर

क्योंकि वह यह मानता था कि इच्छा का मूल्य विचार के क्षेत्र में है, इसलिए उसने यह कहा कि शिक्षक का मुख्य कार्य विचारों को रोपना (Plant the ideas) है। इस प्रकार ज्ञान को सद्गुण पैदा करने की शक्ति को ऊंचा बताकर वह श्रेष्ठ शिक्षक बन गया। सच तो यह है कि उसके मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ने ही अध्यापक के सामने स्थायी महत्त्व की शिक्षण-विधि प्रस्तुत की है। सुकरात की दृष्टि में, जो पक्का नैतिकवादी था, सच्चे ज्ञान से युक्त मनुष्य सद्गुणों से हीन हो ही नहीं सकता; "जो मनुष्य यह जानता या मानता है कि जो काम मैं कर रहा हूँ, उससे अच्छे काम दूसरे हैं, वह, यदि वे काम उसके सामर्थ्य के अन्दर हैं तो, अधिक अच्छा काम करने में समर्थ होता हुआ कम अच्छा काम करने की ओर प्रवृत्त नहीं होगा। कहने का मतलब यह है कि ज्ञान सद्गुण है।"

इस उक्ति से तुरन्त सहमत होना कठिन है। हमें मालूम है कि बड़े-बड़े विद्वान बदमाश और निरक्षर सन्त हो चुके हैं। हम यह अनुभव करते हैं कि सेंट पाल के इस कथन से मानवीय दुर्बलता का अधिक अच्छा बोध सूचित होता है "जो अच्छा काम मुझे करना चाहिये, वह मैं नहीं करता; पर जो बुरा काम मुझे नहीं करना चाहिए, वह मैं करता हूं।" आज-कल हमें सद्गुण को बुद्धि के बजाए भावों और इच्छा (Emotions and Will) की एक अवस्था मानने की आदत हो गई है पर हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि "ज्ञान" से सुकरात का क्या मतलब था। सच्चा ज्ञान या बुद्धिमत्ता होने का अर्थ है सार्वत्रिक मान्यता के विचार रखना। जो लोग ऐसे विचार रखते हैं वे दार्शनिक होते हैं। वे लोग न केवल अपने जीवनों को सही दिशा में ले जा सकते हैं, बल्कि उन्हें सुकरात के शिष्य प्लेटो के अनुसार, दूसरों के जीवनों को भी ठीक दिशा दिखाने को अधिकार है। इसलिए दार्शनिक ही राजा होने चाहिएँ, या दुनिया के राजाओं में दर्शन और भावना की शक्ति होनी चाहिए। जीवन बिताने की रीति का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

दार्शनिक सब सत्य बातों के प्रेमी होते हैं। वे न केवल सार्वत्रिक मान्यता के विचार रखते हैं, बल्कि वे उन विचारों से प्रेम करते हैं और उनसे आविष्ट रहते हैं। मनोवैज्ञानिक भाषा में हम कह सकते हैं कि उनके भाव उन सार्वत्रिक विचारों के साथ गुँथ जाते हैं, कि उनमें उनके साथ प्रेम की स्थायी भावना पैदा हो जाती है। इस प्रकार जिस ज्ञान को सद्गुण कहा गया है, उसकी प्राप्ति के

लिए भावनाओं और इच्छा को अनुशासित करना आवश्यक मालूम पड़ता है। सच्चा ज्ञान विचारों के बजाय आदर्शों के धारण को कहते हैं। यह मूल्यों को अच्छी तरह समझना है। यदि हमारा ज्ञान से यही आशय है—और सुकरात का तो यही आशय था—तो हम यह मान सकते हैं कि ज्ञान सचमुच सद्गुण है।

परन्तु अरस्तू ने हमें चेतावनी दी है कि हमें यह आशा न करनी चाहिए कि बहुत आदमियों का विचार हमेशा बुद्धिमान व्यक्तियों के विचार से मेल खाता होगा। ज्ञान के महत्त्व के बारे में उन 'बहुत सारों' का क्या विचार है, क्योंकि यह सन्देह किया जा सकता है कि बुद्धिमान लोग अपने मन के बौद्धिक रूप के कारण इस विषय में निष्पक्ष नहीं हो सकते। वे तो यही मानते होंगे कि मनुष्य की परिपूर्णता का रूप बौद्धिक है, कि मानव-प्रगति ज्ञान की वृद्धि है, कि मानव की महानता को विचार की शक्ति से ही मापा जा सकता है। अध्यापन-कार्य करने वाले लोग अज्ञान के अन्धकार को दूर करने को अपना परम कर्तव्य समझते हैं। उन्हें साधारणतया ज्ञान के महत्त्व पर कोई सन्देह नहीं है, यद्यपि उनमें से अधिक विचारशील लोग हरबर्ट स्पेन्सर के इस प्रश्न को दुहराते हैं, "कौनसा ज्ञान सबसे अधिक महत्त्व का है?" वे जो आदतन ज्ञान का पक्ष लेते हैं, उसका मुख्य कारण यह नहीं है कि वे स्वयं ज्ञान-वान् हैं, बल्कि यह है कि उन्हें अपने पेशे की योग्यता प्राप्त करने के वास्ते बौद्धिक शिक्षा मिली है, पर उनके विचारों, और अपने बच्चों को बड़ा बनाने की आकांक्षा रखने वाले अभिभावकों के विचारों, में उल्लेखनीय समानता है, क्योंकि उन्हें भी इस बारे में कोई सन्देह नहीं कि ज्ञान का बड़ा महत्त्व है और वे यह चाहते और आशा करते हैं कि उनके बच्चों को स्कूल में ज्ञान प्राप्त हो। यदि उनके इस प्रश्न का कि तुमने आज क्या सीखा, कोई स्पष्ट उत्तर न दिया जा सके तो वे असंतोष अनुभव करते हैं और जिस परिवार के नौजवान लड़के परीक्षाओं में फेल हो जाते हैं, उनमें निराशा का वातावरण छा जाता है।

शिक्षा में ज्ञान का क्या स्थान है? इसकी यथार्थ जांच-पड़ताल करने में हमें, इस विषय में प्रचलित विचारों का एडम्स द्वारा किया गया दो प्रकार का बिश्लेषण स्वीकार करना लाभदायक होगा। शिक्षण के प्रक्रम में ज्ञान के कार्य के विषय में प्रस्तुत विचार दो रूप लेते हैं : या तो वे ज्ञान को परिपोषण (Nurture) मानते हैं और या ज्ञान को अनुशासन मानते हैं।

ज्ञान को परिपोषण मानने वाला विचार सीधे शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है : ज्ञान मन का भोजन है। जैसे हम शरीर को अनाज का भोजन देते हैं, वैसे ही मन को ज्ञान का भोजन देते हैं। यह मोटी समझ का विचार है और अल्प-पठित शिक्षकों के दिमाग में यह बात कभी नहीं आएगी कि ज्ञान देने के लिए कोई और भी कारण हो सकता है। प्रकृतिवाद और व्यवहारवाद सदा ज्ञान को परिपोषण मानने वाले इस विचार की ओर ही झुकते हैं। प्रकृतिवाद, जो समंजन पर बल देता है, इस बात को आवश्यक समझता है कि मनुष्य अपने वातावरण को जाने। इसलिए उसके मन को ऐसे ज्ञान से परिपुष्ट करना चाहिए जो वास्तविक जीवन की अवस्थाओं के लिए उपयोगी और प्रासंगिक है। व्यवहारवाद दैनिक जीवन के ज्ञान पर बल देने के विषय में सहमत होता हुआ इसमें थोड़ी सी बात और जोड़ देता है। यह कहता है कि हम किसी जड़ वातावरण के साथ अपने आप को समंजित मात्र नहीं करते। हम इसे नियंत्रित और अपने साथ समंजित भी करते हैं, और उसके लिए अच्छी अवस्थाएं पैदा करते हैं, और नये मूल्यों का सृजन करते हैं। तो इस अधिक व्यापक दृष्टिकोण से, मन को वातावरण के ज्ञान का भोजन और भी अधिक दिया जाना चाहिए। वातावरण के न केवल भौतिक पहलू का ज्ञान होना चाहिए, बल्कि उसके सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं का भी ज्ञान होना चाहिए। हमें अपने आस-पास की दुनिया के सब पहलुओं से बुद्धिपूर्वक व्यवहार करना सीखना है। और इसे सीखने का हमारा मुख्य साधन संबंधित ज्ञान की उपलब्धि है। इस प्रकार यह मानने के लिए एक साफ और सीधा कारण हमारे पास है कि ज्ञान शिक्षा का उपकरण है। हमने देखा कि परिपोषण वाला विचार यह मानता है कि जो ज्ञान हम दें, वह उपयोगी ज्ञान होना चाहिए। इसका एक चरम रूप वह है जो उपयोगिता की बड़ी संकीर्ण कसौटी अपनाकर यह प्रतिपादन करता है कि हमें ऐसी प्रत्येक चीज़ हटा देनी चाहिए जिसकी उपयोगिता फौरन समझ में न आती हो। वे कहते हैं कि यह फैसला करना कुछ कठिन नहीं होना चाहिए कि साधारण जीवन में क्या चीज़ उपयोगी है, और क्या चीज़ नहीं। तो हमें गणित, विज्ञान, भूगोल, इत्यादि के उपयोगी अंशों पर ध्यान देना चाहिए और बेकार अंशों को छोड़ देना चाहिए। पर यह मामला इतना सरल और सीधा नहीं है। अध्यापक यह उचित ही उत्तर देते हैं कि पहले से यह बता सकना कि क्या चीज़ उपयोगी हो सकती है और

क्या चीज़ उपयोगी नहीं हो सकती, असंभव न माना जाए तो भी कठिन तो है ही। संकीर्ण उपयोगिता की कसौटी से मानसिक परिपोषण के स्थान पर मानसिक भुखमरी ही पैदा होगी।

पर अध्यापक स्वयं दूसरे चरम विचार की ओर अधिक झुक जाया करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ज्ञान सिर्फ साधन है, और इसे साध्य का आसन दे देते हैं, और प्रायः जानकारी के हेत्वाभास (Information Fallacy) में पड़ जाते हैं। ज्ञान स्कूल के अन्दर या बाहर मिलने वाली जानकारी का ही नाम नहीं है। हम आपके सामने उन बालकों के उदाहरण नहीं पेश करना चाहते जिन्हें सब तिथियां ठीक-ठीक याद हैं और जो तथ्य के किसी भी प्रश्न पर अपने बड़ों की सब गल्तियाँ सुधार सकते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इस देश में आम शिक्षा की पहली आधी शताब्दी में जानकारी का हेत्वाभास छाया रहा। हम पहले देख चुके हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में बुद्धि पर कितनी भारी आस्था थी और वह शिक्षा-पद्धति में भी प्रतिबिंबित होती थी। अध्यापक का लक्ष्य ज्ञान-ही ज्ञान प्राप्त कराना था। आगे बढ़ने की इच्छा वाले विद्यार्थी "स्वयं-शिक्षक" पुस्तकें ले आते थे और ऐसी पत्रिकाएँ पढ़ते थे जैसे **साइंस फार आल** (अर्थात् 'विज्ञान हर किसी के लिए') इन पुस्तकों को याद करके वे साउथ केनसिंगटन में परीक्षा देने बैठते थे, और जब वे सफल हो जाते थे, तब अपने आप को अधिक उत्कृष्ट आदमी अनुभव करते थे। मेकेनिक्स इन्स्टीट्यूट्स फलने-फूलने लगीं और यह आशा की जाने लगी कि **सोसायटी फार दी डिफयूजन आफ दी यूज़फुल नौलिज** (अर्थात् उपयोगी ज्ञान के प्रसार के लिए बनाई गई संस्था) नामक एक संस्था के प्रयत्नों से सब सामाजिक बुराइयाँ रोकी जा सकेंगी और स्वर्ण-युग आ जाएगा। सब जगह स्कूल तथ्यों के ज्ञान पर बल देते थे। जैसा कि एडम्स ने कहा है, वे ज्ञान की दूकानें थीं और अध्यापक जानकारी बेचने वाले दूकानदार थे। बालक अन्तरीपों, खाड़ियों, नदियों और उनकी सहायक नदियों, इंग्लैण्ड के राजाओं की तिथियों, वायु के घटक पदार्थों और स्पंजों के गुणों को कण्ठस्थ कर लेते थे। तथ्य याद कर लिए जाते थे और बात यहीं खत्म हो जाती थी।

इस तरह की रटाई की बुराई करते हुए भी आप प्रौढ़ अवस्था के कट्टर रूढ़िवादियों की, जिन्हें स्वयं बिना समझे जानकारी रट लेने की शिक्षा दी गई थी, यह शिकायत मान सकते हैं कि आजकल उनके बच्चों को प्रतिदिन की बातों के बारे

में बहुत कम जानकारी है। कारण यह है कि शिक्षा के बारे में जो ठीक दृष्टि-कोण है, अर्थात् यह दृष्टिकोण कि ज्ञान परिपोषण है, उसका विकृत रूप जान-कारी का हेत्वाभास है। बहुत कुछ पढ़ लेना बेकार है। सच्चा ज्ञान तथ्यों के ढेर को नहीं कहते। तथ्य कार्य करने में समर्थ होने चाहिएँ। सच्चा ज्ञान है करने की शक्ति। ज्ञान के अन्तर्गत उसका प्रयोग भी आ जाना चाहिए। तथ्यों के धारण करने वाले को यह स्पष्ट अनुभव होना चाहिए कि उसके तथ्य कुछ स्थितियों से संबंधित हैं और उसे उनका प्रयोग करने को तैय्यार होना चाहिए, जिसके लिए आवश्यक है कि वह उन तथ्यों के विषय में 'क्या' और 'क्यों' के साथ-साथ 'कैसे' का भी ज्ञान रखता हो। अगर हम विचारों को मनरूपी कमरे का फर्नीचर या सजावट का सामान समझते हैं तो हमारा दृष्टिकोण गलत है। उन्हें स्वयं मन ही मन समझना अधिक ठीक है। परिपोषण वाले सादृश्य को और आगे ले जाएँ तो हम कह सकते हैं कि जैसे भोजन शरीर के अन्दर कोई अलग चीज़ नहीं रह जाता बल्कि शरीर ही बन जाता है, वैसे ही उचित रीति से आत्मसात् किये गये तथ्य मन ही बन जाते हैं। जिस मन में रटे हुए तथ्य ही भरे हुए हैं, वह तो मानसिक अपचन का रोगी है। जानकारी के टुकड़े उसी तरह शरीर को कार्य करने में समर्थ नहीं बना सकते जैसे अनपचा भोजन शरीर को कार्य करने में समर्थ नहीं बना सकता। इस प्रकार हमें विचारों को सक्रिय सत्ताएँ, विभिन्न स्थितियों में यथोचित व्यवहार करने की मन की शक्तियां, समझना चाहिए: जैसा कि हरबर्ट स्पेंसर ने कहा है, "ज्योंही ज्ञान ग्रहण किया जाता है त्योंही वह योग्यता बन जाता है और सोचने के सामान्य कार्य में तुरन्त सहायता देने लगता है।" या जैसे कि एडम्स इस उक्ति को दूसरे शब्दों में रखा करता था कि "तथ्य योग्यता बन जाता है।" हरबार्ट के अभिबोधन वस्तुओं के सिद्धान्त (Doctrine of Apperception) में भी दूसरे रूप में ज्ञान के विषय में वही दृष्टिकोण है।

इस प्रकार परिपोषण का असली सिद्धान्त बड़ा समझदारी का है। संक्षेप में इसे इस रूप में दुहराया जा सकता है कि मन को इस तरह भोजन मिलना चाहिए और इस तरह बढ़ने देना चाहिए, जिससे वह अपने सामने आने वाली समस्याओं का सामना करने के योग्य हो जाए। निरी जानकारी से यह परिणाम नहीं निक-लता। सारा ज्ञान क्रिया और विचार के रूप में कार्य करने में समर्थ नहीं होता। सारे तथ्य योग्यता नहीं बनते। पर सच्चे ज्ञान से, जो शिक्षा का उपकरण है,

दुनिया को समझने की शक्ति, अपने सामने आने वाली स्थितियों को विजय करने की शक्ति, या विजयी होने की संभावना करने की शक्ति पैदा होनी चाहिए। और जिस दुनिया की हम चर्चा कर रहे हैं, वह सिर्फ भौतिक दुनिया या रोज़-मर्रा की जिन्दगी की दुनिया ही नहीं है। इसमें सामाजिक संबंध और सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी आ जाती हैं। सच्चा ज्ञान वह सामग्री है जिससे सूझ-बूझ वाले मन का निर्माण होता है। इस प्रकार ज्ञान के बारे में परिपोषण वाले विचार को इतना काफी विस्तृत किया जा सकता है कि अधिक-से-अधिक ऊँचे विचार रखने वाले शिक्षक को संतुष्ट किया जा सके।

परिपोषण वाले दृष्टिकोण में विषय-वस्तु अर्थात् मन के भोजन की प्रकृति बड़े महत्त्व की चीज़ है। इसी बात में हमारा अनुशासन वाले दृष्टिकोण से मतभेद हो जाता है—अनुशासन वाला दृष्टिकोण यह है कि एक चीज़ स्वयं वास्तविक ज्ञान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, और वह है इसका प्रशिक्षणात्मक मूल्य या मन पर इसका बाद में रहने वाला प्रभाव। ज्ञान शिक्षा का उपकरण मुख्यतः इस कारण नहीं है कि वह विस्तृत या संकीर्ण अर्थ में वर्तमान या भविष्यत् काल में उपयोगी होता है, बल्कि इसलिए है कि वह छात्र की प्रकृति को ही सुधारता और प्रभावित करता है। इस प्रकार ज्ञान का उपार्जन एक मानसिक व्यायाम समझा जाने लगता है। शारीरिक व्यायाम तो अपने आप में उपयोगी न होते हुए भी सारे शरीर को सुधारते हैं। शारीरिक व्यायाम का कोई भी समर्थक यह नहीं मानता होगा कि सामान्य जीवन में कोई ऐसी आवश्यकता है कि मनुष्य अपने सिर के बल खड़ा हो सके, या हाथों के बल चल सके, पर वह यह मानता है कि व्यायाम शरीर को प्रत्येक काम के योग्य बना देता है। अनुशासन वाले दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थित रीति से ज्ञान देने से मन प्रत्येक चीज़ के लिए उपयुक्त हो जाता है।

एक और रूपक का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि अनुशासनवादी ज्ञान को मन की सान (धार लगाने का पत्थर) समझते हैं। १५५७ में **दी वेट-स्टोन आफ विट** (The Whet-stone of Wilte) अर्थात् बुद्धि पर धार लगाने की सान, नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जो एक बीजगणित की पुस्तक है। इससे वह दृष्टिकोण स्पष्ट होता है जिस पर अब हम विचार कर रहे हैं। गणित का ज्ञान मुख्यतः इस कारण नहीं दिया जाता कि यह ऐसे विचारों का समूह है जो वास्त-

विक जीवन की समस्याओं पर लागू किये जा सकते हैं, बल्कि इसलिए दिया जाता है, क्योंकि यह मन की शक्तियों को तीव्र करने का साधन है। सुकरात ने कहा था कि जिसने ज्यामिति पढ़ी है, वह उस आदमी की अपेक्षा बहुत जल्दी समझ सकता है, जिसने यह नहीं पढ़ी, और कहा जाता है कि प्लेटो ने उन लोगों को अपने दर्शन विद्यालय में नहीं आने दिया था जो ज्यामिति नहीं जानते थे। इसी प्रकार, इस दृष्टिकोण के अनुसार, लेटिन इस कारण नहीं पढ़ी जाती कि अन्य विषयों के साहित्य को समझने के वास्ते आजकल लैटिन भाषा का पढ़ना आवश्यक है, बल्कि इसलिए पढ़ी जाती है क्योंकि मन पर, जो इसकी कठिनाइयों को हल करता है, इसका दूरगामी प्रभाव होता है।

यह धारणा कि ज्ञान मुख्यतः एक अनुशासनात्मक कार्य करता है, फार्मल ट्रेनिंग डोगमा अर्थात् बाह्यरूपिक प्रशिक्षण वाले सिद्धान्त (Formal Traing Dogma) में स्पष्ट और प्रबल रूप में सामने आता है। यहाँ रूप और अंतर्वस्तु (Form and Content) में जो पुराना दार्शनिक भेद बताया जा रहा है, उसकी ध्वनित चर्चा है। उपर्युक्त सिद्धान्त में मन की अंतर्वस्तु को गौण करके उसके रूप पर बल दिया गया। अब मन का रूप स्मृति, तर्क, निर्णय, कल्पना, प्रेक्षण इत्यादि योग्यताओं और शक्तियों के पुंज के रूप में माना जाता है। योग्यताओं को प्रशिक्षित और तीक्ष्ण करने की आवश्यकता होती है, और उस सिद्धान्त के अनुसार, शिक्षा का कार्य यह है कि उन्हें ऐसा प्रशिक्षित कर दे कि वे किसी भी स्थिति में उपयोग के लिए तैयार हो जाएं। उस सिद्धान्त का चरम रूप उसका यह कथन है कि यदि योग्यताओं को प्रशिक्षित करने वाली सामग्री छाँटी और चुनी हुई है, तो यह बात महत्त्वहीन है कि क्या पढ़ाया जाता है।

इस प्रकार, जैसे कि एडम्स ने कहा था, शिक्षण का सारा क्षेत्र प्रभाव-क्षेत्रों में बँटा हुआ है। गणित परिशुद्धता और तर्क करने की शक्ति का प्रशिक्षण देती है, और मौखिक अंकगणित से सतर्कता पैदा होती है। क्लासिक्स अर्थात् प्राचीन साहित्य से अभिव्यक्ति की स्पष्टता और सुसंस्कृत अभिरुचि आती है। इतिहास निर्णय-शक्ति पैदा करता है और विज्ञान प्रेक्षण-शक्ति। किसी चीज को कण्ठस्थ करने से स्मृति-शक्ति पर बड़ा हितकर प्रभाव पड़ता है और फिर जैसे सान धार तभी लगा सकती है जब वह कठोर हो, उसी तरह स्कूल के विषय भी कठिन होने पर ही बुद्धि को तेज कर सकते हैं। उनका चुनाव इस

आधार पर होना चाहिए कि वे कितने कठिन, कितने अरुचिकर और कितने थकाने वाले हैं। जो विषय मनोरंजक और आनन्ददायक हैं, उन पर फौरन यह सन्देह होता है कि प्रशिक्षण की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं। यदि किसी लड़के को दस्तकारी पसन्द है और गणित से नफरत है तो उसे आवश्यक गणित पर ही अपना समय लगाना चाहिए। टी० एच० हक्सले ने कहा था कि मैं अस्थि-विज्ञान (Osteology) की ऐसी पुस्तक पेश कर सकता है जिसकी शब्दावली इतनी शुष्क और कठिन हो और नई उमर के बालकों के लिए इतनी अधिक अरुचिकर हो कि प्रशिक्षण मूल्य की दृष्टि से स्कूलों में परम्परागत पढ़ाये जाने वाले सब विषयों को मात करदे—यह प्रस्ताव उसके ज़माने के चरम बाह्यरूपवादियों (Extreme Formalists) को स्वीकार करना चाहिए था।

शिक्षा के विषय में ऐसा दृष्टिकोण टिक नहीं सकता। यदि योग्यताएं हैं भी, तो उन्हें स्कूल के पाठ्य विषयों से अभिन्न समझना सर्वथा अकारण है। पुराने शिक्षकों के मन में यह विचार कभी पैदा नहीं हुआ कि ज्ञान अपनी उपयोगिता और वांछनीयता के अलावा और किसी कारण दिया जाना चाहिए। और जब ऐसी धारणा प्रादुर्भूत हुई, तब शिक्षण सम्बन्धी सिद्धान्त में व्यर्थ तर्क की एक मंजिल शुरू हो गई। एडम्स ने कुछ कटुता के साथ कहा था कि इसको तब प्रमुखता मिली, जब अध्यापक का पेशा अच्छी तरह जम गया। अध्यापक लोग, जिनका दृष्टिकोण आमतौर से रूढ़िवादी होता है, सिर्फ इसलिए चीजें पढ़ाने लगते हैं कि वे शिक्षा-पद्धति का अंग बन गये हैं, चाहे वे चीजें अब भावी जीवन के लिए स्पष्ट रूप से अनुपयोगी हों। जब उनसे इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए कहा जाता है तब वे अपनी छिपी हुई जड़ता को बाह्यरूपिक प्रशिक्षण के सिद्धान्त का नाम लेकर उचित ठहरा देते हैं। इस प्रकार लेटिन भाषा, जो मध्य युग में सारे ज्ञान की कुंजी थी, जो पुनर्जागरण के काल में प्राचीन रोम के जीवन और साहित्य में प्रवेश का साधन थी और जो "अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक पश्चिमी योरोप में बहुत सीमा तक धर्मविद्या (Theology), कानून, विज्ञान, और यहाँ तक कि राजनय या डिप्लोमेसी की भाषा भी थी, ऐसे कारणों के हट जाने पर भी सिखाई जाती रही क्योंकि यह कहा जाता था कि इसका प्रशिक्षणात्मक महत्त्व है।

अब इस सिद्धान्त के चरमरूप को साधारणतया कोई नहीं मानता। परन्तु

यद्यपि कोई जानकार शिक्षा-शास्त्री आजकल इसकी जबान से भी सराहना नहीं करता, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि अभी शिक्षा-पद्धति इसके जाल से पूरी तरह मुक्त हो गई है। पर शिक्षण के सिद्धान्त के रूप में यह प्रायः मृत ही माना जाना चाहिए। ऐसा कैसे हो सका ?

पिछली शताब्दी के अन्त में एडम्स ने **दी हरबार्टियन साइकोलोजी एप्लाइड टू एडूकेशन** नामक पुस्तक में इस सिद्धान्त पर सामान्य समझ या मोटी बुद्धि के दृष्टिकोण से आलोचना की। उसका बाह्यरूपिक शिक्षण शीर्षक अध्याय इस धारणा से, कि जब तक बुद्धि तेज़ करने वाले विषय पढ़ाये जाते हों तब तक इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि क्या चीज़ पढ़ाई गई है, निकलने वाले बेहूदा निष्कर्षों को बड़ी योग्यता से पेश करता था। "यदि गणित मानसिक शक्तियों को प्रशिक्षित करती है तो हम सही अभीष्ट परिणाम प्राप्त करने के लिए अपराध करने का व्यवस्थित प्रशिक्षण क्यों नहीं लेते, क्योंकि बाग से चोरी करने में बालक की योग्यता का जितना विकास हो सकता है उतना और किस काम से हो सकता है······मानसिक अभ्यास की दृष्टि से सेव चुराने को लेटिन और गणित के समकक्ष क्यों नहीं माना जाता ?"

उसने एक बहुत उत्तम स्कूल में, अर्थात् ओलिवर ट्विस्ट के फेगिन के स्कूल में अत्यन्त अनुकूल अवस्थाओं में अपराध के शिक्षण सम्बन्धी मूल्य पर विचार करते हुए इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। वह यह कल्पना करता है कि अभी पूरा निरीक्षण हो चुका है और फेगिन को रिपोर्ट पढ़ते हुए दिखाता है। वहाँ प्रयुक्त अध्यापन विधियों की प्रशंसा की जाती है और होनहार छात्र-अध्यापक सर विलियम साइक की विशेष प्रशंसा की जाती है। पर अन्त में अपराध को शिक्षण का साधन या उपकरण बनाने की निन्दा की जाती है, पर वह इसलिए नहीं कि इससे बुद्धि का विकास नहीं होता, बल्कि इसलिए कि इससे बुद्धि का गलत दिशा में विकास होता है। हम फेगिन का सर्टिफिकेट रद्द कर देते हैं पर इसलिए नहीं कि वह बुरा अध्यापक है, बल्कि इसलिए कि वह बुरी चीजें सिखाता है।

अब इसके बाद यह कहते रहना सम्भव नहीं था कि जब तक सिखाई जाने वाली चीज काफी कठिन है तब तक इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि क्या चीज पढ़ाई जाती है। स्पष्ट है कि शिक्षा की अन्तर्वस्तु का महत्त्व है और जब हम यह मान लेते हैं कि इसका महत्त्व है, तब हम ज्ञान के परिपोषण वाले विचार

पर ही आ जाते हैं। हम उसी तरह मन को बुरे विचारों से विषाक्त कर सकते हैं। जैसे शरीर को बुरे भोजन से विषाक्त किया जा सकता है।

फिर योग्यता (Faculty) वाला मनोविज्ञान ही, जिस पर यह सिद्धांत खड़ा था, संदेह-योग्य समझा जाने लगा। यद्यपि, जैसा कि प्रोफेसर स्पीयरमैन ने कहा है, "योग्यताएँ हर लड़ाई (Battle) में हार जाती हैं पर युद्ध (War) में सदा जीतती हैं", तो भी हमें यह न भूलना चाहिए कि मन एक और अविभाज्य है। इसलिए इसे योग्यताओं का बंडल मान लेना पर्याप्त नहीं हो सकता। योग्यता वाले मनोविज्ञान पर हाइपोस्टैटीज़ेशन (Hypostatisation) का दोष अवश्य आएगा और योग्यता वाले सिद्धान्त को मानने वाले मनोवैज्ञानिक अलग-अलग योग्यताओं पर विचार करते हुए समष्टि को भूल जाते हैं। स्पष्ट है कि योग्यता-वादी मनोविज्ञान में जो कमियाँ होंगी उनसे बाह्यरूपिक शिक्षा की अवधारणा में वैसी ही न्यूनताएँ आ जाएँगी क्योंकि यह उस पर आधारित है।

पर योग्यतावादी मनोविज्ञान की आलोचना इस तरह की मोटी बातों से बहुत आगे पहुँच गई। प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक भी मैदान में आ गए। उनका यह कहना था कि यदि कोई ऐसी मानसिक शक्तियाँ अथवा योग्यताएँ (Mental Faculties) हैं जिन्हें प्रशिक्षित किया जा सकता है तो किसी शक्ति के एक विशिष्ट दिशा में उन्नत हो जाने से उस शक्ति की सब दिशाओं में उन्नति हो जानी चाहिए। यदि एक व्यक्ति ऐसे कार्य में प्रशिक्षित हो जाता है जिसमें उसकी कोई एक शक्ति काम में आती है, तो उस प्रशिक्षण का परिणाम उस दूसरे कार्य में भी दिखायी देना चाहिए जिसमें वह शक्ति काम आती है। उदाहरण के लिए, यदि कविता याद करने से स्मृति प्रशिक्षित हो जाती है तो उस प्रशिक्षण के परि-णाम अन्य चीजें, जैसे तिथियाँ या गणित के सूत्र, याद करने में भी दिखाई देने चाहिएँ। इस प्रकार प्रशिक्षण का स्थानांतरण (Transfer of Training) प्रायोगिक मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गया। जेम्स ने अपनी खुद की स्मृति के प्रशिक्षण पर प्रयोग करके यह सिलसिला शुरू किया। अपने को प्रति-दिन **पैराडाइज लास्ट** याद करने का अभ्यास करवाने के बाद उसने यह जाँच की कि उस प्रशिक्षण से उसकी विक्टर ह्यूगो की **सैटायर** नामक पुस्तक को याद करने की शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा है। उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि इसे याद करने के मामले में वह जैसा प्रशिक्षण से पहले था, वैसा ही

अब है। इसके बाद उसने और बहुत से प्रशिक्षण किए और वे उत्तरोत्तर अधिक सावधानी और विस्तार से किए। उसकी सारभूत शैली बिल्कुल सीधी थी। पहले तो क वस्तु में शक्ति की परख की गई। इसके बाद ख वस्तु के द्वारा शक्ति को प्रशिक्षित किया गया। फिर क वस्तु में शक्ति की पुनः जाँच की गई। यदि ख वस्तु के द्वारा प्रशिक्षण के परिणाम क वस्तु को स्थानांतरित हो जाते हैं तो स्थानांतरण की मात्रा क वस्तु में की गई आरम्भिक और अन्तिम परखों में आए अंकों के अन्तर से सूचित की जाती है।

प्रशिक्षण के स्थानांतरण के विषय में किए गए ऐसे प्रयोगों के परिणाम अधिकतर ऋणात्मक हुए हैं। सैंडिफोर्ड ने प्रायोगिक मनोविज्ञान की जाँच के परिणाम का सारांश इस रूप में दिया है :

(१) प्रशिक्षण का स्थानान्तरण प्रभाव ऋणात्मक, शून्य, या धनात्मक हो सकता है। यह प्रायः धनात्मक होता है पर धनात्मकता की मात्रा १००% के बजाए प्रायः शून्य के बहुत अधिक निकट होती है।

(२) यदि स्थानांतरण प्रभाव अधिक होता है तो सदा यह देखा जाता है कि परख करने और प्रशिक्षण देने की सामग्रियों की वस्तुओं (Contents) (या प्रस्तुत करने की विधियों) में बहुत सी चीज एक ही होती हैं।

(३) यह मानने के लिए कोई आधार नहीं कि बुद्धि के एक भाग को विशेष प्रशिक्षित करने से उसे सर्वतोमुखी प्रशिक्षण मिल जाता है।

पर लांगडन और येट्स को तब भी प्रशिक्षण का कोई उल्लेखनीय स्थानांतरण नहीं दिखाई दिया जब एक सी बातें मौजूद थीं। यह सोचकर कि पिछले प्रयोगों में बहुत सी आवश्यक सावधानियाँ नहीं बरती गई थीं, उन्होंने यह यत्न किया कि उनके प्रयोगों के सारे समय पर्याप्त अभिरोचन (Motivation) रहे, आरम्भक और अन्तिम परखों में अभिरोचन एक-सा रहे और स्थानांन्तर की उत्तरोत्तर परखों में एक-सी कठिनाई हो। यह निश्चित करने के लिए कि प्रशिक्षण के कारण वस्तुतः कितनी उन्नति हुई है, उन्होंने 'कंट्रोल' व्यक्ति प्रयुक्त किए जिन्हें जरा भी प्रशिक्षण नहीं मिला था और उन्होंने यह सन्तुष्टि कर ली थी कि प्रशिक्षण के अलावा और प्रत्येक दृष्टि से उनके कंट्रोल व्यक्ति उनके प्रशिक्षित व्यक्तियों के तुल्य थे। इसके अलावा, उनके प्रशिक्षित समूह और कंट्रोल समूह इतने काफी बड़े थे कि उन्हें आंकिक कसौटी के लिए काफी समझा जा सकता

था। ऐसी सावधानी की अवस्थाओं में भी उपर्युक्त ऋणात्मक परिणाम प्राप्त हुआ।

बाद में कावस ने मायर्स के इस विचार से प्रेरित होकर जांच की कि बुद्धि के निरे अभ्यास में और प्रशिक्षण में, जिसमें अन्तर्दृष्टि भी होती है, कुछ अन्तर है। निरे अभ्यास या रटाई का कोई स्थानांतरण प्रभाव नहीं सिद्ध हुआ था, पर जब उसके स्थान पर कुछ मोटे सिद्धान्तों का ज्ञान दिया गया, तब काफी स्थानांतरण दिखाई पड़ा। स्पष्टतया इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक से तत्त्व मौजूद होने से प्रशिक्षण का स्थानान्तरण होना आवश्यक नहीं, पर यह तब हो सकता है जब दोनों स्थितियों में सामग्री को एक ही विधि से प्रयोग में लाया जाए और इन विधियों की ओर ध्यान खींचा जाए। यह बात उससे पहले रूडिगर द्वारा की गई जांच से मेल खाती है जो इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि यदि स्कूल के एक तरह के काम को सफाई से करने का प्रशिक्षण दिया जाए तो वह दूसरे प्रकारों में स्थानान्तरित हो जाता है, जैसे यदि "उन अभ्यासों के समय, जिनमें वह प्रशिक्षण दिया जा रहा है, सामान्य स्वच्छता के विषय में बातचीत द्वारा छात्रों में स्वच्छता का एक आदर्श पैदा किया जाए।"

इससे बागले के इस प्रसिद्ध विचार की भी पुष्टि हो जाती है कि स्थानान्तरण का साधन वे आदर्श हैं जो प्रशिक्षण के समय विचारपूर्वक पुष्ट किए जाते हैं, और समझकर स्वीकार किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, वह सूक्ष्म विचार, जिसका प्रशिक्षण गणित में मिलता है, दूसरे क्षेत्रों, जैसे अर्थशास्त्र या मनोविज्ञान या रोजाना के व्यावहारिक जीवन में भी काम कर सकता है, बशर्ते कि मनुष्य ने गणित पढ़कर गणित की कठोर और स्पष्ट विधि के लिए कुछ आदर-सम्मान की भावना बनाई हो", और कोई भी विषय सीखते हुए विद्यार्थी दक्षता से और मितव्ययिता से काम करने की सामान्य आदतें बना सकता है जो उसके हर काम में उसके साथ रहेंगी।

इसे साररूप में इस तरह कहा जा सकता है कि यदि अध्ययन के विषय के साथ भावनाएं भी जुड़ जाएं, अर्थात् स्थायी भावों का निर्माण हो जाए तो प्रशिक्षण फैलाव (Traning Spread) की आशा की जा सकती है, क्योंकि हमारे स्थायी भाव ही प्रतिदिन के जीवन की विविध समस्याओं के प्रति हमारा सामान्य रुख सूचित करते हैं, और ऐसी समस्याओं को हल करने की हमारी सामान्य विधियां निर्धारित करते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि मूल्यवान् स्थायी भावों का

परिवर्द्धन अध्ययन के विषय की अपेक्षा विद्यार्थी और अध्यापक के सम्बन्ध पर अधिक निर्भर है।

इन विशेष अवस्थाओं के अलावा भी प्रशिक्षण के यान्त्रिक स्थानान्तरण के विषय में किए गए प्रयोगों के ऋणात्मक परिणाम स्वीकार करने चाहिएँ और परम्परागत शक्तियों के अस्तित्व पर संदेह करना चाहिए। आखिरकार यह तो सबके अनुभव की बात है कि एक व्यक्ति की स्मृति सब विषयों में एक सी अच्छी नहीं होती। उसे उसकी अभिरुचि के अनुसार कुछ चीजें अच्छी तरह याद रहती हैं और कुछ चीजें अच्छी तरह याद नहीं रहतीं। यदि यह आक्षेप किया जाए कि आम अनुभव तो यह भी है कि प्राचीन साहित्य, गणित या दर्शन जैसे कठिन विषयों के प्रशिक्षण से सब विषयों में बौद्धिक सामर्थ्य की वृद्धि होती प्रतीत होती है, तो उसका उत्तर यह है कि इन कठिन विषयों में सफलता के लिए शुरू में कुशाग्र बुद्धि आवश्यक है और वही कुशाग्र बुद्धि अन्य कार्य-क्षेत्रों में भी अच्छी तरह चलती है। कठोर प्रशिक्षण से कुशाग्र मन नहीं बनते, बल्कि बात यह है कि कठोर प्रशिक्षण में सफल होने के लिए कुशाग्र मनों का होना आवश्यक है। सफलता का मूल कारण अच्छा मन है, न कि प्रशिक्षण।

पर बौद्धिक शिक्षा की उस अवधारणा में अवश्य कुछ सच्चाई होगी जिसे कितनी ही पीढ़ियों से अध्यापक लगातार मानते आए हैं और वह अवधारणा यह है कि कुछ विषयों के अध्ययन से सामान्य ढंग का मानसिक प्रशिक्षण अवश्य मिलता है। बाह्यरूपिक प्रशिक्षण के सिद्धांत की अमान्यता बौद्धिक अनुशासन के मुख्य विचार पर आवश्यक रूप से लागू नहीं होती। सच तो यह है कि 'बाह्य-रूपक प्रशिक्षण' इस पदावली में ही एक महत्त्वपूर्ण सच्चाई छिपी हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि, उदाहरण के लिए, गणित की पढ़ाई से मन का एक रूप या प्ररूप पैदा हो जाता है जिसे गणितीय मन कहा जा सकता है। यदि अपेक्षित जन्मजात योग्यता हो तो जो विद्यार्थी गणित का विशेष अध्ययन करता है, वह अन्त में दुनिया को शायद एक ऐसे निश्चित दृष्टिकोण से देखने लगे जो वैज्ञानिक, इतिहासकार, साहित्यिक या कलाकार का दृष्टिकोण न होकर एक विशेष गणितज्ञ का दृष्टिकोण हो। उसका मन, जिसमें गणित के अवधारण भरे हुए होंगे, उनके रूप में संसार का—न केवल भौतिक जगत का बल्कि सामाजिक जगत का भी—निर्वचन करने लगेगा। वह अब गणितज्ञ हो गया है।

उसके मन की एक विशेष आकृति या रूप हो गया है जो उन सब व्यक्तियों में होता है जो न केवल गणित जानते हैं, बल्कि उससे प्रेम करते हैं, और जो उसकी गणित सम्बन्धी शिक्षा का सीधा परिणाम है। गणित न केवल उसके मन की अंतर्वस्तु है बल्कि उसके मन की अभिवृत्ति (Attitude) भी है। वाह्यरूपिक शिक्षा के बारे में यह दृष्टिकोण ठोस है और इसे प्रायोगिक मनोविज्ञान के प्रमाणों से गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पिछले अध्याय में नैतिक अनुशासन की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है वह बौद्धिक अनुशासन को उचित पृष्ठभूमि में देखने में हमें सहायक हो सकती है। हमने वहां देखा था कि चरित्र का अनुशासन अपरिपक्व मनों पर अधिक परिपक्व मनों के प्रस्ताव से उत्पन्न परिणाम होता है, और वह शुरू में किसी प्रशंसित व्यक्तित्व के प्रति शिष्यत्व का भाव रखने से पैदा होता है। बाद में यह भाव जाति के नैतिक महापुरुषों के प्रति हो जाता है। अन्त में शिष्य उन आदर्शों को, जिन्हें वैयक्तिक शिक्षा और ये नैतिक महापुरुष निरूपित करते हैं, अपने ही आदर्श मानने लगता है। जब वे उसके अपने आदर्श बन जाते हैं, तब अनुशासन आत्म-अनुशासन बन गया है और चरित्र का निर्माण हो गया है। यदि गणित में योग्यता रखने वाला कोई लड़का अपने गणित के अध्यापक का प्रशंसक है तो उसमें भी उसका उत्साह और उसके भावों का अनुकरण आ जाएगा। उस गुरु के चरणों में बैठकर वह गणित सम्बन्धी अध्ययन में बड़ी दिलचस्पी रखने लगेगा। वह गुरु छात्र की गुरु पर निर्भरता की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करेगा और उसे महान् गणितज्ञों के प्रति, या कम से कम, उनके विचार की रीतियों के प्रति बौद्धिक निष्ठा रखने के लिए प्रेरित करेगा। पर यदि वह निष्ठा उन महान् गणितज्ञों के शिष्यत्व का वैयक्तिक रूप ले ले तो निश्चित रूप से लाभ होगा। "उस समय महापुरुषों के निकट रहना सर्वोत्तम प्रकार की शिक्षा है।" उनके विचारों का अनुकरण करके छात्र उनकी सफलताओं में हिस्सेदार हो जाता है। उसके मन का उनके सम्पर्क से निर्माण होता है। अन्त में गणित सम्बन्धी अध्ययन के प्रति उसमें स्थायी प्रेम पैदा हो जाता है। उसके शिष्यत्व का परिणाम यह होता है कि उसका मन अनुशासित हो जाता है। वह गणित-लोक का नागरिक बन जाता है। यदि हमारा छात्र महान् परम्परा के प्रभावों को ग्रहण

करके उत्तम रीति से करना सीखकर थोड़ी मात्रा में भी उन महान् गणितज्ञों की गौरवमय श्रेणी में अपने आप को ले आता है, उनका ही रूप धारण करके उनकी आँखों से दुनिया को देखने लगता है, तो एक स्थायी महत्त्व की चीज प्राप्त हो गई है। जो आदमी इस प्रकार अनुशासित है, उसमें अपनी पढ़ाई जारी रखने और जीवन भर अपने ज्ञान का विस्तार करते रहने की प्रेरणा होगी।

हमने पहले देखा था कि प्रकृतिवाद और व्यवहारवाद शिक्षा में ज्ञान के परिपोषण वाले विचार के समर्थक हैं। यहाँ हम देखते हैं कि अनुशासन वाला विचार अध्यात्मवाद से मेल खाता है क्योंकि विद्यार्थी उपर्युक्त बौद्धिक अनुशासन से ही बौद्धिक मूल्यों की खोज करता है और विचार जगत का नागरिक बन जाता है। यद्यपि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि दोनों विचारों में कुछ अन्तर है, पर यह भी स्पष्ट है कि यदि व्यापक और समझदारी के निर्वचन स्वीकार किए जाएँ तो दोनों में बहुत बड़ा सामान्य आधार है। हमने बताया था कि जानकारी का हेत्वाभास परिपोषण वाले विचार का विकृत रूप है और यह देखा था कि सच्चा मानसिक पोषण वह है जिसमें तथ्य शक्ति या योग्यता बन जाता है। हमने बाह्यरूपिक प्रशिक्षण के सिद्धान्त को और शक्ति मनोविज्ञान को भी अनुशासन वाले विचार का विकृत रूप बताकर अस्वीकार्य ठहराया था। पर यदि मन एक दूसरे से असम्बन्धित शक्तियों का बण्डल न होकर एक अविभाज्य सत्ता है तो यह स्पष्ट है कि किसी भी मानसिक प्रशिक्षण या अनुशासन का परिणाम सारे मन पर होगा। यदि कोई विचार सचमुच विचार हैं, और निष्क्रिय मानसिक कूड़ा नहीं है, तो वे न केवल सारे मन को समृद्ध बनाते हैं बल्कि स्वयं मन बन जाते हैं। सारा अनुभव मन की वृद्धि कराता है, किसी खास तरह का अनुभव इसकी किसी खास तरह की वृद्धि कराता है, और योजनाबद्ध अनुभव, जिसे हम अध्ययन कहते हैं, उसकी व्यवस्थित रूप से वृद्धि कराता है। सक्रिय विचार किन्हीं स्थितियों में मन की प्रतिक्रिया के रूप हैं। वे इसकी अर्जित शक्तियाँ हैं और अपने आपको समष्टियों के रूप में एक बना लेते हैं। ये समष्टियाँ, चाहे हम इन्हें ज्ञान-प्रणालियाँ कहें, मानसिक पृष्ठभूमियां कहें, ज्ञानात्मक प्रवृत्तियां कहें, कम्प्लैक्स कहें, या अभिबोधन पुंज (Apperception masses) कहें, हमारे सब कार्यों और अभिवृत्तियों को निर्धारित करने वाली शक्तिशाली चीज हैं, तो

अनुशासन के दृष्टिकोण से प्रशिक्षण से शक्ति पैदा होती है, या तथ्य शक्ति बन जाता है। इस प्रकार ज्ञान को परिपोषण मानने और ज्ञान को अनुशासन मानने के मध्य कोई आधारभूत विरोध नहीं है। वे एक दूसरे के विरोधी होने की बजाए परस्पर पूरक हैं और वे एडम्स के सूत्र में एक दूसरे से मिल जाते हैं।

अध्याय ६

पाठ्यक्रम

(Curriculum)

हम देख चुके हैं कि शिक्षा के विभिन्न दर्शन और दृष्टियों से एक दूसरे से चाहे जितने दूर हों, पर इस बात में वे सब एकमत हैं कि ज्ञान शिक्षा का अपरिहार्य साधन है। इसी बात को दूसरे शब्दों में पेश किया जाए तो हम कह सकते हैं कि वे इस बात पर सहमत हैं कि स्कूल बालक को यह अनुभव देने के वास्ते है, जो वांछनीय माना जाता है। इसलिए हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि बालक को स्कूल में किस प्रकार का ज्ञान या अनुभव मिले, स्कूल के अध्ययन के विषयों का चुनाव हमें किन सिद्धांतों पर करना चाहिए, पाठ्यक्रम की विषय-वस्तु का निश्चय हम कैसे करें। ऐसे प्रश्नों का हमारे विविध दर्शन एक ही उत्तर नहीं देंगे। तो भी, हम विभिन्न दृष्टिकोणों से आने वाले निष्कर्षों में से कुछ सांझा अंश निकालने की, और यह देखने की आशा कर सकते हैं कि कुछ दूरी तक वे एक-दूसरे को संशोधित करते हैं और एक-दूसरे की कमी पूरी करते हैं।

चरम प्रकृतिवाद (Extreme Naturalism) स्कूल में स्वयं बालक के वर्तमान काल के अनुभव, कार्यों और अभिरुचियों पर बल देता है। उसकी दृष्टि में सिर्फ इनके आधार पर ही उसके स्कूल के पाठ्यक्रम का फैसला करना उचित है। उसका बड़ों के दखल, निदेशन या जबरदस्ती से कोई बाधा या रुकावट न डालते हुए अपने ही उचित अनुभव प्राप्त करने से, एक स्वतंत्र, चुस्त, सुखी और सुसमंजित (Well-adjusted) मनुष्य की वृद्धि में सहायक होने से आगे कोई और ध्येय नहीं। स्पष्टतः ज्ञान के खातिर ज्ञान प्राप्त करने का कोई ध्येय नहीं है, जैसा कि पहले हम नील के 'भयंकर स्कूल' के विवरण में देख चुके हैं।

पर व्यवहार में प्रायः प्रकृतिवाद की त्रुटिपूर्त्ति और संशोधन व्यवहारवाद (Pragmatism) से हो जाता है, जो हमें पाठ्यक्रम के लिए उपयोगिता की कसौटी देता है। स्कूल को वह अनुभव संचित कर देना चाहिए जो बालक को बाद में काम आए। पाठ्यक्रम में वह ज्ञान और कौशल शामिल होना चाहिए, जिसकी बालक को न केवल अपने वर्तमान बालक जीवन के लिए, बल्कि भविष्य के प्रौढ़ जीवन के लिए भी आवश्यकता है। यहां हम एक सीधे-सादे आदमी का दृष्टिकोण रखते हैं जो मोटी बुद्धि का दृष्टिकोण है और तत्त्वतः ठोस दृष्टिकोण है, और यदि कोई बहुश्रुत शिक्षक सीधे-सादे आदमी की राय को तुच्छ समझता है तो शायद वह अरस्तू के इस कथन को आसानी से ग्रहण कर लेगा : "इसमें कोई संदेह नहीं कि बालकों को वे उपयोगी चीजें पढ़ाई जानी चाहिएँ जो वास्तव में आवश्यक हैं।" बोर्ड आफ एडुकेशन के प्रवक्ताओं ने कहा है कि "पाठ्यक्रम के प्रति हमारा रवैया इस इच्छा से प्रभावित हुआ है कि बालकों को वे आदतें, कौशल, अभिरुचियां और भावनाएं ग्रहण करने या बढ़ाने में सहायता दी जाए जिनकी उन्हें अपने लाभ के लिए और उन लोगों के लाभ के लिए जिनके बीच वे रहेंगे, आवश्यकता होगी"।

इस प्रकार "प्रत्येक सामान्य बालक को अपनी भाषा बोलने, पढ़ने और लिखने का सामर्थ्य, और अंकगणित और नाप-तोल का कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। इसी प्रकार, स्वास्थ्य और शारीरिक प्रशिक्षण का तथा प्रायोगिक शिक्षा का इतना अधिक महत्त्व है कि कोई भी उन्हें प्राथमिक स्कूल के पाठ्यक्रम से बाहर रखने की बात नहीं सोच सकता"। इस प्रकार हमें उपयोगिता की कसौटी से आवश्यक न्यूनतम पाठ्यक्रम पता चल गया। ये चीजें दैनिक जीवन में परम आवश्यक हैं और उनके बिना मनुष्य को बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए ये चीजें पाठ्यक्रम में अवश्य होनी चाहिएँ, और उपयोगिता वाली कसौटी साथ ही इतिहास और भूगोल को भी आवश्यक बनाती है, क्योंकि इन से नागरिक के दैनिक जीवन की समस्याओं को समझने में मदद मिलती है और गणित तथा विज्ञान को भी पेश करती है। पर इनकी प्रकृति और मात्रा इस बात पर निर्भर है कि छात्र को किस तरह का जीवन बिताना है। उदाहरण के लिए, लड़कियों के लिए गृह-विज्ञान और देहाती क्षेत्र के लड़कों के लिए कृषि-विज्ञान ठीक होगा। बाद में उपयोगिता की कसौटी किसी पेशे की सीधी शिक्षा

को आवश्यक बनाती है। इस विषय पर अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

यद्यपि शिक्षण क्षेत्र का व्यवहारवादी भी भविष्य पर मुख्यत: उपयोगिता की दृष्टि से ही विचार करता है, पर वह अपने सिद्धांत का संकीर्ण और निष्फल निर्वचन नहीं करता। कारण यह कि उसका लक्ष्य मानवीय प्रगति है, और वह स्कूल की शिक्षा को यह प्रगति करने का मुख्य साधन समझता है। इस प्रकार, वह प्रकृतिवादी से इस बात में बहुत आगे बढ़ जाता है कि वह स्कूल में कुछ व्यवस्थित अनुभव की आवश्यकता समझता है, पर इस विचार में वह उससे पूरी तरह सहमत है कि स्कूल की पढ़ाई स्वयं बालक की वर्तमान अभिरुचियों, क्रिया-कलाप और अनुभव को आधार बना कर होनी चाहिए।

अब हम यह देखने का यत्न करेंगे कि व्यवहारवादी प्राथमिक स्कूल के पाठ्यक्रम की समस्या किस तरह हल करता है। ड्यूई पुस्तक, विषय या अध्यापक के बजाए बालक को महत्त्व देता है। यदि बालक अब प्रचुर और पूर्ण अनुभव प्राप्त कर रहा है तो वह अपने भावी जीवन की अच्छी-से-अच्छी तैयारी कर रहा है। क्योंकि क्रियाशीलता बालकपन की आवश्यक विशेषता है, इसलिए बालक को अवश्य क्रियाशील होना चाहिए। स्कूल में उसे जो अनुभव दिया जाए, वह पक्के तौर से उसकी प्राकृतिक क्रियाशीलताओं और अभिरुचियों पर आधारित होना चाहिए। यदि स्कूल का अनुभव इस प्रकार हो तो ऐसे मौके न आएँगे कि एक ओर उत्सुक चुस्त छोटा बालक हो जो उत्सुकता से अनुभव प्राप्त करना चाहता है, और दूसरी ओर एक बड़ा लड़का हो जो बड़ी अनिच्छा से स्कूल में आता है और स्कूल उसे जबरदस्ती अवांछित अनुभव देता है। ड्यूई शिक्षा में बाह्यरूपिकता (Formality) का प्रबल विरोध करता है और अंत में वह इसके तर्कसंगत निष्कर्ष रूप इस सिद्धांत पर पहुँचता है कि सीखना एक सक्रिय प्रक्रम है, तथ्यों की निष्क्रिय स्वीकृति नहीं।

उसने बालक की स्वाभाविक अभिरुचियों का चार भागों में विश्लेषण किया : "वार्तालाप या अपनी बात बताने में अभिरुचि; पृच्छा (Enquiry) अर्थात् वस्तुओं को जानने में दिलचस्पी; वस्तुएँ बनाने अर्थात् रचना में दिलचस्पी; और कलात्मक अभिव्यक्ति में दिलचस्पी। ये वे प्राकृतिक संपदाएँ हैं या अनियोजित पूंजी हैं जिनके प्रयोग पर बालक की शीघ्र वृद्धि निर्भर है। इन अभिरुचियों की दिशा में आगे बढ़ने के लिए पढ़ने-लिखने और गिनने की कलाएँ

अपेक्षित होती हैं और बालक उन्हें साध्य के बजाए उपकरण समझकर हस्तगत करना चाहते हैं, पर ये कलाएँ स्वयं दिलचस्पियों से सदा गौण रहती हुई भी अपना उचित स्थान अवश्य और अनिवार्यतः प्राप्त करेंगी।

इसलिए यहाँ समस्या यह है कि (१) बालक को काम-धंधों, अभिव्यक्ति, वार्तालाप, रचना और तजरुबे करने में स्वयं कार्य करने का बहुत काफी मौका मिले, ताकि उसका नैतिक और बौद्धिक व्यष्टित्व उसे पुस्तकों से मिलने वाले दूसरों के बहुत अधिक अनुभव से दब न जाए, और (२) उसके प्रत्यक्ष अनुभव को इस प्रकार चालित किया जाय जिससे बालक को यह महसूस हो कि वह परंपरागत सामाजिक उपकरणों का सहारा ले और उनमें कुशलता हासिल करे— उसे मोटिव अर्थात् प्रेरकभाव या प्रयोजन प्रस्तुत किये जाएँ और वह उन्हें बुद्धिपूर्वक समझकर आगे बढ़े जिससे उसकी शक्तियों में वृद्धि हो। वह उनका गुलाम न बन जाए। जब यह समस्या हल हो जावेगी, तब भाषा, साहित्य और गणित का काम यांत्रिकवाद, रूपात्मक विश्लेषण और सनसनीदार अभिरुचियों को अपील करने का संयोजन नहीं होगा, चाहे यह अपील अनजाने तौर से ही की जाती है और इस भय के लिए जरा भी कारण न रहेगा कि पुस्तकों और पुस्तकों से सम्बन्धित अन्य चीज़ों को वह महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिलेगा जो उन्हें मिलना चाहिए।

इस प्रकार ड्यूई की दृष्टि में पाठ्यक्रम बाल-प्रकृति और जीवन की वास्तविकताओं से सम्बन्ध रखता है। ज्यों-ज्यों शिक्षा आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों इसकी विषय-वस्तु वास्तविक जीवन की विभिन्न गतिविधियों में से छाँटी जाएगी और उनका निर्णायक सिद्धान्त यह होगा कि बालक के परिवर्धन की क्रमिक अवस्थाओं में उसकी स्वाभाविक अभिरुचियाँ क्या हैं। प्रकृतिवाद की इतनी मात्रा को बहुत सारे लोग सर्वथा ग्राह्य मानेंगे। आदर्श घर में बालक घर के कार्यों में भाग लेता हुआ स्वभावतः और अनिवार्यतः सीखता है और यदि हम इस सारे कार्य को संगठित और सामान्यकृत कर दें तो आदर्श विद्यालय बन जाता है। घर सर्वथा बालक के हितों की दृष्टि से नहीं चलाया जाता, पर विद्यालय सिर्फ बालक के लिए है। इस प्रकार स्कूल की प्रकृति ही ऐसी है कि यह घर की अपेक्षा अधिक प्रशिक्षण दे सकता है और इसके लिए वह सर्वथा बालक की अभिरुचियों की दृष्टि से काम-धंधे चुन सकता है।

पर अध्यात्मवाद पाठ्यक्रम की समस्या पर बालक और उसके वर्तमान या भावी कार्यों के बजाय विचारों की दृष्टि से विचार करता है। यह बालक के वर्तमान अनुभव पर इतना ध्यान नहीं देता जितना सारी जाति के अनुभव पर। यह मानवीय ज्ञान और अनुभव की संपूर्ण समष्टि पर विचार करता है और उसका छोटा रूप विद्यालय में बालक के सामने रखना चाहता है। यह इस दृष्टि-कोण से विचार करता है कि विद्यालय का उद्देश्य स्वयं सभ्यता को प्रतिबिंबित करना है। इसलिए पाठ्यक्रम का मुख्य प्रयोजन यह है कि बालक जिस मूलवंश का एक सदस्य है, उसके पुंजीभूत अनुभव को, कम से कम प्रतिनिध्यात्मक रूप में ही सही, साररूप में प्रस्तुत करे और संगठित करे।

जो लोग इस विचार के समर्थक हैं उनका पहला कार्य मानवीय अनुभव का विश्लेषण करना है। पहला विश्लेषण तो यह होता है कि मनुष्य का अनुभव कम-से-कम दो प्रकार का है: एक तो उसके प्राकृतिक वातावरण से होने वाला अनुभव और दूसरा अन्य मनुष्यों से होने वाला अनुभव। इससे हमें पाठ्यक्रम के दो मोटे विभाग तुरन्त पता चल जाते हैं, एक तो विज्ञान और दूसरा मानवीय अध्ययन अर्थात् साहित्य आदि (Humanities)। इनमें से प्रत्येक को आगे विभाजित किया जाए तो इनमें अध्ययन का प्रायः प्रत्येक विषय आ जाएगा। दूसरा विश्लेषण का तरीका वह है जिससे अनुभव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है और उसमें ये तीन चीजें निकलती हैं, अर्थात् (क) प्रयसन (Conation) अर्थात् सक्रिय प्रयत्न का अनुभव, (ख) संज्ञान (Cognition) या जानने का अनुभव और (ग) भावना (Affect) या महसूस करने का अनुभव। इस विश्लेषण के अनुसार चल कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पाठ्यक्रम में (क) वह चीज़ होनी चाहिए जिसे मनुष्य करने का यत्न करता है। इसमें मनुष्य जाति के कला-कौशल और विशेष रूप से वे कला-कौशल, जो भोजन, वस्त्र और आश्रय की आरम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते हैं, शामिल होने चाहिएँ। इनसे स्वभावतः हम उपकरणों के उपयोग और ललित कलाओं पर पहुँच जाएँगे जो व्यावहारिक समस्याओं के हल हो जाने पर अनिवार्यतः सामने आ जाती हैं, क्योंकि जैसा कि ड्यूई ने कहा था, "पुनर्जागरण काल की कला इसलिए महान् थी कि वह जीवन की हस्त-कलाओं में से होकर बढ़ी थी। वह किसी अलग वायुमण्डल में, चाहे वह कितना ही आदर्श हो, स्वयं पैदा नहीं हो गई थी,

बल्कि उसने जीवन के घरेलू और रोजाना के रूपों में चलने वाली बातों को एक आत्मिक अर्थ दे दिया था।" पाठ्यक्रम में वह चीज भी होनी चाहिए (ख) जिसे मनुष्य जानता है। उसमें उसके विचार की मुख्य रीतियों का समावेश भी होना चाहिए। इस प्रकार उसमें भाषा और साहित्य, विज्ञान, गणित, इतिहास और भूगोल—मतलब यह है कि प्रचलित बौद्धिक विषय भी अवश्य होने चाहिएँ। अंतिम बात यह है कि विद्यालय में (ग) मनुष्य की भावना मुख्य रीतियों और कला, कविता और संगीत में उनकी अभिव्यक्ति का अनुभव भी कराया जाना चाहिए। इन्हीं साधनों से मनुष्य ने अपनी मूल्य की अनुभूति को अभिव्यक्त करने की शक्ति प्राप्त की है और उनकी किसी भी कारण से उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। उस महान् शैक्षणिक अध्यात्मवादी प्लेटो ने ही यह कहा था कि "जो शिक्षा आपको घृणा करने योग्य वस्तुओं से सदा घृणा करना और प्रेम योग्य वस्तुओं से सदा प्रेम करना सिखाती है" उसे ही शिक्षा कहना सही है।

बेंकारा ब्रेनफोर्ड ने एक उल्लेखनीय पुस्तक **जेनस एण्ड बेस्टा** (Janus and Besta) में, जो प्रथम महायुद्ध के दिनों में प्रकाशित हुई थी, ऊपर बताए गये ढंग का ही विश्लेषण किया है। स्कूल को संसार का, न केवल रोजमर्रा के संसार का बल्कि सारी मानव-जाति, शरीर और आत्मा, भूत, भविष्य और वर्तमान के संसार का, एक आदर्श लघुरूप या नमूना मानते हुए वह मनुष्य के कार्यों के तीन तरह के विभाजन पर पहुँचता है। क्योंकि "मनुष्य का मष्तिष्क हाथ और हृदय एकत्व में त्रैत हैं, इसलिए संस्कृति के उपकरण भी तीन हैं, अर्थात् विज्ञान, कलाएँ और दस्तकारियां तथा भाषाएँ जिनमें सब तरह का संगीत और साहित्य आ जाता है। मनुष्य की दिलचस्पो के विषय भी तीन हैं : स्वयं प्रकृति, कला-कौशल और अन्य लोग। इसलिए हमें स्कूल में भी तीन विषय पढ़ने चाहिएँ; (क) प्रकृति की कला का बाह्य प्रकृति का अध्ययन; (ख) हस्त-कला या कलाओं तथा दस्तकारियों का अध्ययन; और (ग) भाषा या जन-कला (Folk-craft) अर्थात् भाषा के विभिन्न रूपों का अध्ययन। अध्यापकों में भी प्रकृति-शास्त्री, कला-कौशल के उस्ताद और विद्वान होने चाहिएँ, या जैसा कि ब्रेनफोर्ड ने उन्हें नाम दिया है, वे प्रकृति-मानववादी (Nature-humanist), कला-मानववादी (Craft humanist) और भाषा का जन-मानववादी होने चाहिएँ—इस प्रकार लेखक ने अपना यह विचार रखा है कि अध्यापक सदा "मानववादी होना चाहिए

जिससे वह अपने छात्रों में उनकी पूर्ण मानवता को परिवर्धित कर सके"।

नन ने अधिक विस्तृत और इसलिए अधिक उपयोगी विश्लेषण दिया है। उसने उपयोगिता की कसौटी को, जहाँ तक वह जा सकती है वहाँ तक, सारतः सुस्थित माना है, और बाह्यरूपिक प्रशिक्षण सिद्धांत को निर्णायक सिद्धांत के रूप में अस्वीकार किया है, और पिछले अध्याय में प्रस्तुत बौद्धिक अनुशासन के विचार को परिवर्धित किया है। पाठ्यक्रम के सिद्धांत के विषय में वह निम्नलिखित बातों को ठोस आधार मानता है :

"किसी राष्ट्र के विद्यालय उसके जीवन के वे अंग हैं जिनका विशेष कार्य राष्ट्र की आत्मिक शक्ति को दृढ़ करना, उसके ऐतिहासिक सातत्य को बनाये रखना, उसकी भूतकाल की सफलताओं को कायम रखना और उसके भविष्य की गारंटी करना है। अपने स्कूलों के द्वारा राष्ट्र को उन चिरस्थायी स्रोतों का स्मरण रखना चाहिए जिनसे इसके जीवन के सर्वोत्तम आंदोलनों को सदा प्रेरणा मिली है, इसके अधिक महान पुत्रों के स्वप्नों का साझीदार बनना चाहिए, सदा अपनी स्वयं आलोचना करते रहना चाहिए, अपने आदर्शों को निर्मल बनाते रहना चाहिए, अपने आवेगों को नई प्रेरणा और नई दिशा देते रहना चाहिए।"

विद्यालयों में उन मानवीय गतिविधियों का प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए जो व्यापक जगत में महानतम और सबसे अधिक स्थायी सार्थकता रखती हैं और मानवीय आत्मा की भव्य अभिव्यक्तियाँ हैं। नन के सिद्धांत में, जो ऐसे अच्छे रूप में रखा गया है, अध्यात्मवादी पक्ष का सार आ जाता है।

वे कौनसी मानवीय गतिविधियां हैं जिनका प्रतिबिम्ब विद्यालयों में होना चाहिए ? "वे स्वभावतः दो समूहों में आती हैं। प्रथम समूह में वे कार्य आते हैं जो व्यष्टिगत और सामाजिक जीवन की अवस्थाओं की हिफाजत करते हैं और इनके मानदण्ड को कायम रखते हैं, जैसे स्वास्थ्य और शारीरिक शोभा का ध्यान रखना, शिष्टाचार, सामाजिक संगठन, नैतिक नियम और धर्म; दूसरे भाग में वे कार्य आते हैं जो प्रारूपिक सृजनात्मक कार्य हैं और जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि वे सभ्यता का ठोस ढाँचा है"। पहले समूह के कार्य अपनी प्रकृति के कारण विषय नहीं माने जा सकते, यद्यपि छात्रों के अध्ययन द्वारा उन्हें प्रेरित और पुष्ट किया जाना चाहिए, और सुनिश्चित अध्यापन द्वारा छात्रों को कुछ-न-कुछ दूर तक उनकी दिशा में ले आया जाना चाहिए।

उदाहरण के लिए, सामाजिक संगठन और नैतिक नियम स्कूल के सारे जीवन में व्याप्त होने चाहिएँ और धार्मिक भावना का कभी अभाव नहीं होना चाहिए। दूसरे समूह के कार्यों पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि—

"शिक्षा की प्रत्येक पूर्ण योजना में इन चीजों का समावेश अवश्य होना चाहिए : (१) साहित्य, जिसमें मातृभूमि का कम-से-कम सर्वोत्तम साहित्य शामिल हों; (२) कुछ प्रकार की कलाएँ, जिनमें संगीत भी हो, जो सबसे अधिक विश्व-व्यापी कला है; (३) दस्तकारी, जिसके सिखाने में या तो सौंदर्य के पहलू पर बल देना चाहिए, जैसे बुनाई, लकड़ी पर खुदाई, अक्षर बनाना आदि, या इसके निर्माणात्मक पहलू पर बल देना चाहिए, जैसे बढ़ईगिरी और सुई के काम; (४) विज्ञान जिसमें गणित, संख्या, स्थान और समय का विज्ञान शामिल है। इतिहास और भूगोल इसमें दो रूपों में आना चाहिए—प्रथम तो इतिहास साहित्य का हिस्सा है और भूगोल विज्ञान का। दूसरे इन्हें पाठ्यक्रम में मुख्य स्थान मिलना चाहिए क्योंकि इन्हीं विषयों में मनुष्य के संचलन का वर्णन और निर्वचन होता है।"

पाठक को स्पष्ट हो गया होगा कि नन ने सृजनात्मक कार्यों का जो विश्लेषण किया है वह ब्रेनफोर्ड द्वारा किये गये विभाजन से बिलकुल मेल खाता है, जिसमें उसने मानवीय कार्यों को जन कला या भाषा कला, हस्त कला और प्रकृति कला में बाँटा है।

अध्यापन की आत्मा क्या होनी चाहिए ? नन का स्पष्ट विचार है कि "स्कूल को मुख्यतः ऐसा स्थान समझना चाहिए जहाँ कोई ज्ञान प्राप्त किया जाता है, बल्कि ऐसा स्थान समझना चाहिए जहाँ बालकों को कुछ प्रकार के कार्यों का अनुशासन दिया जाता है।" बोर्ड आफ एडुकेशन ने भी ऐसी ही बात कही है कि पाठ्यक्रम को ज्ञान प्राप्त करने या तथ्य संचित करने के स्थान के रूप में सोचने के बजाए कार्य और अनुभव के रूप में सोचना चाहिए। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, गणित कुछ नियम के समूह के रूप में नहीं पढ़ानी चाहिए, बल्कि सोचने और काम करने के लिए एक विशेष तरीके के रूप में, दुनिया के साथ व्यवहार करने के एक ढँग के रूप में, सिखानी चाहिए। हमें अपने छात्रों को गणित सम्बन्धी विचार के परिणाम दे देने के बजाय उन्हें इसके प्रक्रमों में से गुजरने का रास्ता दिखाना चाहिए। जो बात गणित के बारे में सच है, वह स्कूल के

सब विषयों के बारे में सच है। वे विषय ऐसे मार्गों के रूप में पेश किए जाने चाहिएँ, जिनमें होकर उसकी सृजनात्मक ऊर्जा का प्रवाह वह सके। जब हम यह स्मरण करते हैं कि कवि असली अर्थों में निर्माता होते हैं, तब हमें इस बात की ठीक पृष्ठभूमि मिल जाती है। तो, न केवल कविता में बल्कि सामान्यतया सारे साहित्य में गणित, विज्ञान, भूगोल, इतिहास और स्कूल के सभी कार्यों में छात्र को निर्माता या सृजनकर्त्ता बनना है। उसे सदा नई बात पता लगाने की और नया सृजन करने की प्रसन्नता होनी चाहिए। उसे अपनी ही आत्मा की नई अभिव्यक्ति से सन्तुष्ट होना चाहिए।

यहाँ आकर हम ड्यूई वाले सिद्धान्त पर ही आ जाते हैं, क्योंकि वह और नन दोनों यह मानते हैं कि स्कूल में कुछ कार्य होने चाहिएँ। इसमें कोई संदेह नहीं कि ड्यूई यह मानता है कि कार्यों का चुनाव मुख्यतः स्वयं बालक को केन्द्र बनाकर करना चाहिए और नन यह मानता है कि चुनाव करने में सभ्यता के व्यापक दृष्टिकोण का विचार करना चाहिए। यह कहना तो व्यर्थ है कि ये दोनों विचार आवश्यक रूप से एक ही पाठ्यक्रम पर पहुँच जाएँगे, यद्यपि काम की भावना एक-सी हो सकती है। पर ड्यूई की पुस्तक में जब हम यह पढ़ते हैं कि बालक के मन में असभ्य लोगों के प्ररूपिक कार्यों की एक तरह की स्वाभाविक पुनरावृत्ति होती है, और यह सोचते हैं कि नन शिक्षा के आरंभिक काल में जिन प्ररूपिक मानवीय कार्यों को पाठ्यक्रम में लाना चाहता है, वे वही असभ्य या आद्य (Primitive) कार्य हैं, तब हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समस्या के प्रति दोनों दृष्टकोणों में कोई मौलिक अंतर नहीं। पर यह बात तो सत्य बनी ही रहती है कि इनमें से एक सारतः प्रकृतिवादी है और वह बालक की दृष्टि-कोण से चलता है, और दूसरा अध्यात्मवादी है जो मानवीय ज्ञान और सफलता की पूर्ण समष्टि के दृष्टिकोण से चलता है।

पर दोनों ही निष्क्रियता, वाह्यरूपिकता (Formalism) और शब्द-शिक्षा (Verbalism) के विरोधी हैं। बहुत से पाठकों को यह महसूस होगा कि ड्यूई का सिद्धान्त इस दृष्टि से अधिक अच्छा है कि इसमें स्वयं बालक और उसकी अभिरुचियों की उपेक्षा नहीं होती और पाठ्यक्रम एक दूसरे से पृथक् विषयों में अनुचित रूप से विभाजित नहीं हो जाता। यह शिक्षा ग्रहण के सारे प्रक्रम को एक साथ आगे बढ़ाता है और पाठ्यक्रम को एकात्मक बनाता है और एकात्मकता

का आधार स्वयं बालक होता है। प्रकृतिवाद और व्यवहारवाद से अनुप्राणित शिक्षा-पद्धतियों में जैसा सदा हुआ करता है वैसे ही यहां भी खतरा इस बात में है कि ऐसा कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं जिसकी दशा में प्रयत्न किया जाना है। बालक भविष्य में पुरुष और स्त्री बनने की तैयारी कर रहे हैं, और इसलिए बालक का कार्य अपने आप में पूरी तरह कोई साध्य नहीं है। बालक के वर्तमान जीवन के महत्त्व और सार्थकता के बारे में सब कुछ मान लेने के बाद भी यह बात तो सत्य रहती ही है कि शिक्षा स्कूल के बाद के किसी और काम की तैयारी है। नन का अध्यात्मवादी दृष्टिकोण हमारे सामने एक ध्येय रखता है, चाहे वह बहुत ऊँचा ध्येय है, और इसमें तथा व्यवहारवादियों और प्रकृतिवादियों के कार्य के सिद्धांत में कोई विरोध नहीं होना चाहिए, बशर्ते कि ये किसी लक्ष्य की ओर ले जा रहे हों। हाँ, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अध्यात्मवाद अनिवार्यतः ध्येय पर बल देता है और प्रकृतिवाद शिक्षा के साधनों पर बल देता है। अध्यात्मवादी यह कहता है कि जो अभिरुचियां पहले से मौजूद नहीं हैं, उनका सृजन करना पहले से मौजूद अभिरुचियों को बढ़ाने की अपेक्षा अधिक ऊँचा उद्देश्य है।

साथ ही शिक्षा में बाह्यरूपिकता का विरोध करते हुए भी इसका बहुत शाब्दिक अर्थ न करना चाहिए। इस बात पर हम सब सहमत हो सकते हैं कि विशेष रूप से आरम्भिक काल में बाह्यरूपिक शिक्षा का स्थान बालक के अपने साद्देश्य कार्य से गौण होना चाहिए, पर यदि बालक को, उदाहरण के लिए, गणित या पढ़ने की कुछ बाह्यरूपिक शिक्षा की आवश्यकता मालूम होती है और इच्छा अनुभव होती है तो वह उसे अवश्य मिलनी चाहिए। स्कूल को उसे मनुष्य जाति के अनुभव का निचोड़ प्राप्त कराना चाहिए और पुंजीभूत ज्ञान का वह संग्रह उसे देना चाहिए जो भविष्य में काम आ सके। अध्यापक स्वाभाविक कार्यों या अभिरुचियों पर चाहे जितना बल दे, पर उसे सारे मानवीय अनुभव का कोई-न-कोई विश्लेषण अवश्य करना होगा, और यह फैसला करना होगा कि स्कूल में बालक किन अनुभवों को सबसे अधिक लाभदायक रीति से प्राप्त कर सकता है, और इसमें हमेशा यह आवश्यक होगा कि पाठ्यक्रम को ऐसे कार्यों में बांट दिया जाए जो एक दूसरे से पृथक् हैं। पर यह बात कह देना उचित होगा कि ये कार्य सदा सोद्देश्य होने चाहिएँ। बालक को किसी समस्या की सीधे साधना करनी चाहिए और स्वयं यह महसूस करना चाहिए कि उसके ज्ञान और कौशल को

बढ़ाना उसके लिए आवश्यक है। समझदार अध्यापक यह यत्न करता है कि उसके छात्र के सामने ऐसी कठिनाइयाँ आएँ जो पढ़ाई या गणित सीखने से ही हल हो सकती हैं। शिक्षा के विषय में इस धारणा से बचना आवश्यक है कि यह तैयारी का एक लम्बा प्रक्रम है, और इसका शिक्षा पाने वाले बालक के लिए कोई अर्थ नहीं है।

निस्संदेह वे बहुत से शिक्षक, जो ऐसे स्कूलों में दिनभर मेहनत करते हैं जिनमें कुशाग्र बुद्धि छात्र अपवाद रूप से होते हैं, आह भरकर कहेंगे कि नन का स्वप्न तो सुन्दर है पर वह इतना आदर्शवादी है कि वह सत्य नहीं हो सकता। अपने औसत दर्जे के छात्रों को देखते हुए वे इसी निश्चय पर पहुँचेंगे कि पाठ्यक्रम का आदर्श लक्ष्य, अर्थात् मानवीय आत्मा के सर्वोत्तम और सबसे अधिक मूल्यवान् सफल कार्यों को साररूप में रख देना, एक असाध्य ध्येय है। वे पाठ्यक्रम और विधि में सुधार का यत्न करते हुए ड्यूई के सिद्धान्त को अधिक सुसाध्य समझते हैं। पर स्पेन्स रिपोर्ट ऐसे अध्यापकों को यह बात याद दिलाती है कि सुसंतुलित शिक्षा में सब महान् सांस्कृतिक परम्पराओं से थोड़ा-बहुत सम्पर्क आवश्यक होता है, यद्यपि यह जरूरी नहीं कि हर अवस्था में सबके साथ सम्पर्क हो। नन का ध्येय यह है कि हमें एक आदर्श को लक्ष्य बनाकर चलना चाहिए, और यदि उस पर पूरी तरह नहीं पहुँचा जा सकता तो अधूरी सफलता तो मिल ही सकती है। यदि मनुष्य के विचार के एक भी विशिष्ट क्षेत्र में कोई ऐसा नवयुवक या नवयुवती प्रविष्ट हो जाए जो सामान्य योग्यता अधिक न होने पर भी उस प्रकार के विचार की प्रतिभा रखता है तो एक बड़ी मूल्यवान् सफलता मिल जाती है। यदि हमारे छात्र में किसी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के लिए प्रतिभा नहीं है तो इस तरह के पाठ्यक्रम बनाए जा सकते हैं जिनमें नीरस प्रविधि और ब्योरे की अधिकता न हो और जिनसे सृजनात्मक कार्य की उन रीतियों के आवश्यक गुण सामने आ जाएँ और यह स्पष्ट हो जाए कि मनुष्य जाति के कार्य-व्यवहार में उनका क्या स्थान है। यद्यपि यह ठीक है कि कोई भी मनुष्य आंशिक ज्ञान और अपने सामर्थ्यों के आंशिक प्रशिक्षण से अधिक कुछ नहीं प्राप्त कर सकता तो भी यह बात स्मरण रखने योग्य है कि एक व्यक्ति, उदाहरण के लिए, गणित या विज्ञान का विस्तृत ज्ञान न होने पर भी गणित की या विज्ञान की भावना प्राप्त कर सकता है।

बहुत अनुकूल परिस्थितियों में भी नन के ध्येय की सिद्धि के लिए सुदीर्घ और श्रमपूर्ण शिक्षणात्मक प्रक्रम की आवश्यकता है जो परिवर्द्धन की क्रमिक अवस्थाओं पर आधारित होना चाहिए। पाठ्यक्रम के प्रश्न पर विचार समाप्त करने से पहले इन क्रमिक अवस्थाओं की प्रकृति पर विचार कर लेना लाभदायक होगा। प्रोफैसर ए० एन० वाइटहैड ने दो उल्लेखनीय भाषणों में यह विचार पेश किया था कि सीखने में एक स्वाभाविक तीन रूपों वाला ताल (Rhythm) यानी उतार-चढ़ाव होता है, जिसकी क्रमिक मात्राएँ रोमांच या कुतूहल (Romance), याथानथ्य (Precision) और सामान्यकरण (Generalization) हैं, और आपने यह कहा था कि बौद्धिक शिक्षा, चाहे उसे समष्टि रूप में देखा जाय या अलग-अलग विषयों के रूप में देखा जाए या एक विषय के किसी एक अंग के रूप में देखा जाए, इस ताल पर आधारित होनी चाहिए। पहली कुतूहल की अवस्था में ज्ञान व्यवस्थित प्रक्रिया के अधीन नहीं होता, बल्कि सीखने वाले का मन वस्तुओं से विस्मित होता है, जिससे उसमें उफान-सा पैदा हो जाता है और वह विचारों और अनुभव के कीचड़ में इधर-उधर दौड़ता हुआ-सा फिरता है। जब विस्मय की आरम्भिक गति शिथिल पड़ जाती है तब याथातथ्य की अवस्था स्वभावतः आ पहुँचती है। तब वह बातों को यथार्थ रूप से जानना चाहता है, तथ्यों को प्रत्यक्ष करना चाहता है, और अपने ज्ञान और कौशल को बढ़ाना चाहता है। सबसे अंत में किशोरावस्था के समय सामान्यकरण की इच्छा पैदा होती है, जो इस ताल की अंतिम मात्रा है जिसमें व्यापक सिद्धान्तों और विस्तृत दृष्टिकोणों की खोज होती है, और सीखनेवाला वस्तुओं को निरन्तर और पूर्ण रूप में देखना चाहता है। "सच्ची बात तो यह है कि पूर्ण किशोरावस्था जीवन का वह काल है, जिसमें कोई कुशाग्रबुद्धि बालक या बालिका पहली बार उन महान सामान्यकरणों का और उन दृष्टिकोणों तथा कल्पनाओं का आकर्षण अनुभव करता है जो सारे काल और अस्तित्व मात्र को उनके ज्ञान-वृत्त में ले आते हैं।"

मनुष्य जाति और व्यष्टि में वैज्ञानिक ज्ञान के परिवर्द्धन का जो व्यापक प्रभाव हुआ है, वह इस ताल का एक स्पष्ट उदाहरण है। विज्ञान विस्मय से शुरू होता है—विश्व के बारे में विस्मय होता है और इसकी प्रकृति और अर्थ के बारे में रोमांचकारी कल्पनाएँ की जाती हैं। धीरे-धीरे ही यह अनुभव होता

है कि विश्व के रहस्यों को उद्‌घाटित करने के लिए विस्मय तथा कुतूहल के अलावा कुछ और भी चाहिए और कि तथ्यों को प्राप्त करने और यथातथ (Precise), यथार्थ प्रेक्षण और परीक्षण द्वारा सत्यापित करने का कठिन काम करना पड़ेगा। जब तक ऐसे तथ्य तर्कसंगत रूप से निश्चित न हो जाएँ तब तक वे बड़े-बड़े सामान्यकरण नहीं बनाए जा सकते जिन्हें हम वैज्ञानिक नियम कहते हैं।

वाइटहैड के ताल के नियम की सुस्थितता में हमारा विश्वास इस बात से और बढ़ जाता है कि नन स्वतन्त्र रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि सीखने के प्रक्रम में विस्मय, उपयोगिता और प्रणाली, इन तीन की एक स्वाभाविक आवृत्ति होती है, और कि अध्यापन के प्रक्रम में इन तीन क्रमावस्थाओं का ध्यान रखना आवश्यक है। यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि उसका विस्मय और प्रणाली क्रमशः वाइटहैड के कुतूहल या रोमांच और सामान्यकरण के ही दूसरे नाम हैं और यह बात भी सब लोग स्वीकार करेंगे कि याथातथ्य और उपयोगिता उसी चीज को देखने के दो अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। उपयोगिता यह ध्वनित करती है कि सीखने वाले की दिलचस्पी अब उन विचारों के क्रियात्मक प्रयोग पर, मानवीय कार्यों में उनकी उपयोगिता पर, केन्द्रित है, पर यह दिलचस्पी ही वह प्रबल प्रेरणा है जिससे यथातथ ज्ञान प्राप्त किया जाता है क्योंकि यदि ज्ञान को पक्के तौर से प्रयोग में लाना है तो वह अवश्य ही यथार्थ होना चाहिए।

समय-समय पर शिक्षा की एक ऐसी सामान्य विधि बनाने के यत्न किए गए हैं जो प्रत्येक विषय की शिक्षा पर लागू की जा सके। सब प्रशिक्षित अध्यापक, उदाहरण के लिए, हरबार्ट के अभिबोधन के सिद्धान्तों पर आधारित विधि से, आविष्करण (Heuristic) विधि से, जो बालक को आविष्कारक की स्थिति में रखकर चलती है, और पूर्वावृत्ति विधि (Recapitulation Method) से परिचित हैं जिससे वह वैसे ही सीखता है जैसे मानव जाति ने सीखा था। पर विस्मय से चलकर याथातथ्य और उपयोगिता में पहुँचने, और फिर इन दोनों से आगे चलकर प्रणाली में पहुँच जाने की बात में हमें एक ऐसा सामान्यकरण दिखाई देता है जो इसके पूर्ववर्त्तियों से कहीं अधिक दूरगामी है। यदि ज्ञान सच्चा ज्ञान बनना है तो इनमें से किसी भी अवस्था की उपेक्षा नहीं की जा सकती। विस्मय और कुतूहल से वह भावनात्मक प्रेरणा मिलती है जो ऐसे स्पष्ट विचार प्राप्त करने के प्रयत्न को जारी रखती है जिन्हें विशिष्ट उदाहरणों में

ठीक-ठीक लागू किया जा सके। पर अन्तिम मंजिल सदा यह होनी चाहिए कि व्यापक और सामान्य विचार मनुष्य के मन में आ जाएँ क्योंकि वे मनुष्य को अपने सामने आने वाली किसी भी स्थिति का सामना करने की शक्ति देते हैं।

उदाहरण के लिए, इतिहास, जैसा कि सब लोग मानते हैं, मनुष्यों के बारे में छोटी कहानियों और दन्त-कथाओं से शुरू होना चाहिए। इसके बाद अधिक यथार्थ वृत्तान्त आना चाहिए जो वास्तव में ही हुआ था। ब्योरे की बातों को निकाल देना चाहिए और कुछ ठीक ऐतिहासिक ज्ञान, विशेष रूप से ऐसा ज्ञान, जिससे वर्तमान काल को समझने में सहायता मिले, दिया जाना चाहिए। पर इतिहास सम्बन्धी अध्ययन का अन्तिम लक्ष्य सदा यह होना चाहिए कि मानवीय व्यवहारों में होने वाली व्यापक गतिविधियों को समझा जा सके, जिनसे पढ़ने वाला आज की उलझन-भरी दुनिया को ठीक पृष्ठभूमि में देख सके। अन्य विषयों से इसके कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर उनको ठीक रूप में रखने से पाठक को, विशेष रूप से यदि वह विशेषज्ञ अध्यापक है या होने वाला है, बड़ा लाभ होगा।

यदि हम यह समझ लें कि वाइटहैड—नन ताल के रूप में हमारे सामने बौद्धिक विकास की नैसर्गिक क्रमावस्थाएँ हैं, और सबसे बड़ी बात यह कि यदि हम यह मूल बात ठीक तरह पकड़ लें कि बौद्धिक शिक्षा के प्रक्रम का नाम शिक्षा-प्रणाली नहीं, बल्कि ध्येय का नाम शिक्षा-प्रणाली है तो हम अपने प्रशिक्षण की बहुत सी भूलों से बचे रहेंगे और बालक छात्रों को समय से पहले विषयवस्तु व्यवस्थित रूप में समझा देने के प्रलोभन को रोक सकेंगे। दूसरी बात यह है कि हमें यह भी समझ लेना है कि किसी विशेष प्रकार के छात्र या विशेष प्रकार के स्कूल में शायद ऊपर निर्दिष्टि मार्ग पर कुछ ही दूर जाना सम्भव हो। सब छात्रों में विस्मय की अवस्था अवश्य होती है और उपयोगिता के लिए अवश्य याथा-तथ्य की मात्रा भी होती है, पर यह माना जा सकता है कि प्रणाली या सामान्य-करण तक अच्छी तरह पहुँचना थोड़े से बौद्धिक दृष्टि से अधिक योग्य छात्रों के लिए ही सम्भव होगा।

अध्याय १०

शिक्षा में यथार्थवाद

(Realism in Education)

दार्शनिक समस्या पर विचार करते हुए हमने यथार्थवाद (Realism) के सिद्धान्त की चर्चा की थी जो यह कहता है कि जिन वस्तुओं की हमें प्रतीति होती है उनके पीछे उन जैसी ही वस्तुओं का एक यथार्थ जगत् है। इस विचारधारा के अनुसार, शिक्षण सम्बन्धी सिद्धान्त और प्रयोग में भी एक यथार्थवादी विचार-धारा है। जैसे प्रकृतिवाद उन शिक्षण-पद्धतियों का विरोध करने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में आता है जो कृत्रिम हो गई हैं, ठीक वैसे ही यथार्थवाद उन पाठ्य-क्रमों के विरुद्ध आता मालूम होता है जिनमें किताबी विचारात्मक और गूढ़ विषय ही रखे जाते हैं। इसमें शिक्षकों से बार-बार यह कहा जाता है कि वे कल्पनाओं और वादों को छोड़कर वास्तविकताओं पर ध्यान दें।

यथार्थवादी सिद्धान्त के इस तरह लगातार फिर से प्रकट होने के अनेक उदाहरण शिक्षा के इतिहास के विविध कालों में मिल सकते हैं, पर एक या दो उदाहरण काफी होंगे। जब पुनर्जागरण काल का उत्साह क्षीण हो चुका था और इससे प्रेरित प्राचीन साहित्य के अध्ययन ने पांडित्य-प्रदर्शन और व्याकरण सम्बन्धी बाल की खाल निकालने का रूप ले लिया था, तब शिक्षण सम्बन्धी सिद्धान्त में यथार्थवाद की लहर आई थी, यद्यपि यह लहर शिक्षण-सम्बन्धी प्रयोग तक नहीं पहुँची थी। सामाजिक यथार्थवादी किताबी पढ़ाई को व्यर्थ मानते थे और मनुष्यों और वस्तुओं के सीधे अध्ययन के महत्त्व पर बल देते थे। उनके मन में मुख्यतः उच्च वर्गों का विचार था और इसलिए वे एक लम्बी यात्रा करने के लिए कहते थे जिससे जीवन के विविध पहलुओं का वास्तविक अनुभव हो जाए। १७वीं शताब्दी के विज्ञान का शिक्षण के क्षेत्र में जो प्रतिबिम्ब पड़ा,

वह ऐन्द्रियिक यथार्थवाद (Sense-Realism) था और इसका आधारभूत सिद्धान्त यह था कि सारा ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है। ये इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही ज्ञान मानने वाले यथार्थवादी उन प्राकृतिक घटनाओं का शिक्षा में आधारभूत महत्त्व मानते थे जिनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान हमें मिलता है। इसलिए वे साहित्य और भाषा के अध्ययन अर्थात् उद्गमन अथवा सामान्यानुमान की रीति (Inductive Method) से वास्तविक वस्तुओं के अध्ययन को लाने का यत्न करते थे।

यह पिछला आन्दोलन १९वीं शताब्दी में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया। ऐसे जमाने में, जब विज्ञान आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त कर रहा था, यह कहना बिल्कुल स्वाभाविक और तर्कसंगत था कि विज्ञान जीवन के लिए सबसे उपयुक्त सामग्री दे सकता है। इस प्रकार हर्बर्ट स्पेंसर और टामस हैनरी हक्सले ने वैज्ञानिक शिक्षण का जोर-शोर से समर्थन किया। स्पैन्सर ने स्वयं यह प्रश्न उठाकर कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ज्ञान कौनसा है, आसानी से यह जवाब दे दिया कि वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन भाषा-सम्बन्धी अध्ययनों से कहीं अधिक मूल्यवान् है, और कि नैतिक, बौद्धिक या धार्मिक, सब तरह के प्रशिक्षण के लिए व्याकरण और शब्दकोषों के अध्ययन से अपने आस-पास की घटनाओं का अध्ययन कहीं अधिक श्रेष्ठ है। उसके महान समसामयिक हक्सले ने और भी अधिक प्रबल रूप में यह पक्ष रखा था कि सब स्कूलों में पूर्ण और आद्योपान्त वैज्ञानिक संस्कृति जारी कर दी जाए जो बुद्धि के उदय के साथ ही आरम्भ हो। यह ओजस्वी विचारक उन सबसे अधिक प्रारूपिक और सबसे अधिक समझदार यथार्थवादियों में से है और इसने इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य और वस्तुएँ जिस रूप में हैं और जिस रूप में उनसे जीवन में सामना होने की सम्भावना है, उस रूप में ही उनका अध्ययन होना चाहिए।

परन्तु उग्र यथार्थवादी किताबों को बेकार समझता है और उसका नारा होता है "शब्दों की बजाए वस्तुएँ"। यदि शिक्षा में शाब्दिकता को महत्त्व देने के विरोध में कोई तर्क-संगत बात कही जाए तो हम उसे सुनने को तैयार हैं, पर शब्दों और वस्तुओं के बारे में जो बात यहाँ ध्वनित की गई है, उसे मानना कठिन है। शब्द वस्तुओं के संकेत हैं और मानसिक परिवर्धन के लिए उनका प्रयोग अपरिहार्य है। बिना भाषा का विचार सदा अल्प-विकसित ही रहेगा।

इसलिए शब्दों को शिक्षा से बाहर करने की कोशिश करना गलत है। भाषा की सहायता से हम वस्तुओं की चर्चा थोड़े प्रयत्न से कर पाते हैं, अन्यथा हमें वे चीजें वास्तव में लानी पड़तीं—यह बात ठीक वैसे ही है जैसे सभ्य जातियाँ असली वस्तुओं का विनिमय करने के बजाए मुद्रा (Money) का प्रयोग करती हैं। पढ़ाई के विषयों का कोई ऐसा ठीक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता जिसमें एक को शाब्दिक अर्थात् शब्द-विषयक, और दूसरे को वास्तविक अर्थात् वस्तु-विषयक कहा जा सके। यह ठीक है कि कुछ विषयों को जबानी और पुस्तकों द्वारा अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है और कुछ वस्तुओं को समझने के लिए असली सामग्री को देखना और छूना पड़ता है। हमें यह तो अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि पहले प्रकार के विषयों का वास्तविकता से सम्पर्क न छूट जाए, पर हमें यह भी विचार करना चाहिए कि दूसरे प्रकार के विषय किसी उचित भाषा को बिना अपनाए और प्रयुक्त किए आगे नहीं बढ़ सकते। तथाकथित शाब्दिक और वास्तविक विषय एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। इतनी बात और कह देना उचित होगा कि वास्तविक विषयों का अध्ययन भी शब्दों और संकेतों का यांत्रिक प्रयोगमात्र बन सकता है जिसकी यथार्थवादियों को कड़ी निंदा करनी चाहिए।

आज क्या स्थिति है? ७० वर्ष की आम शिक्षा के बाद हमारे पाठ्यक्रम कृत्रिम रह गये हैं और यथार्थवादी की आवाज देश में फिर सुनाई दे रही है। कंजरवेटिव कमेटी आन सैकेण्डरी एडुकेशन की हाल की रिपोर्ट (Spence Report) में हमें, स्कूलों के काम से जो असंतोष फैला हुआ है, उसकी प्रामाणिक जानकारी मिलती है। मौजूदा अवस्था के बारे में सावधानी से किए गए इस अध्ययन से यह नतीजा निकला है कि इंग्लैंड और वेल्स में ११ वर्ष से अधिक की आयु के बालकों और बालिकाओं की सारे समय की शिक्षा के लिए इस समय जो व्यवस्थाएँ हैं, वे अब आधुनिक समाज के वास्तविक ढांचे और स्थिति की आर्थिक हालतों से मेल नहीं खातीं। आगे इसमें अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के परिणाम बताए गए हैं और शिक्षण सम्बन्धी प्रशासन और प्रयोग में सुधार का रास्ता स्पष्ट रूप से सुझाया गया है। इस प्रकार, जैसे सदा पहले हुआ है वैसे ही आज भी, यथार्थवादी स्कूल के काम और बाहरी दुनिया के जीवन में मेल न होने पर अपना प्रबल विरोध प्रदर्शित करता है। उसे उन अध्यापकों का

ढंग देखकर गुस्सा आता है, जो मुँह से तो नहीं पर अपने व्यवहार से स्कूल की उन गतिविधियों का महत्त्व अस्वीकार करते हैं, जिन्हें व्यवस्थित रूप से पाठ्य-पुस्तकों में न शामिल किया जा सके और जिन्हें छात्र इस दृष्टि से पढ़े और याद करे कि वह परीक्षा में अपने इस दुष्प्राप्त ज्ञान को उगल आए। यदि हम स्कूल की अधिकांश प्रचलित पढ़ाई के मूल्य को और मौजूदा परिस्थितियों में उस पढ़ाई का जितना व्यवस्थित अध्यापन होना संभव है, उसके महत्त्व को मानते हैं तो भी हमें उसके विरोध में उठाई गई आवाज सुनने से लाभ हो सकता है।

समकालीन घटनाओं का इतिहास के अध्ययन में कुछ स्थान होना चाहिए और उन्हें अतीत काल की सम्बन्धित घटनाओं के सिलसिले में समझने का यत्न करना चाहिए। नागरिकशास्त्र का अध्ययन भी होना चाहिए, और स्कूल के सामाजिक संगठन को नागरिकता की व्यावहारिक शिक्षा देने का महत्त्वपूर्ण साधन मानना चाहिए, और यदि इतिहास का विशेषज्ञ यह कहे कि यह इतिहास नहीं है तो उस पर अविशेषज्ञ यह उत्तर दे सकता है कि यह प्रचलित ऐतिहासिक पढ़ाई से कहीं अधिक महत्त्व की चीज है। इसी तरह गणित का मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि संसार को इसके संख्यात्मक और स्थानात्मक पहलुओं में समझा जा सके। पूरी तरह समझ में न आने वाले संकेतों की जादूगरी के वजाए गणित की पढ़ाई से एक ऐसा उपकरण प्राप्त होना चाहिए जिससे उस उपकरण को धारण करने वाला व्यक्ति संसार की बातों को गणितीय रीति से बुद्धिपूर्वक देख सके। साहित्य में, जो सदा "जीवन की आलोचना" होता है, आधुनिक काल का साहित्य भी शामिल होना चाहिए, और इसे पढ़ने से छात्र को यह अनुभव होना चाहिए कि साहित्य एक जीवित और वर्धमान चीज है। विशेष रूप से ऐसे युग में जिसमें इतनी अधिक पुस्तकें निकल रही हैं जितनी पहले कभी नहीं निकलीं, यह अत्यधिक महत्त्व की बात है कि नौजवानों में बहुत सारा साहित्य देखने की, बुद्धिपूर्वक छाँटने की और अच्छे प्रयोजन या उद्देश्य को पूरा करने वाली चीजें पढ़ने की शक्ति पैदा हो जाए।

स्कूल में पढ़ाए जाने वाले अन्य विषयों की तरह विज्ञान भी अवास्तविक रूप में आ सकता है। बहुधा इसमें परीक्षण करना एक यांत्रिक नित्य-कर्म बन जाता है और छात्र जीवन में उन परीक्षणों के महत्त्व को नहीं ग्रहण कर पाता।

प्रयोगों को स्पष्ट रूप से सोच लेना चाहिए। सच बात तो यह है कि जो अध्यापन विधि सिद्धांतों से चलकर प्रयोगों की ओर जाने के बजाए प्रयोगों से चलकर सिद्धांतों की ओर जाती है, उसके बारे में बहुत कुछ कहने की जरूरत है। यह भी कहा जा सकता है कि स्कूल में पढ़ाया जाने वाला विज्ञान बहुधा आधुनिक विज्ञान की धारा से बिलकुल दूर होता है। हो सकता है कि लड़कों ने स्कूल में विज्ञान का खूब अध्ययन किया हो, पर फिर भी उन्हें २०वीं शताब्दी के वैज्ञानिक विचार के बारे में कुछ भी पता न हो। इस स्थिति को सुधारने के लिए इलेक्ट्रानों, सर्पिल नीहारिकाओं (Spiral Nebulae), सापेक्षवाद (Relativity) और अन्य विषयों पर सरल व्याख्यान देने चाहिएँ। यहाँ विज्ञान के अध्यापक को परीक्षणात्मक विधि से आगे बढ़कर शाब्दिक वर्णन और व्याख्या करने में संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसे व्याख्यानों में उन लोगों को बड़ी सफलता होती है जो न केवल प्रस्तुत विषयों को जानते हैं बल्कि किशोरावस्था के मन और उसकी वस्तुओं की तह तक पहुँचने की इच्छा को भी समझते हैं।

इस प्रकार स्कूल के सब विशेष अध्ययन बाहरी दुनिया के उन पहलुओं के साथ अच्छी तरह सम्पर्क में होने चाहिएँ जिनका वे प्रतिबिम्ब हैं। शिक्षा में यथार्थवादी सिद्धान्त अध्यापक को सदा यह चुनौती देता रहता है कि वह न केवल अपनी अध्यापन-विधियों के बारे में, बल्कि इसकी अंतर्वस्तु के महत्त्व और सार्थकता के बारे में भी विचार करता रहे और स्वस्थ यथार्थवाद को मूल्य की ऐसी कसौटी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसे स्कूल के काम पर तर्क-संगत रूप से लागू किया जा सके।

प्राय: यथार्थवाद का नारा इस माँग के रूप में आ जाता है कि शिक्षा जीवन में किसी खास पेशे को लक्ष्य में रखकर दी जानी चाहिए, अर्थात् शिक्षा व्यावसायिक होनी चाहिए। इस आवाज का बहुधा किशोर मन पर प्रभाव पड़ता है, जिसमें सामान्यतया जीवन की वास्तविकताओं को पकड़ने की और किसी धन्धे के लिए सुनिश्चित रूप से तैयारी करने की प्रबल इच्छा होती है। यदि शिक्षा किसी स्पष्टत: निर्धारित ध्येय की दिशा में हो तो उसका महत्त्व उसकी दृष्टि में बहुत बढ़ जाता है। आज-कल कोई भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि ऐसे प्रबल उद्दीपन के होते हुए इस प्रशिक्षण का शिक्षा की दृष्टि से बड़ा हितकर और दूरगामी प्रभाव हो सकता है। पर प्लेटो, जिसने विचारों के जीवन को

प्रशंसनीय बताया है, हाथ की कलाओं को गँवारू मानता था, और शायद उसके ऐसा मानने के कारण ही व्यावसायिक शिक्षा के विरुद्ध कुछ भावना पाई जाती है, और यह कहा जाता है कि इससे व्यापक, उदार और मानवीय शिक्षा नहीं मिल पाती। व्यापकता, उदारता और मानवीयता की इन धारणाओं में शिक्षा में सांस्कृतिक मूल्यों की परम्परागत कसौटी ही दिखाई देती है। इस विषय में अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिये हम सबसे पहले इन धारणाओं पर ही विचार करेंगे।

जैसा कि स्पैन्स रिपोर्ट में कहा गया है, व्यापक शिक्षा उन पदावलियों में से है जो शिक्षा की बात करते हुए बहुधा प्रयोग की जाती हैं, पर जिसका अर्थ तब ही सुनिश्चित होता है जब शिक्षा के लक्ष्य तय किये जा चुके हों। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पाठ्य-क्रम में एक या दो विषयों के बजाए बहुत सारे विषय हों; इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ऐसे प्रशिक्षण के बजाए, जो खास तौर से किसी एक ही पेशे या धन्धे के लिए तैयार करता है, ऐसा प्रशिक्षण हो जो भविष्य के प्रत्येक धन्धे के लिए उपयुक्त समझा जाए; इसका अर्थ कोई ऐसा प्रशिक्षण भी हो सकता है जिसका लक्ष्य छात्र में कुछ गुण, आदतें, कौशल, स्थायी भाव और मन की अभिवृत्तियाँ (Attitude) पैदा करना, और साथ ही ज्ञान का धारण या प्रयोग करना हो; इसका अर्थ ये सब चीजें हो सकती हैं"। शायद इनमें से दूसरा अर्थ सबसे अधिक आम है। जो लोग इस शब्द का प्रयोग करते हैं उनके मन में प्रायः वही प्रशिक्षण होता है जो किसी विशिष्ट ध्येय की दृष्टि से नहीं है, बल्कि छात्र को जीवन के किसी भी क्षेत्र के योग्य बनाता है। इस प्रकार, मिल्टन ने कहा था कि "मैं पूर्ण और उदार शिक्षा उसे कहता हूँ जो मनुष्य को शान्ति-काल और युद्ध-काल के सब निजी और सार्वजनिक कर्त्तव्य न्यायतः, कौशल से और उदारता से पूरा करने के योग्य बनाती है" और रूसो ने कहा था : "मैं उसे जीवन का धंधा सिखाना चाहता हूँ।"

पर क्या इतनी अधिक व्यापकता संभव है ? क्या कोई शिक्षा की योजना स्पष्ट रूप से ऐसी नहीं कि वह एक विशिष्ट प्रकार का आदमी बनाये ? एडम्स ने कहा था कि जब हम मिल्टन के लक्ष्यों की जाँच-पड़ताल करते हैं, तब हमें यह पता चलता है कि वह "ऐसे देहाती ज़मींदार युवक बनाना चाहता था जिनमें प्रबल शारीरिक सामर्थ्य के साथ-साथ ऐसी गहरी संस्कृति भी हो जो पार्लियामेण्ट

की सेना में अफसरों के कर्तव्यों के दक्ष निर्वहण के साथ मेल खाती हो। इस प्रकार मिल्टन ने जन-साधारण की शिक्षा पर विचार नहीं किया, बल्कि एक विशेष वर्ग के मनुष्यों की शिक्षा पर विचार किया है। एडम्स ने आगे लिखा है: "रूसो की रचना पढ़ने वाला व्यक्ति यह कल्पना किये बिना नहीं रह सकता कि उसका उसके विचारों के अनुसार पूरी तरह तैयार हुआ एमिल एक छैल-छबीला फ्रांसीसी है, जो आसमानी रंग का कोट पहनता है, आसमानी रंग का तिकोना टोप लगाता है, बाँहों में चुन्नट डाले रहता है, और घुटनों से नीचे तक की पतलून पहनता है, तथा कमर में तलवार खोंसे रहता है। रूसो निस्संदेह यह कहेगा कि यह एक प्रकृति-निर्मित भद्रपुरुष की तस्वीर है, पर पाठक के दिल में यह बात नहीं समा सकती, और उसे यह पता चल जाएगा कि स्पष्टतः एमिल को समाज के एक सुनिश्चित वर्ग के लिए शिक्षित किया जा रहा है।" इसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि जिन लोगों ने आदर्श व्यापक शिक्षा के संबंध में लिखा है, उन सबकी दृष्टि में एक खास तरह की निर्मित वस्तु थी। संभाव्यतः व्यापक शिक्षा का, सिद्धांत और प्रयोग में, निकटतम रूप मानसिक योग्यताओं का चतुर्मुखी प्रशिक्षण देने का प्रयत्न था, पर इसकी तर्कहीनता हम पहले ही देख चुके हैं। कुछ समय पहले तक स्काटलैण्ड के एक विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम में व्यापक प्रशिक्षण देने का प्रयत्न किया जाता था, जिसके अंतर्गत भाषा, गणित, विज्ञान और दर्शन की पढ़ाई आ जाती थी, पर यह आर्ट्स का ग्रेजुएट भी एक विशेष प्रकार का व्यक्ति बन जाता था।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि पुराने काल की शिक्षा सुनिश्चित रूप से एक विनिर्दिष्ट प्रक्रम (Specific Process) थी। प्राचीन काल में वक्तृत्व-काल का प्रशिक्षण एक फैशन था। सोफिस्ट लोग यह कला सिखाते थे। सिसरो ने इसके महत्त्व पर बल दिया था और क्विन्टिलियन ने इसके सिद्धान्तों और विधियों को स्पष्ट रूप में रखा था। प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में दस्तकारों, सैनिकों और दार्शनिक राजाओं के लिए अलग-अलग आदर्श प्रशिक्षण का वर्णन किया है। मध्ययुग में बालकों को इस ढंग से शिक्षा दी जाती थी कि चमार, दस्ताने बनाने वाले, व्यापारी, पुरोहित या आदर्श नाइट (Knight) अर्थात् योद्धा बन सकें। बाद में योरोप के राजकीय विद्यालय शासक वर्गों की आवश्यकताएँ पूरी करने लगे—ये ऊँचे घरानों के अंग्रेज लड़कों को ऐसा प्रशिक्षण देते

थे जो उन्हें दरबार, कूटनीति या सेना के पदों के योग्य बना दें। इंग्लैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी के पिछले भाग में और अठारहवीं शताब्दी के शुरू के भाग में समुद्र-तट के नगरों में गणित के विद्यालय खोले गये, जिससे व्यापारी जहाजों के कप्तानों और अफसरों के लिए उपयुक्त गणित, भूगोल और नौवहन (Naui-gation) का प्रशिक्षण दिया जा सके।

जहाँ कोई सिद्धान्त नहीं है, वहाँ मोटी बुद्धि यह कहती है कि व्यापक प्रशिक्षण के बजाय कोई विशिष्ट प्रशिक्षण होना चाहिए। व्यापक शिक्षा की धारणा शिक्षण संबंधी प्रयोग से नहीं निकली, बल्कि शिक्षण संबंधी सिद्धान्त से निकली है, और यह धारणा, जैसे कि हम देख चुके हैं, बारीकी से जाँच करने पर टिक नहीं पाती है, क्योंकि सारी तथाकथित व्यापक शिक्षा वस्तुतः एक विनिर्दिष्ट प्रकार की शिक्षा होती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि व्यापकता को शिक्षण के सांस्कृतिक मूल्यों की अच्छी कसौटी नहीं माना जा सकता। दूसरे, व्यावसायिक शिक्षा स्वयं भी विनिर्दिष्ट शिक्षा का ही एक रूप है। सच तो यह है कि विस्तृत अर्थ में दोनों को पर्यायवाची माना जा सकता है, पर, जैसा कि एडम्स ने सुझाव रखा था, विनिर्दिष्ट (Specific) शब्द का प्रयोग उस विस्तृत प्रशिक्षण के लिए करना उपयोगी होगा, जो एक विशेष प्रकार का मनुष्य बनाती है, और व्यावसायिक (Vocational) शब्द उस ज़रा संकीर्ण और अधिक विशेषीकृत (Specialized) प्रशिक्षण के लिए प्रयुक्त करना चाहिए जो उस जीवन से सीधा संबंध रखती है, जो शिक्ष्यमाण ने अपनानी है। विश्वविद्यालय में विज्ञान का विशेषीकरण अर्थात् विशेष ज्ञान विनिर्दिष्ट शिक्षा का एक उदाहरण है, क्योंकि इससे वैज्ञानिक मनुष्य पैदा होता है, पर इंजीनियरिंग में विशेषीकरण अर्थात् विशेष ज्ञान प्राप्त करना व्यावसायिक शिक्षा है। सारी विनिर्दिष्ट शिक्षा व्यावसायिक नहीं होती, पर सारी व्यावसायिक शिक्षा विनिर्दिष्ट होती है। क्योंकि व्यावसायिक और तथाकथित व्यापक शिक्षा, ये दोनों ही वास्तव में विनिर्दिष्ट शिक्षा हैं, इसलिए हम अब तक यह निश्चय करने का कोई साधन नहीं खोज सके कि संस्कृति व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में आ सकती है या नहीं।

लिबरल (Liberal) शब्द जो शिक्षा के साथ प्रयुक्त किया जाता है, 'पुस्तक'-वाची (Liber) शब्द से निकला हुआ नहीं है, जैसा कि कभी समझा जाता था, बल्कि 'स्वतंत्र'-वाचक लिबर शब्द से निकला है। इस प्रकार शुरू में लिबरल

शिक्षा का मतलब किताबी पढ़ाई ही नहीं था, बल्कि उस पढ़ाई से था जो स्वतंत्र मनुष्य के लिए उपयुक्त थी—दूसरी ओर वे धंधे और कला-कौशल थे जो गुलामों के लिए और राजनैतिक अधिकारों से रहित लोगों के लिए आवश्यक थे। यह ऐसी शिक्षा थी जिससे स्वतंत्र मनुष्य शरीर और आत्मा की दृष्टि से अच्छे काम करने के योग्य बनता, और जिससे वह अपनी सामाजिक स्थिति से लाभ उठाने में समर्थ होता। लिबरल शिक्षा का अवधारण सबसे पहले यूनानियों ने उस समय बनाया था, जब व्यष्टिगत परिवर्धन (Individual Development) को सबसे अधिक वांछनीय माना जाता था, और इसके लिए, अवसर दिया जाता था। सुख और सौंदर्य से भरपूर होकर जीना उनका लक्ष्य होता था। लिबरल शिक्षा के बारे में यह विचार कि 'स्वतंत्र मनुष्यों के लिए उपयुक्त शिक्षा', यूनान के स्वर्ण-युग में खूब फैला, और प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं में इसे युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत किया गया।

प्रसंगतः, हम यह देखते हैं कि संस्कृति और उपयोगिता में कुछ ध्वनित प्रभेद है, और यद्यपि यह "प्रायः उसका अंगभूत और निरपेक्ष समझा जाता है, पर वास्तव में यह ऐतिहासिक और सामाजिक है। जहाँ तक इसे बोधपूर्वक प्रस्तुत करने का प्रश्न है, इसका जन्म यूनान में हुआ और इसका आधार यह तथ्य था कि सच्चा मानवीय जीवन वे थोड़े से लोग बिताते थे जो दूसरों की मेहनत के फलों का उपभोग करते थे।" इसीलिए "एक तो लिबरल शिक्षा है, जो ज्ञान को ज्ञान के खातिर प्राप्त करने में लगे हुए अवकाश-पूर्ण आत्म-संतुष्ट जीवन से संबंध रखती है, और दूसरी यांत्रिक कार्यों की उपयोगी और क्रियात्मक शिक्षा होती है, जिसमें बौद्धिक और सौंदर्य का अंश नहीं होता।"

मध्य युग में लिबरल या पूर्ण शिक्षा सात लिबरल कलाओं की शिक्षा को कहते थे, जिनमें सब विद्याओं का समावेश समझा जाता था। संभाव्यतः सात की गिनती मध्यकालीन विद्वानों को विशेष पसंद थी। तीन विषय तो व्याकरण, वक्तृत्व कला (Rhetoric) और न्याय अथवा तर्क थे, और इसके बाद चार विषय अंकगणित, ज्यामिति, संगीत, और ज्योतिष थे। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि इन पदों का अर्थ इनके आजकल के अर्थ से कुछ अधिक विस्तृत था। व्याकरण में साहित्य भी आ जाता था। वक्तृत्व कला में इतिहास शामिल था। ज्यामिति में भूगोल की आरम्भिक बातें समाविष्ट होती थीं। मध्यकालीन विश्वविद्यालयों के

स्नातक को आरटियम लिबरेलियम मेजिस्टर (Artium Liberalium Magister) अर्थात् मास्टर आफ लिबरल आर्ट्स (Master of Liberal Arts) की गौरवपूर्ण उपाधि मिलती थी—पुराने विश्वविद्यालयों में आर्ट्स के पूरे स्नातक को अब भी यही उपाधि मिलती है। स्काटलैण्ड के एक विश्वविद्यालय में इंग्लिश भाषा और साहित्य के उपाध्याय को रिटोरिक (यानी वक्तृत्व कला) का प्रोफेसर कहा जाता है, जो लिबरल आर्ट्स का एक और अवशेष है। एक और उल्लेखनीय बात यह है, कि सात लिबरल कलाओं में सब विद्याओं के समावेश की अवधारणा अब भी इस रूप में कायम है कि सेंट एण्डरूज़ के विश्वविद्यालय में आर्ट्स की डिग्री बहुत से विषयों का अध्ययन करने पर दी जाती है। आर्ट्स का ग्रेजुएट बनने के लिए छात्र को कम-से-कम ५ विषय पढ़ने पड़ते हैं, जिनमें ये विषय होते हैं : (क) लैटिन या ग्रीक या कोई और विषय, जिसकी एडवाइजर आफ स्टडीज़ और फैकल्टी आफ आर्ट्स सिफारिश करें तथा सेनेट अनुमोदन करे; (ख) दर्शन या गणित; (ग) कम-से-कम दो, और तीन से अनधिक, भाषा-संबंधी विषय; (घ) कम-से-कम एक, और दो से अनधिक, वैज्ञानिक विषय।' इस प्राचीन विद्या-केन्द्र में लिबरल आर्ट्स की शिक्षा यद्यपि पूर्ण ज्ञान का ध्येय नहीं रख सकी है, पर इसने छात्र को मानव संस्कृति के मुख्य विषयों का परिचय देने के मूल्यवान् आदर्श को तो कायम रखा ही है। यह बुरी बात है कि अधिकतर स्थानों पर यह आदर्श छोड़ दिया गया है, और इसकी जगह जल्दी ही विशेषीकरण शुरू करा दिया गया है।

लिबरल शिक्षा की यह पुरानी धारणा कि उसके पीछे स्वतंत्रता आती है, इतनी मूल्यवान् है कि इसे इतिहास के पन्नों में नहीं दफनाया जा सकता। हक्सले ने इन शब्दों में अपने जमाने के साहित्य बनाम विज्ञान के विवाद पर अपने विचार प्रकट किये थे :

"मैं समझता हूँ कि उस मनुष्य को लिबरल शिक्षा मिली है जिसे अपनी तरुणावस्था में ऐसा प्रशिक्षित किया गया है कि उसका शरीर उसकी इच्छा का चुस्त सेवक है, और वह सारा काम, जो यह कर सकता है, आसानी और आनन्द से करता है; जिसकी बुद्धि स्पष्ट विचारपूर्ण तर्करूपी इंजन है, जिसके सब हिस्से एक से मजबूत हैं और जो अच्छी तरह कार्य करने की स्थिति में हैं, जो भाप के इंजन की तरह किसी भी तरह के काम में लगने को तैयार है और जो बारीक

धागे भी कात सकता है और मन के स्तम्भ भी बना सकता है, जिसका मन प्रकृति के महान् और मौलिक सत्यों और उसके कार्य करने के नियमों से भरा हुआ है, जो अल्पविकसित फकीर न होकर जीवन और उत्साह से परिपूर्ण है, पर जिसके आवेश प्रबल इच्छा के अधीन रहने के अभ्यस्त हैं, और सुकुमार अंतःकरण के आज्ञानुवर्ती हैं, जिसने सब प्रकार के सौन्दर्य को, चाहे वह प्रकृति का है या कला का, प्रेम करना, सब प्रकार की नीचता से घृणा करना और दूसरों का अपनी तरह आदर करना सीखा हैं।

"मैं समझता हूँ कि ऐसे व्यक्ति ने ही लिबरल शिक्षा प्राप्त की है, और किसी ने नहीं, क्योंकि वह प्रकृति के साथ इतनी पूरी तरह ताल-मेल रखता है जितना किसी मनुष्य के लिए रखना सम्भव है। वह उसका अधिक अच्छा उपयोग करेगा और प्रकृति उसका अधिक-से-अधिक अच्छा उपयोग करेगी। वे एक अनोखे तरीके से मिलकर चलेंगे। वह सदा उसकी मंगलकारिणी माता के रूप में होगी और वह मनुष्य उस प्रकृति के गुणों का प्रकाशक, उसका सचेत आत्मा, उसका सेवक और उसका व्याख्याकार होगा।"

इस सारे महान् कथन में अधिकतम आजादी के आदर्श को शिक्षा का अभीष्ट परिणाम माना गया। हम इसे पूरी तरह स्वीकार कर सकते हैं, और इस बात पर सहमत हो गये हैं कि यदि शिक्षा मनुष्य को सब तरह की आजादी प्राप्त नहीं कराती तो वह बेकार है। उसे उन नैसर्गिक संस्कारों की दासता से भी मुक्ति मिल जानी चाहिए जो उसे मनुष्य से पहले वाले अपने पूर्वजों से प्राप्त हुए हैं। जिस मनुष्य में इच्छा-शक्ति नहीं है और जिसे हर प्राथमिक (Primitive) आवेग के पीछे जबरदस्ती चलना पड़ता है, वह गुलाम है। वह नैतिक रूढ़ियों से अपने आपको बेशक आजाद मानता रहे, पर वह बंधनों से जकड़ा हुआ है। जैसा कि हमने बताया है, एकमात्र सच्ची आजादी आत्म-अनुशासन है। जो मनुष्य इस प्रकार आजाद हो जाता है, वह अपने मन की अधिक परिष्कृत बौद्धिक और भावनात्मक ऊर्जाओं का प्रयोग करने के लिए आजाद है। अब वह सत्यं शिवं सुन्दरं के लोकों का नागरिक बनने के योग्य हो गया। इसके लिए उसे आर्थिक आजादी भी होनी चाहिए। ऐसा न हो कि उसे अपनी सारी शक्ति जीवन-यापन के साधन प्राप्त करने में ही लगानी पड़ती हो, बल्कि उसके पास जीवन की उच्चतम बातों में अबाधित रूप से विचरने के लिए भी कुछ

शक्ति बचनी चाहिए। आजकल, जब कि अखबारी प्रचार और नारों का जमाना है, जिस मनुष्य को लिबरल शिक्षा मिली है उसकी पहिचान यह है कि वह अज्ञान, पूर्वग्रह (Prejudice) और मनोग्रस्तता (Obsession) के बंधनों से मुक्त रहकर स्वतंत्र रूप से सोच सकेगा। स्पेन्स रिपोर्ट लिबरल शिक्षा की बड़ी अच्छी अवधारणा पेश करती है, अर्थात् वह शिक्षा जो नर-नारियों को, जिस दुनिया में वे रहते हैं उसे समझने के, और इसकी समस्याओं को समझने में योग-दान करने के योग्य बनाती है।

शिक्षा में जिस मानवता को मूल्य की कसौटी माना जाता है, वह विशेष रूप से पुनर्जागरण काल से सम्बन्ध रखती है, और पुनर्जागरण काल का एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू था नए खोजे गए प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्यों का उत्साहपूर्वक अध्ययन। प्राचीन काल के लोगों का जीवन बड़ा विशाल और विस्तृत मालूम हुआ, और इसलिए उस साहित्य का अध्ययन, जो जीवन की आलोचना और मूल्यांकन था, स्वयं मानवता का अध्ययन और मानव-जीवन का सर्वोत्तम अध्ययन बन गया। पुनर्जागरणकाल में जीवन के इस परि-ष्कृत रूप के इस अध्ययन को तात्कालिक जीवन के प्रत्यक्ष अध्ययन की अपेक्षा अधिक उपयोगी और उस जीवन की समस्याओं का हल करने में अधिक सहा-यक माना जाता था। यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार प्राचीन साहित्यों का अध्ययन अधिक परिष्कृत मानवता की प्राप्ति के साध्य का एक साधनमात्र था। उस साहित्य के लिए भी ह्यूमैनिटी अर्थात् मानवशास्त्र शब्द चल पड़ा, क्योंकि अध्ययन का असली विषय स्वयं मनुष्य था। मानवतावादी मनुष्य का अध्ययन करने वाला होता था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन के पक्ष में यह युक्ति है कि उसमें एक ऐसा "जीवित जागृत जगत् है" जो अन्य साहित्यों को पढ़ने से इतनी अधिक मात्रा में नहीं प्राप्त होता—इन साहित्यों में जीवन की वैसी सर्वा-ङ्गीणता नहीं है, ऐसी दुनिया नहीं है जो पूर्ण दिखाई देती हो, जो मानवीय गुणों से युक्त हो, और फिर भी जरा-मरण से दूर हो"। शुरू में मानवतावाद (Humanism) एक प्रबल यथार्थवादी सिद्धांत था। बाद में वह वाग्जालमात्र रह गया और भ्रष्ट हो गया, और उसका वास्तविकता से सम्बन्ध टूट गया।

लिबरल शिक्षा की धारणा की तरह मानवता की धारणा भी सँभालकर रखने योग्य है। यह नाम उस शिक्षा को दिया जा सकता है जो स्वयं मनुष्य

के बारे में हो। इस सीमा तक वह सिद्धांत, जो हमने पिछले अध्याय में पेश किया है—कि पाठ्यक्रम में मानवीय आत्मा के सर्वोत्तम और श्रेष्ठ कार्यों का समावेश और संक्षिप्त सारांश होना चाहिए—मानवतावादी है। ऐसे आदर्श को, विशेष रूप से ऐसे समय जब स्वयं सभ्यता खतरे में है, हम आँखों से ओझल नहीं कर सकते।

अब हम यह विचार करेंगे कि जो शिक्षा मुख्यतः किसी खास व्यवसाय की शिक्षा है, क्या वह इस अर्थ में सांस्कृतिक हो सकती है कि उससे आजादी और मानवता का विकास हो सके? क्या व्यावसायिक और लिबरल शिक्षा में कोई वास्तविक विरोध है?

स्पेन्स रिपोर्ट से हमें पता चलता है कि ग्रामर-स्कूल ट्रेनिंग अर्थात् व्याकरण, साहित्य आदि पढ़ाने वाले विद्यालयों की शिक्षा असल में व्यावसायिक शिक्षा थी, क्योंकि यह विद्या वाले पेशों के लिए आवश्यक आरम्भिक शिक्षा थी। इस प्रकार, व्याकरण विद्यालय एक दृष्टिकोण से विश्वविद्यालयों की ओर ले जाने वाले व्यावसायिक विद्यालय थे। उनसे पढ़कर निकले हुए छात्र प्राचीन काल के तीन विद्यापेक्षी पेशों—चर्च, कानून, और चिकित्सा—में या अध्यापन के पेशे में चले जाते थे। यह तो बहुत पीछे हुआ कि लिबरल पेशों की यह सीधी शिक्षा, और विशेष रूप से प्राचीन साहित्य की शिक्षा, 'व्यापक लिबरल शिक्षा' मानी जाने लगी। १६वीं और १७वीं शताब्दियों में व्याकरण-विद्यालय की शिक्षा और तत्कालीन एप्रेंटिसशिप पद्धति में कोई बहुत स्पष्ट प्रभेद नहीं था। पर १६०४ में माध्यमिक विद्यालयों के लिए बनाये गये विनियमों ने जो व्याकरण-विद्यालयों और पब्लिक स्कूलों की परम्परा पर बनाए गए थे, व्यापक शिक्षा और टैक्निकल यानी प्राविधिक शिक्षा का सम्बन्ध विच्छिन्न करके हानि पहुँचाई, यद्यपि स्वयं व्यापक शिक्षा भी वास्तव में विद्यापेक्षी पेशों के लिए व्यावसायिक शिक्षा थी, और व्यापक तथा टैक्निकल शिक्षा के बीच अनावश्यक और वास्तविक प्रभेद बढ़ाने का दोष इन विनियमों पर ही डाला जाना चाहिए।

यह देख लेने के बाद कि इतिहास से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि व्यावसायिक शिक्षा अपने क्षेत्र में लिबरल नहीं हो सकती, हम आगे यह कहना चाहते हैं कि जो शिक्षा ऐसा मनुष्य पैदा करने में असफल रहती है जो अपनी जीविका कमा सके और समाज के सदस्य के रूप में अपना स्थान बना सके, वह लिबरल शिक्षा कहलाने की पात्र नहीं। जो मनुष्य दूसरों के प्रयत्नों पर आश्रित

है, और स्वयं उतना कार्य नहीं कर सकता, वह आजाद नहीं। वह तब ही आजाद होना शुरू होता है, जब वह आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो। यहाँ तक व्यावसायिक शिक्षा का प्रभाव स्वतंत्रता देने वाला है, पर क्या किसी विनिर्दिष्ट व्यवसाय के प्रशिक्षण से मानवता और अधिक विस्तृत आजादी आवश्यक रूप से आ जाती हैं?

वाइटहैड ने लिखा है: "टैक्निकल शिक्षा और लिबरल शिक्षा में विरोध भ्रमात्मक है। पर्याप्त टैक्नीकल शिक्षा अवश्य लिबरल होगी और लिबरल शिक्षा अवश्य टैक्निकल होगी, अर्थात् वह शिक्षा शिक्षा नहीं है जो टैक्नीक और बौद्धिक दृष्टि दोनों ही नहीं देती।"

हम देखते हैं कि वाइटहैड की दृष्टि में टैक्निकल शिक्षा पर्याप्त होनी चाहिए। स्पैन्स रिपोर्ट ने दो प्रकार के धंधे सिखाने वाले स्कूल बताए हैं; एक तो वे जो कोई एक और सुनिश्चित धंधा सिखाते हैं, जैसे छपाई, सिलाई, धुलाई, आदि, और दूसरे वे जो बहुत से व्यवसायों की शिक्षा दे सकते हैं और देते हैं। उसका विचार है कि ये दूसरे प्रकार के स्कूल, उदाहरण के लिए, इंजीनियरिंग और बिल्डिंग उद्योगों के आधार पर बनाए गए जूनियर टैक्निकल स्कूल वैसी ही लिबरल माध्यमिक शिक्षा दे सकते हैं, जैसी ग्रामर-स्कूलों में दी जाती है। सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि जिस व्यवसाय की शिक्षा दी जा रही है, वह कैसा है—इसमें विस्तृत प्रकार के लम्बे प्रशिक्षण की आवश्यकता है या सिर्फ कुछ चुटकुले जान लेना काफी है।

सम्भाव्यतः इस बात को सब लोग मानेंगे कि जिस आदमी को भविष्य में अध्यापक बनना है, उसकी शिक्षा मानवता के आदर्श के निकट पहुँच सकती है, और पहुँचनी चाहिए, पर मशीन चलाने वाले, ट्राम के ड्राइवर या रेलवे कुली का विशेष प्रशिक्षण इस आदर्श के निकट नहीं पहुँच सकता, क्योंकि अच्छा अध्यापक होने के लिए मनुष्य को मानवतावादी प्रत्येक अर्थ में बौद्धिक, नैतिक और आत्मिक दृष्टि से सुसंस्कृत होना चाहिए। इस सारी मानवतावादी संस्कृति का अध्यापक के काम पर सीधा प्रभाव पड़ता है। असल में, यह उसका सौभाग्य है कि उसकी पढ़ाई उसके रोजगार के लिए विशेष रूप से उपयोगी होने के साथ-साथ उसके मन को सुसंस्कृत बनाने के लिए भी उपयुक्त है, और इसलिए उसे सांस्कृतिक शिक्षा देने के लिए दो कारण हैं। पर मशीन चलाने वाला इस दृष्टि से उतना भाग्यवान् नहीं, क्योंकि उसे अपने दैनिक कर्त्तव्यों को दक्षता से निभाने

के लिए ऐसी किसी संस्कृति की आवश्यकता नहीं।

कई पेशे ऐसे हैं, जैसे इंजीनियर, बढ़ई, राज और किसान का पेशा, जिनकी आवश्यकता कभी कम नहीं होती। वे बहुत काल से सभ्य जातियों के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान पा चुके हैं। उनकी अपनी आचार सम्बन्धी परम्पराएँ हैं। उन्होंने श्रेष्ठ गुणों का पोषण किया है और मौलिकतापूर्ण मन और महान् क्रियात्मक शक्तियों को प्रयोग में आने का मौका दिया है। उन्हें बिना वैज्ञानिक ज्ञान और प्रशिक्षित कलात्मक ग्रहणशीलता के अच्छी तरह नहीं किया जा सकता। इन प्राचीन धन्धों में से किसी में भी किसी लड़के को प्रशिक्षित करने का मतलब यह है कि उसे ऐसा बना दिया जाए कि (यदि यह उसकी प्रतिभा के उपयुक्त हो तो) वह अपने काम में अपने आपको पूरे मन से लगा ले, और इससे मन और चरित्र का एक सुनिश्चित संगठन हासिल करे। असल में, कुछ मन ऐसे होते हैं जिनकी ऊर्जाएँ ऐसे विषय पढ़ने से ही मुक्त रूप में आती हैं, जिनमें व्यावसायिक प्रशिक्षण का ध्येय सामने मौजूद हो। ऐसी अवस्थाओं में व्यावसायिक शिक्षा पूरे अर्थों में लिबरल भी है (स्पेन्स रिपोर्ट)।

व्यावसायिक शिक्षा में मानवता और संस्कृति हो सकती है या नहीं, यह इस प्रश्न पर निर्भर है कि किसी व्यवसाय-विशेष का सारे जीवन से क्या संबंध है। यदि किसी मनुष्य का पेशा उसके सारे अस्तित्व का मूलाधार हो सकता है, तो इसके लिए पर्याप्त प्रशिक्षण सांस्कृतिक, सहृदय और लिबरल होगा। फिर एक ऐसी आदर्श अवस्था होती है जिसमें यथार्थवादी और सांस्कृतिक शिक्षा आसानी से और स्वभावतः एक दूसरे से गुँथ जाती हैं, और वे दो प्रक्रम न रहकर एक हो जाते हैं। पुराने जमाने में वे बहुधा मिल जाती होंगी, और शिक्षक या शिक्ष्यमाण को यह ध्यान भी न रहता होगा कि शिक्षण में दो पहलू होते हैं। वेगनर की रचना **मास्टर सिंगर्स** में हम हांस साक्स और उसके अप्रेंटिस डेविड का आनंददायक चित्र उत्सुक प्रशंसा के साथ देखते हैं, जिसमें वह चमार कवि अपने शिष्यों को न केवल बढ़िया जूते बनाने की शिक्षा देता था, बल्कि संगीत, कविता और नैतिक नियमों की शिक्षा भी देता था। उनमें वह उस्ताद दस्तकार स्वयं सुसंस्कृत व्यक्ति था, और वह अपने अप्रेंटिस को सारी शिक्षा देता था।

दस्तकारी की अप्रेंटिसशिप की प्रणाली, जो उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू तक टैक्निकल शिक्षा दिया करती थी, औद्योगिक क्रांति से भंग हो गई। मशीनों ने

दस्तकारी को अधिकतर बेकार कर दिया। दूसरी बात यह है कि बड़ी फैक्टरी का मालिक चाहने पर भी अप्रेंटिस के प्रशिक्षण की ओर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दे सकता था। हम उन दिनों को याद करके अफसोस कर सकते हैं जब मनुष्य को अपनी सृजनात्मक ऊर्जाओं के लिये बढ़िया जूते बनाने का क्षेत्र मिल सकता था, पर हमारे सामने यह खेदजनक तथ्य है कि पुंज उत्पादन (Mass Production) के इस युग में अधिकतर मनुष्य मशीनें चलाकर अपनी रोजी कमाते हैं, और उन्हें अपने दैनिक धन्धे में संस्कृति या सृजनात्मक कार्य के लिए कोई मौका नहीं मिलता। आत्मा को सुन्न कर देने वाले उनके कार्य को देखते हुए हमें सांस्कृतिक कार्यक्रमों की और भी अधिक व्यवस्था करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि स्पष्टतः उनकी शिक्षा का सांस्कृतिक पहलू उनके धन्धे के लिए आवश्यक बहुत मामूली प्रशिक्षण से बहुत अलग होना चाहिए। इसलिए आज हमें यह पुकार सुनाई देती है कि अवकाश के समय के लिए शिक्षा होनी चाहिए। हम मशीनों से होने वाली परेशानी पर चाहे जितना अफसोस करें, पर हम इस विचार से अपने आप को कुछ-न-कुछ तसल्ली अवश्य दे सकते हैं कि मशीनों ने मेहनत के समय को अनिवार्यतः कम कर दिया है और मजदूर को जीविका के साधन प्राप्त हो जाने के बाद कुछ खाली समय प्रदान किया है। अवकाश के समय के लिए शिक्षा की धारणा अरस्तू के समय से चली आती है। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, उसके मन में अवकाश की यह धारणा थी कि बहुत सारे गुलामों की मेहनत के बल पर थोड़े लोगों को विचार और ध्यान में रहने का अवसर प्राप्त हो सके। पर लोकतन्त्रीय समाज में अवकाश "सेवा से मुक्त रहने की अवस्था के बजाए सेवा का दायित्व स्वीकार करने का पुरस्कार" होना चाहिए। इस प्रकार, हमारे अपने देश में शिक्षा का एक मुख्य काम यह होना चाहिए कि वह ऐसी संस्कृति और कौशल उनमें भर दे जिनसे नर-नारी अवकाश के समय सृजनात्मक कार्य का आनन्द प्राप्त कर सकें और उन्हें कोई ऐसा अच्छा कार्य बताये जिससे वे शराब-घर या मोटर साइकिल की दौड़ के मैदान या सनसनीखेज सिनेमा की तरफ न जाएँ।

यद्यपि हम यह स्वीकार नहीं करना चाहते कि जनता के अधिकांश की व्यावसायिक और सांस्कृतिक शिक्षा को मिलाया नहीं जा सकता, तो भी हमें यह याद रखना चाहिए कि ऐसी अवस्थाओं में छात्र की ऊर्जाएँ कठोर व्यावसायिक प्रशि-

क्षरण में नहीं खप जातीं, और इसलिए उन्हें सांस्कृतिक कार्यों में काम लाया जा सकता है। हमें यह भी विचारना चाहिए कि रहन-सहन की कला स्वयं एक व्यवसाय है और इसके लिए वैसे ही विनिर्दिष्ट प्रशिक्षण की आवश्यकता है, जैसा किसी जीविका कमाने की प्रचलित रीति के लिए आवश्यक है, कि "दक्षता की बड़ी महँगी कीमत चुकाई जाती है और वह है पूर्ण पुरुषत्व", और हमें जीवन को जीने योग्य बनाने वाली सब चीज़ों को जीवन धारण के साधन प्राप्त करने के वास्ते कुर्बान न कर देना चाहिए। तो, यदि हमारे अधिकतर छात्रों को मशीन चालक ही बनना है, तब तो यह और भी आवश्यक है कि हमारे स्कूलों में सांस्कृतिक शिक्षा हो। पर संस्कृति वह होनी चाहिए जिसका आज के जीवन से संबंध हो। व्यापक शिक्षा की पुरानी धारणा, जो जीवन से असम्बन्धित होती थी, अब खत्म हो चुकी है। हम जो कुछ करने का यत्न कर रहे हैं, उसके विषय में अधिक स्पष्ट विचार बना रहे हैं, अर्थात् फिर हम विनिर्दिष्ट शिक्षा पर आ रहे हैं। "असल में हमने प्रागैतिहासिक काल की पुरानी विनिर्दिष्ट शिक्षा से चल कर पूरा चक्र पार कर लिया है, और हम आधुनिक काल की विनिर्दिष्ट शिक्षा पर पहुँच गये हैं।" विनिर्दिष्ट शिक्षा हमारे समाज से बहुत सरल प्रकार के समाज की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त थी। आज के अधिक जटिल समाज की आवश्यकताओं के लिए उपर्युक्त विनिर्दिष्ट शिक्षा शिक्षकों की वर्तमान पीढ़ी को बनानी है। प्रशिक्षण उस प्रकार के जीवन से, जो भविष्य में अपनाये जाने की सम्भावना है, अधिक विनिर्दिष्ट रूप से सम्बन्धित होना चाहिए, और यदि मशीन चला कर ही जीविका प्राप्त होनी है, तो इसे अवकाश की आशा भी करनी चाहिए।

हमारा निष्कर्ष यह है कि जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक शिक्षा के सांस्कृतिक और व्यावसायिक पहलुओं को मिला कर एक कर देना चाहिए। जहाँ ऐसा करना असम्भव है, वहाँ हम, जितना व्यावसायिक प्रशिक्षण आवश्यक है, उतने के साथ-साथ सांस्कृतिक प्रशिक्षण भी देना चाहते हैं, क्योंकि यदि संस्कृति व्यवसाय के लिए अनावश्यक है, तो भी यह अवकाश के लिए आवश्यक है। संक्षेप में, हमें यह यत्न करना चाहिए कि किसी व्यक्ति को बिना व्यवसाय की शिक्षा और बिना शिक्षा के व्यवसाय में से कोई एक चीज़ चुनने के लिए मजबूर न होना पड़े। जो स्कूल विशिष्ट व्यवसायों की शिक्षा देते हैं, उन्हें सांस्कृतिक शिक्षा की उपेक्षा न

करनी चाहिए, और जो स्कूल संस्कृति को अपना मुख्य कार्य समझते हैं, उन्हें व्यवसाय सम्बन्धी विचार को नजरंदाज न करना चाहिए। जो धंधा सिखाने वाले विद्यालय अपना सीमित लक्ष्य होने के कारण स्वभावत: थोड़े से विशिष्ट कौशल ही सिखाते हैं, उनमें कुछ सांस्कृतिक शिक्षा का प्रबन्ध कर दिये जाने पर उन्हें शिक्षण की दृष्टि से बुरा न समझना चाहिए। पर स्पेंस रिपोर्ट की इस सिफारिश में यह प्रचलित राय ध्वनित होती है कि "यद्यपि किसी व्यवसाय की तैयारी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, पर कोई व्यावसायिक ढंग का विशेषीकृत प्रशिक्षण स्कूल जीवन के अन्तिम दिनों में दिया जाना चाहिए"। इसी विचार के अनुसार चलते हुए हमारे नये सीनियर स्कूल व्यावसायिक शिक्षा नहीं देते, बल्कि पहले वाली हेडो रिपोर्ट (Hadow Report) की इस यथार्थवादी सिफारिश पर चलने का यत्न करते हैं कि पढ़ाई का उस जिले में होने वाले धंधों से कुछ सम्बन्ध रहे, जिसमें वह स्कूल है। वे अधिक से अधिक इतना ही करते हैं, जैसे कि लण्डन सेन्ट्रल स्कूल्स में होता है, कि वे वाणिज्यिक या टैक्नीकल झुकाव रखते हैं। इसी तरह ग्रामर स्कूलों, अर्थात् किताबी बातें पढ़ाने वाले विद्यालयों से स्पेन्स रिपोर्ट ने कहा है कि वे अपनी पढ़ाई को जीवन के व्यावहारिक मामलों से इस समय की अपेक्षा अधिक निकट सम्पर्क में लाएँ, और अपने छात्रों की अभिरुचियों के परिवर्धन में उपयोगिता वाली अवस्था का अधिक उपयोग करें। विशिष्ट रूप से देहाती ग्रामर स्कूलों से कहा गया है कि वे स्कूल के विषयों को इस तरह पढ़ाएँ जिससे खेती का काम करने वाले आदमियों की क्रियात्मक बुद्धि बढ़े और लड़कों को ऐसे जीवन-कार्यों के लिए तैयार करें जिनकी पृष्ठभूमि कृषि सम्बन्धी अभिरुचियों की हो। इस प्रकार, जो विद्यालय अब तक विद्या-सम्बन्धी संस्कृति को अपना विशेष सुरक्षित क्षेत्र मानते रहे हैं, उनसे अधिक यथार्थवादी रुख अपनाने के लिए कहा गया है।

पर स्पेंस रिपोर्ट ग्रामर स्कूल के पाठ्य-क्रम में यथार्थवाद को फिर लाने मात्र की ही सिफारिश नहीं करती। यह उससे और आगे जाती है, और यह सिफारिश करती है कि प्रचलित एकेडेमिक ग्रामर स्कूल यानी सिर्फ किताबें पढ़ाने वाले विद्यालय से बिल्कुल भिन्न टेक्निकल ढंग के नई तरह के माध्यमिक विद्यालय स्थापित किये जाएँ और इस दिशा में पहला कदम यह उठाया जाए कि कुछ मौजूदा जूनियर टेक्निकल स्कूलों को, जो इंजीनियरिंग और भवन निर्माण उद्योगों

में जाने वालों की दृष्टि से शिक्षा देते हैं, और ऐसे अन्य टेक्निकल स्कूलों को जो इस तरह का प्रशिक्षण दे सकें, जिससे (क) इसके टेक्निकल महत्व से बिल्कुल पृथक्, अच्छा बौद्धिक अनुशासन प्राप्त हो, और जो (ख) किसी एक विशिष्ट धंधे के बजाए धंधों के एक समूह की दृष्टि से टेक्निकल महत्त्व के हों, टेक्निकल हाई स्कूलों में बदल दिया जाए। इसका अर्थ यह है कि उन्हें हर दृष्टि से ग्रामर स्कूल के ढंग के स्कूलों के बराबर समझा जाए। उपर्युक्त बौद्धिक अनुशासन में अनेक सम्बन्धित सिद्धान्तों को समझना और उनका प्रयोग करना शामिल है, और यह उन्हीं पर निर्भर है। यहाँ दी जाने वाली शिक्षा इस तरह की होगी जिससे कुछ विशेष अभिरुचियों और आवश्यक अभियोग्यताओं (Aptitudes) वाले छात्रों की योग्यताओं का सर्वोत्तम विकास होगा, चाहे वे अन्त में उन उद्योगों में न भी जाएँ। ११ और १३ वर्ष के बीच की आयु के छात्रों के लिए उनका पाठ्य-क्रम प्रायः उसी तरह का होगा जैसा उनके समकक्ष दूसरी तरह के माध्यमिक विद्यालयों में होगा। पर तेरह वर्ष से अधिक के छात्रों के लिए यह इस तरह बनाया जाएगा कि उन्हें विज्ञान और उसके प्रयोग के साथ-साथ लिबरल शिक्षा भी दी जाए।

ऐसी योजना एक अमेरिकन लेखक डेविड स्नेडन की योजना की अपेक्षा, शिक्षा में संस्कृति को बनाए रखने के लिए अधिक अच्छी है। स्नेडन ने सिद्धांतों की पढ़ाई को बहुत हीन बताया है और यह कहा है कि व्यावसायिक शिक्षा प्रत्येक दृष्टि से यथार्थ होनी चाहिए, कि सदा वास्तविक सामग्री से काम होना चाहिए और काम करने का समय तथा मजदूरी आदि बातें भी असली जीवन की तरह ही होनी चाहिएँ। उसका विचार था कि ऐसे प्रशिक्षण का खर्चा स्वयं उद्योग को उठाना चाहिए और वह यह चाहता था कि व्यावसायिक विद्यालय सदा उस जिले में हों जिसमें वह व्यवसाय किया जाता है। आरम्भिक काल में व्यापक शिक्षा दी जाए, और जब विशेषीकृत प्रशिक्षण की अवस्था आ जाए तब खाली समय के लिए सांस्कृतिक शिक्षा शाम के समय दी जाय। स्पेन्स रिपोर्ट का, जो यथार्थ अवस्थाएँ लाने पर इतना आग्रह नहीं करती, यह विचार है कि जूनियर टैक्निकल स्कूलों का विशेष महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि वे किसी टैक्निकल कालिज के अध्यापकों और सामग्री से सम्पर्क रखते हैं। स्पैन्स रिपोर्ट के अनुसार नये टैक्निकल माध्यमिक स्कूलों को ऐसे कालेज के अध्यापकों और साज-सामान का उपयोग करना चाहिए। शिक्षा के क्षेत्रों में इस बात पर विवाद हुआ करता था कि

टैक्निकल स्कूलों में ऐसे कुशल शिल्पकारों को अध्यापक रखना आवश्यक है, जिनका अध्यापन की ओर झुकाव हो, या ऐसे प्रशिक्षित अध्यापकों को रखना अच्छा है, जिनका दस्तकारी की तरफ झुकाव हो। स्पैन्स रिपोर्ट पहले प्रकार के पक्ष में है, और ग्रामर स्कूलों के इंजीनियरिंग वाले हिस्से में भी ऐसे अध्यापक नियुक्त करने के लिए कहती है "जिन्हें इंजीनियरिंग का ऐसा प्रशिक्षण मिला है जिसमें असली क्रियात्मक अनुभव भी शामिल है।" स्पष्ट है कि नए टैक्निकल हाई स्कूलों में दोनों तरह के अध्यापकों की गुंजायश है।

जहाँ तक विश्वविद्यालय की शिक्षा का सम्बंध है, आजकल इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि व्यावसायिक विषय पाठ्य-क्रम में रखे जाएँ। चिकित्सा, इंजीनियरिंग, शिक्षा और यहाँ तक कि शराब बनाने के विषय भी, विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जा रहे हैं। विश्वविद्यालय अनेक व्यवसायों के लिए तैयारी करने का स्थान है और वहाँ रहने वाले छात्रों को अपने विभाग से बाहर उन दूसरे छात्रों से मिलने का अवसर मिलता है, जिन्होंने कोई और पेशा अपनाना है। दक्षता का महत्त्व मानते हुए भी इस बारे में सब लोग सहमत हैं कि विभिन्न व्यवसायों की तैयारी करने वाले छात्रों में कम-से-कम अलगाव होना चाहिए। अध्यापन के पेशे में जाने वाले नौजवानों को शुरू में ही औरों से अलग कर देने को अब लोग उचित नहीं समझते। जिन प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के लिए विश्वविद्यालय की उपाधि लेना आवश्यक होता है, वे अब उस पुरानी पद्धति का स्थान ले लेते हैं, जिसमें, छात्र रहते हुए, लड़के को अध्यापक का काम करना पड़ता था। इसमें अयोग्य व्यक्ति स्वयं बाहर हो जाता था और उसके बाद उस छात्र अध्यापक को किसी ट्रेनिंग कालेज में अध्यापन की विशेष शिक्षा दी जाती थी। हमने अध्यापकों को ट्रेनिंग देने वाले कालेजों की यह निंदा सुनी है कि उनसे तंग दिमाग वाले नौजवान निकलते हैं, जिन्हें उस दुनिया के बारे में कुछ पता नहीं होता, जिसे वह शिक्षित करने चले हैं। यद्यपि वे लोग, जिन्हें इन कालेजों के बारे में कुछ पता नहीं है, इस तरह की बातें बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कह सकते हैं, तो भी यह तो कहना ही होगा कि भविष्य के अध्यापक को विश्वविद्यालय के जीवन से मिलने वाले सम्पर्कों और सामाजिक मेल-जोल के द्वारा अधिक विस्तृत दृष्टिकोण मिलना चाहिए। बहुत सारे पुराने ट्रेनिंग कालेजों के लिए यही समस्या है कि वे अपने मूल्यवान् व्यष्टित्व और सम्माननीय परम्परा को बिना हानि पहुँचाए अपने छात्रों

को यह दृष्टिकोण की विशालता कैसे प्राप्त कराएँ।

व्यावसायिक शिक्षा के प्रश्न को खत्म करने से पहले व्यवसाय के चुनाव के प्रश्न पर थोड़ा सा विचार कर लेना उचित होगा। आदर्श यह है कि कोई आदमी अपनी योग्यता की दृष्टि से अनुपयुक्त पेशा न अपना ले। अच्छी तरह चुने हुए पेशे से दक्षता भी आती है और सुख भी। निस्संदेह डाक्टरों और अध्यापकों में वे योग्यताएँ, झुकाव और प्रवृत्तियाँ होनी चाहिएं, जो उनके काम में सफलता मिलने के आधार हैं, पर यह बात भी उतनी ही सच है, चाहे उतनी स्पष्ट न हो, कि मशीन-चालक का जीवन भी तब अधिक सुखी होता है जब उसका काम ऐसा हो जिसके लिए उसमें नैसर्गिक योग्यता हो।

नैसर्गिक झुकाव और अभिरुचि का व्यवसाय के चुनाव में सदा महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। ऐसे झुकावों और अभिरुचियों का उद्गम क्या है? बहुधा नई उम्र के लड़के अपने परिचिति-क्षेत्र के किसी प्रशंसित व्यक्ति के उत्साह और भावनाओं का अनुकरण करके उसका पेशा अपनाने की इच्छा करने लगते हैं। पर डा० अर्नेस्ट जोन्स जीवन में कोई विशिष्ट पेशा अपनाने की हमारी इच्छा के मूल कारण का पता लगाने के लिए अधिक गहराई में जाते हैं। आपका कहना है कि मनोविश्लेषक के रूप में कार्य करते हुए मैंने यह देखा कि विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने पेशों में इस कारण जाते थे कि उनकी असफल और दबी हुई प्रवृत्तियाँ उनके आवेगों को उधर ले जाती थीं। इसकी तुलना में वे बाहरी प्रलोभनों और अवसरों से उन दिशाओं में उतने नहीं जाते। ये बाहरी बातें, जो किसी कभी-कभी ध्यान देने वाले आदमी को महत्त्वपूर्ण मालूम होंगी, प्राय: किसी प्राथमिक (Primary) दबे हुए प्रयत्न की अभिव्यक्ति का बहाना होती हैं। तो, हमें यह विचार स्वीकार करने के लिए कहा जा रहा है कि अपने पेशे का चुनाव करते हुए हम अनजाने रूप से अपनी किसी दबी लालसा को पूरा करने का रास्ता तलाश कर रहे हैं, जो शायद हमारे शैशव के दिनों से हमारे अंदर दबी हुई है। पर यद्यपि हम मनोविश्लेषकों की इस बात को सुनने के आदी हो गये हैं कि हमारे बहुत से बड़े उच्च विचार बड़ी छोटी-छोटी बातों से पैदा होते हैं, तो भी हम मोटी बुद्धि की इस बात को सर्वथा नहीं त्याग देते कि बहुधा पेशे का चुनाव वीर-पूजा (Hero-worship) से प्रेरित होता है। उसका चाहे जो कारण हो, पर यह स्पष्ट है कि दूसरों को व्यावसायिक मार्ग-प्रदर्शन करने का प्रयत्न करते

हुए हमें इन झुकावों और अभिरुचियों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

अभिरुचियों और झुकावों के अलावा लड़के की बुद्धि की मात्रा और विशेष योग्यताओं का भी पता होना चाहिए। सौभाग्य से यह बात सच है कि झुकाव और अभियोग्यताएँ एक ही दिशा की ओर संकेत करती हैं। बच्चों का सावधानी से प्रेक्षण करने से कभी-कभी उनकी विशेष अभियोग्यताओं का शुरू में ही पता चल जाता है। लेखक एक ऐसे लड़के को जानता है जिसने १० वर्ष की आयु में अपनी टोली के लिए, जिसका वह माना हुआ नेता था, विस्तृत कानून बनाया था। वह लड़का बाद में एक विश्वविद्यालय में कानून का योग्य और उत्साही छात्र निकला। यदि ऐसी विशेष अभियोग्यताएं सामान्य प्रेक्षण से नजर में न आएं तो उन्हें मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं द्वारा खोजा जा सकता है। प्रोफेसर स्पीयरमैन ने यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्यों में कुछ विशेष योग्यताएं होती हैं, जैसे हाथ की कुशलता और मोटर-कुशलता (Manual and Motor dexterity), गिनने की योग्यता, स्मरण करने की शक्ति, याद किए हुए को न भूलने की शक्ति, भाषा सम्बन्धी योग्यता, संगीत सम्बन्धी योग्यता, और गणित सम्बन्धी योग्यता। उन्होंने हमें वह विधि भी बतादी है जिससे यह पता लगाया जा सकता है कि किसी मनुष्य में ये योग्यताएँ किस-किस मात्रा में हैं। हारवर्ड के मंस्टरबर्ग ने यह पता लगाने के लिए एक विशद उपकरण भी बनाया था कि किसी व्यक्ति विशेष में ट्राम चलाने जैसे काम में सफलता के लिए आवश्यक गुणों का संयोग है या नहीं, और यद्यपि उसकी परख कृत्रिम और यथार्थ वस्तु से दूर प्रतीत होती है, तो भी मालूम होता है कि उससे सही परिणाम निकले। लंदन में नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ इंडस्ट्रियल साइकोलाजी बुद्धि और विशेष योग्यताओं के आधार पर, जिसके साथ भेंट (Interview) भी होती है और माता-पिता तथा स्कूल-मास्टरों की रिपोर्ट भी देखी जाती है, व्यावसायिक पथ-प्रदर्शन करती है। इसके कार्य ने बहुधा लड़कों के पेशे का चुनाव करने की समस्या हल कर [illegible] है और उनको गलत व्यवसाय चुन लेने पर होने वाले दुःख और असफलता से बचा लिया है।

शायद आदर्श बात यह होगी कि सब मामलों में मनोविज्ञान के विशेषज्ञों की सलाह मिल सके क्योंकि अध्यापक सफलतापूर्वक परख लागू नहीं कर सकता, और उनकी सम्मतियाँ और फैसले और माता-पिताओं की सम्मतियाँ अपने आप

में ना काफी हैं । पर सबके फैसलों को मिलाकर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती है और माता-पिता हैडमास्टरों और धंधे सिखाने वाले मास्टरों की सलाह के लिए अधिकाधिक उत्सुक हो रहे हैं । हैडमास्टर किसी विशेष लड़के के बारे में अपने सहयोगियों की सहायता से जानकारी प्राप्त करके उचित सलाह दे सकता है और अपना सामान्य विचार बना सकता है, और इस काम में यह अच्छा होगा कि वह स्कूल में बालक के कार्यों का इतिहास व्यवस्थित रूप से लिखे और उसकी विशेष अभियोग्यताएँ नोट करें । उसे यह निश्चित समझना चाहिए कि अपने पहले ही बहुत भारी बोझ में इतना बोझ और जोड़कर वह समाज की कोई छोटी सेवा नहीं कर रहा ।

अध्याय ११

शिक्षा में धर्म का स्थान

(Religion in Education)

सर्वनाशी युद्ध के समय, जब वे सब चीजें जिन्हें हम मूल्यवान् समझते हैं, पाशविकता से नष्ट होने का खतरा हो, यह कहना अनावश्यक है, कि पुर्नरचना (Reconstruction) के समय शिक्षा का आधार किसी ठोस दर्शन पर होना चाहिए। यदि हम उन राज्यों के दूषित सिद्धान्तों और कार्यों का विरोध करना चाहते हैं जिनसे हमारा युद्ध चल रहा है, और यदि हम दुनिया को अपनी मौजूदा मुसीबतों की पुनरावृत्ति से बचाना चाहते हैं, तो हमें मजबूत बुनियादों पर अपना भवन खड़ा करना चाहिए। हमें यह मानना होगा कि ऐसे राज्यों की राजनैतिक संस्थाओं और शिक्षण-पद्धति की तह में कोई सुनिश्चित और पक्का दर्शन होता है। शायद यह कहा जा सकता है कि हमारी ब्रिटिश शिक्षा की कुछ अस्पष्ट दार्शनिक बुनियादें कुछ सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) देशों की शिक्षण-पद्धति के आधारभूत निर्ममता और शक्ति के सुनिश्चित सिद्धान्तों से अच्छी हैं, पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अब हमारे शिक्षण अधिकारियों और अध्यापकों को ऐसे अस्पष्ट और अनिश्चित सूत्रों द्वारा, जिन्हें व्यापक समर्थन मिल जाता है, मूलभूत प्रश्नों को टालते जाने की आदत छोड़ देनी चाहिए, और सिद्धान्त तथा ध्येय के मामले में बुनियादी बात पर आ जाना चाहिए।

प्रकृतिवाद और व्य[illegible]र में से कोई भी ऐसा सुरक्षा का साधन प्रस्तुत नहीं कर सकता जिससे न केवल हमारे देश और साम्राज्य का, बल्कि सारे संसार का भविष्य निष्कंटक हो सके। पर व्यवहारवाद अपने खुद के सिद्धान्तों द्वारा ही ऐसे दर्शन की आवश्यकता बताता है जिससे उस दर्शन, या दर्शन के अभाव, की अपेक्षा, जो हमारे शिक्षा की प्रचलित प्रणाली को अनुप्राणित किए हुए है, अधिक

संतोषजनक परिणाम पैदा हों। अब तक का वह दर्शन क्या था ? मनुष्य की सहज अच्छाई में, जो अब दयनीय सी प्रतीत होती है, विश्वास रखते हुए हम भावनात्मक मानवतावाद या एक अस्पष्ट लिबरलिज़्म अर्थात् स्वतंत्रतावाद या उदारतावाद को मानते रहे हैं। पर अब, जबकि मानवीय दुष्टता के परिणाम हमारे सामने आ चुके हैं, हम जानते हैं कि यह काफी नहीं होगा। निरा मानवतावाद खोखला है। इसके पास कोई साधन नहीं हैं और मुसीबत के समय यह काम नहीं आया। हम में से बहुत से लोग अब यह अनुभव करते हैं कि यदि निर्मम अधार्मिकता को विजयी नहीं होने देना है तो परोपकारी मानववाद से कोई अधिक प्रबल चीज़ उसके मुकाबले में लानी होगी। मानवतावाद किसी ऐसी चीज़ पर पक्के तौर से खड़ा होना चाहिये जो इसे खड़ा रख सके। यह अपने आप खड़ा नहीं रह सकता। यदि इसे दृढ़ आधार-शिला पर खड़ा नहीं किया गया है तो यह स्थायी रूप से संतोषजनक परिणाम पैदा करने में अशक्त है, और इसलिए व्यवहार दर्शन के आधार पर यह बेकार है।

यह बहुत अच्छी तरह स्पष्ट होगया है कि नैतिक विचारों की उपेक्षा और सरल तथा तात्कालिक वांछनीयता के मार्ग का अनुसरण राष्ट्रों को विपत्ति में ला पटकते हैं। मनुष्यों का चाहे जो हाल होता हो, अन्ततोगत्वा वांछनीय होने वाला दर्शन "आत्मिक जगत के प्राकृतिक नियमों" से मेल खाने वाला होना चाहिए। इन नियमों के न मानने पर भी वैसे ही हानि उठानी होगी जैसे गुरुत्व के नियम (Law of Gravity) को न मानने पर उठानी पड़ती है। यदि यह नैतिक जगत है तो जीवन की वे रीतियाँ ही ठीक तरह कार्य कर सकती हैं जो नैतिक नियमों के अनुरूप हों। और कोई चीज़ स्वभावतः अवश्य ही व्यर्थ होगी।

इस पुस्तक में सामान्य तौर से यह कहा गया है कि शिक्षा के वे लक्ष्य और आंदोलन सर्वोत्तम हैं जो प्रकृतिवाद या व्यवहारवाद से न निकलकर मूल्यों के अध्यात्मवादी दर्शन से निकलते हैं। सत्य, सौंदर्य और शिवत्व यानी अच्छाई निरपेक्ष गुण समझे जाते हैं, जो आत्मिक जगत् [illegible] में स्वभावतः या जन्मजात हैं, और मनुष्य इन निरपेक्ष गुणों को खोजकर और प्राप्त करके ही अपने को पूर्ण बना सकता है। वे सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तुएँ हैं जो स्वतः अपना अस्तित्व रखती हैं, और वे हमारे आदर और निष्ठा की पात्र हैं। इसलिए सबसे बड़ी बात यह है कि शिक्षा को बालकों के क़दम ऐसे मार्ग पर चला देने चाहिएँ जो सच्ची,

ईमानदार, न्याय्य, दोषहीन, सुन्दर और मंगलमय बातों की ओर ले जाती हो।

इन निरपेक्ष गुणों की ओर जाने वाले मार्ग का हम कैसे पता लगाते हैं? हम यह बात उन्हें कैसे बता सकते हैं जिन्हें मार्ग दिखाना शिक्षक के रूप में हमारा कर्तव्य है। निस्संदेह कुछ ऐसी प्रबल आत्माएँ होती हैं, जो उन्हें निरपेक्ष सत्ता के अमूर्त्त गुणों के रूप में देख और अपना सकती हैं, पर साधारण मनुष्य को अमूर्त्तता से कोई संतोष नहीं मिलता। हम उसे किस तरह न केवल उस ध्येय का स्पष्ट दर्शन करा सकते हैं, बल्कि उसे इस ध्येय की ओर प्रेरित करने के लिए गति भी दे सकते हैं? हम राष्ट्र के स्कूलों में अपने छात्रों को किस तरह उनकी आत्मिक यात्रा के मार्ग पर भेज सकते हैं? ऐसे प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर मिलने पर ही मूल्यों का हमारा दर्शन मूर्त्त रूप ग्रहण कर सकता है।

पिछले महायुद्ध के बाद डाक्टर एफ० एच० हेवर्ड ने एक मनोरंजक और शिक्षाप्रद प्रयत्न किया था। स्कूल में और स्कूल से बाहर उनके जो 'समारोह' मनाये गये, उनमें उन्होंने शेक्सपियर, मिल्टन या न्यूटन जैसे किसी सम्मान्य मानव व्यक्ति को या न्याय जैसे किसी अमूर्त्त गुण को आदर का अधिष्ठान बनाकर धार्मिक कर्मकाण्ड कराये। धार्मिक कृत्यों की तरह इन समारोहों में भी भाषण, संगीत और कला का उपयोग किया गया। उनका लक्ष्य भावना को ऊँचा उठाना और सत् कार्य की दिशा में भावनात्मक प्रेरणा प्रदान करना था। वे प्रायः प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए और बेकार भी नहीं रहे, यद्यपि उनसे पड़ा हुआ प्रभाव क्षणिक रहा। पर दिलचस्पी और सहानुभूति रखने वाले बहुत से श्रोताओं ने यह समझा कि धर्म का कोई स्थानापन्न प्राप्त करने के इस प्रयत्न में किसी आवश्यक चीज का अभाव है। धर्म स्वयं ही अंतिम ध्येय की स्पष्ट कल्पना दे सकता है और इसकी दिशा में प्रयत्न करने के लिए काफी उद्दीपन प्रदान कर सकता है। कोई और चीज अमूर्त्तता के आकाश से मूल्यों के दर्शन को उतारकर नहीं ला सकती। मनुष्य निरपेक्ष सत्ता की ओर जाने का, इसके अलावा और कोई मार्ग नहीं जानता [illegible] एक ऐसी सत्ता की उपासना करे जो न केवल सर्वथा शिव है, बल्कि "सौन्दर्य और सत्य से पूर्ण" भी है।

आज अधिकाधिक विचारशील लोगों का विचार यह हो गया है कि यदि हम शिक्षा के द्वारा ऊँचे दर्जे की सभ्यता पैदा करना और कायम रखना चाहते हैं, और कुछ-कुछ समय बाद होने वाले पशुता के प्रदर्शन से बचना चाहते हैं, तो

शिक्षा धर्म पर आधारित होनी चाहिए। धर्म से हमारा क्या आशय है, यह स्पष्ट कर देना उचित होगा। हमारा आशय आस्तिकवाद या नैतिक आचरण की नियमावली से अधिक महत्त्वपूर्ण किसी चीज से है, और यहूदी धर्म, बौद्ध धर्म या इस्लाम या किसी अन्य उत्कृष्ट धर्म के प्रति, जो हमारे ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्य सदस्यों में से बहुतों के जीवनों को मार्ग-प्रदर्शन और प्रेरणा देते हैं, कोई अनादर न रखते हुए हम इस बात पर बल देना चाहते हैं कि स्वयं ब्रिटेन के अधिकतर नागरिकों के लिए धर्म का अर्थ ईसाई धर्म है। क्योंकि इसी धर्म ने पश्चिमी योरोप की उस सभ्यता का निर्माण किया है, जो नया पेगनिज्म या अधार्मिकता खत्म करने पर तुली हुई है! हम मूर्खतावश यह समझते रहे कि हम ईसाई धर्म को खत्म करके भी ईसाई धर्म के नैतिक आदर्श कायम रख सकते हैं। पर अब हम पहले से अच्छी तरह सचाई को जानते हैं। हम महसूस करते हैं कि हम, हमारे लिए पूर्वजों द्वारा संगृहीत आत्मिक पूंजी पर जीवन बिताते रहे हैं, और यदि हमें दिवालिया होने से बचना है तो हमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी पूंजी को बढ़ाते रहना चाहिए। तो, ईसाई धर्म को स्कूलों और राष्ट्र के विस्तृत जीवन में इसका परम्परागत स्थान फिर मिलना चाहिए।

बहुत कम लोग इस बात से इंकार करेंगे कि हमारे स्कूलों में कुल मिलाकर धर्म की वर्तमान स्थिति बेहद असन्तोषजनक है। शिक्षा में इसका पहले जो ऊँचा पद था, उस पर से इसे किन शक्तियों ने हटा दिया है? उन्नीसवीं शताब्दी में भावना और इच्छा के बजाय बुद्धि पर जो बल दिया गया, उसने लौकिकवाद (Secularism) की एक लहर पैदा की, जिसका जन शिक्षा की पहली दशाब्दियों में गहरा प्रभाव पड़ा। ईसाई चर्च की विभिन्न शाखाओं के मतभेदों के कारण, जो कभी-कभी बहुत कटुता की अवस्था तक पहुँच जाते थे, इस दिशा में कुछ सुधार न हो सका। उनका परिणाम यह हुआ कि १८७० के शिक्षा अधिनियम में काऊपरटेम्पल खण्ड (Cowpertemple clause) का यह निषेध रखा गया कि "सार्वजनिक धन की सहायता पाने वाले स्कूलों में कोई ऐसे धार्मिक प्रश्नोत्तर या धर्म-सम्बन्धी सूत्र-नियम नहीं पढ़ाये जाएंगे जो किसी एक सम्प्रदाय (Denomination) के हों।" यद्यपि इस प्रसिद्ध खण्ड ने "बिना टीका-टिप्पणी वाली बाइबिल पढ़ने पर रोक नहीं लगाई थी," पर इसके निषेधात्मक रूप का बहुधा यह परिणाम हुआ है कि धार्मिक शिक्षा का प्राणवान् अंश जाता रहा

और निरे बाइबिल के पाठ पढ़ाये जाने लगे, जो अपने-आप में जीवन के प्रति धार्मिक रुख पैदा करने की शक्ति नहीं रखते थे। पर हाल के वर्षों में कुछ क्षेत्रों में विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों ने सरकारी सहायता से चलने वाले स्कूलों में अपने मतभेदों के कारण धार्मिक शिक्षा में पड़नेवाली बाधा से उत्पन्न खतरे को समझते हुए बाइबिल की पढ़ाई के बारे में कुछ सहमत पाठ्यक्रम बनाये हैं, और उन्हें स्थानीय शिक्षा-अधिकारियों तथा अध्यापकों से स्वीकार करा लिया है। वे पाठ्यक्रम सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में धार्मिक शिक्षा की समस्या हल करने में बड़ी महत्त्वपूर्ण सहायता दे रहे हैं।

इस दिशा में एक और कदम १९३९ में बढ़ाया गया जब माध्यमिक शिक्षा के विषय में परामर्श देने वाली समिति ने अपना यह विश्वास प्रकट किया कि स्कूलों में धार्मिक शिक्षा और बाइबिल के अध्यापन के मूल्य और महत्त्व को व्यापक रूप से और सचमुच समझा गया है, और कि यह समय इस बात पर नये सिरे से विचार करने के लिए अनुकूल है कि माध्यमिक विद्यालय की आयु के लड़कों और लड़कियों की शिक्षा में इनका क्या स्थान होना चाहिए: उसने अपना यह निश्चय भी उद्घोषित किया कि यदि किसी लड़के या लड़की को इस तथ्य का ज्ञान नहीं कराया गया है कि जीवन के बारे में एक धार्मिक दृष्टिकोण भी मौजूद है तो उसे ठीक तरह से शिक्षित नहीं कहा जा सकता; इसने माध्यमिक विद्यालयों में बाइबिल के गम्भीर अध्ययन के लिए कुछ नियम भी बनाये। आज जबकि हम सब छात्रों को किसी-न-किसी रूप में माध्यमिक शिक्षा देने की बात सोच रहे हैं, इसका अर्थ यह हो जाता है कि कोई भी छात्र ऐसा न होगा जिसे स्कूल छोड़ने से पहले व्यवस्थित धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने का मौका न मिला हो।

फरवरी १९४० में हमारे अधिकतर स्कूलों में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा के असंतोषजनक रूप पर लन्दन के टाइम्स अखबार ने एक अग्रलेख में चिन्ता प्रकट की थी। निष्क्रमण-[illegible]स्थाओं में यह तथ्य बड़ा गम्भीर हो गया था कि "एक ऐसे देश में, जो अपने आपको ईसाई कहता है और जो इस समय ईसाई सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व दांव पर लगाये बैठा है, ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है, जो भविष्य के नागरिकों को शुद्ध रूप से गैर-ईसाई वातावरण में बड़े होने का अवसर देती है।" इन पंक्तियों के लेखक ने यह

मान्यता रखते हुए कि "शिक्षा कहलाने वाली किसी भी चीज़ का मूल आधार हा धर्म होना चाहिए, और कि धर्महीन शिक्षा वास्तव में शिक्षा ही नहीं है," कि "अच्छी नागरिकता का आधार चरित्र है और मनुष्य का चरित्र उसके विश्वासों पर निर्भर है", यह प्रश्न रखा था कि यह क्या बात है कि राज्य "इन सीधी-सच्ची बातों को नजरन्दाज कर रहा है और धर्म की शिक्षा को ऐसा काम समझ रहा है जिसके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैंने उस समय कहा था :

"हम लोग बहुत वर्षों से भविष्य के लिए कोई व्यवस्था करने के बजाय भूतकाल से प्राप्त आत्मिक पूंजी और परम्पराओं पर जी रहे हैं। ईसाई धर्म हवा में से नहीं ग्रहण किया जा सकता। यह कोई दर्शन नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक महत्त्व का धर्म है और यदि वे तथ्य नहीं पढ़ाये जाएंगे, जिन पर यह खड़ा है और ऐसे शिक्षण को हमारी शिक्षा-पद्धति का केन्द्र नहीं बनाया जाएगा तो इसका अवश्य ह्रास हो जाएगा—सबसे ऊँचे ज्ञान को तरुण नागरिकों के प्रशिक्षण में खुले तौर से सबसे ऊँचा स्थान दिया जाना चाहिए। यदि ईसाई धर्म का कोई अच्छा भविष्य नहीं होना है, तो ईसाई सिद्धान्तों की रक्षा के लिए लड़ना बिल्कुल बेकार है, या यदि हम उसे आन्तरिक उपेक्षा से क्षीण हो जाने देते हैं तो अपार धन-राशि और मनुष्य नष्ट करके इसकी बाहरी हमलों से रक्षा करना बिल्कुल बेकार है।"

अब लेम्बिथ पैलेस से ठोस और अधिकृत प्रस्ताव आये। कैंटरबरी और यार्क के आर्कबिशपों ने चर्च आफ इंग्लैण्ड और वेल्स के चर्च के पादरियों से परामर्श करने के बाद और फ्री चर्चों के नेताओं से पूर्ण सहमति रखते हुए निम्न-लिखित पांच बातें रखी हैं :

(१) सब स्कूलों में सब छात्रों को ईसाई शिक्षा दी जानी चाहिए (पर यदि कोई माता-पिता अपने बच्चों को यह शिक्षा न दिलाना चाहे, तो उन्हें यह न दी जाएगी)। धार्मिक शिक्षा का काम ऐसे अध्यापकों को सौंपा जाना चाहिए जो यह शिक्षा देने के लिए तैयार और समर्थ हों। हम यह चाहते हैं कि यह शिक्षा देने की अनिच्छा से किसी अध्यापक की अपने अध्यापक-जीवन में होने वाली उन्नति पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ना चाहिए। पर सब अध्यापक इस बात से सहमत होंगे कि अध्यापन-कार्य के लिए यह उचित सिद्धान्त है कि किसी विषय का अध्यापन उन व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए जिन्हें वह प्रशिक्षण

देने में वैयक्तिक दिलचस्पी हो, उसका ज्ञान हो और उसका प्रशिक्षण मिला हो।

(२) हमारा यह अनुरोध है कि धार्मिक ज्ञान और शिक्षण टीचर्स सर्टीफिकेट के प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में एक ऐच्छिक विषय होना चाहिए, और सिर्फ एक अतिरिक्त ऐच्छिक विषय नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सर्टीफिकेट हासिल करने में इसका स्थान होना चाहिए।

(३) जहाँ किसी स्कूल में सिर्फ एक या दो-एक अध्यापक ही क्रिश्चियन शिक्षा देने की उचित अर्हता रखते हैं, वहाँ यह इजाजत होनी चाहिए कि यह शिक्षा स्कूल के समय किसी भी घंटे में दी जा सकती है, जिससे वही अध्यापक अलग-अलग समय कई कक्षाओं को पढ़ा सके।

(४) धार्मिक अध्यापन का महत्त्व समझा जाए, इसके लिए इसकी विधियों का निरीक्षण सरकारी इन्सपेक्टरों, या किसी अन्य यथाविधि प्राधिकृत निरीक्षक द्वारा होना चाहिए।

(४) सब स्कूलों में समय विभाग इस तरह रखना चाहिए कि पढ़ाई शुरू होने से पहले सारे स्कूल की ओर से कोई उपासना कार्य हो सके।

इन प्रस्तावों में आर्कविशपों ने माध्यमिक स्कूलों के लिए स्पेन्स रिपोर्ट का स्वागत करते हुए भी विशेष रूप से प्राथमिक विद्यालयों की दृष्टि से उपर्युक्त बातें कही हैं। वे सर्वसम्मत पाठ्यक्रम की घटना को ज़माने का सबसे अधिक आशाजनक संकेत मानते हैं; और उनका विश्वास है कि यदि उन द्वारा बताये गये कार्य किये जायँ तो "यथार्थ ईसाई शिक्षा की गम्भीर रुकावटें हट जाएँगी और बड़ी प्रगति हो सकेगी।"

अब हमारे पीछे न केवल आर्कविशपों की सिफारिशें हैं, बल्कि बोर्ड आफ एडूकेशन की सलाहकार समिति और 'टाइम्स' का प्रभाव भी है, और इसलिए अब हम स्कूल में धर्म के स्थान पर और ईसाई शिक्षा को तरक्की देने के लिए हमारे पास जो साधन हैं, उन पर ज़रा अधिक बारीकी से विचार करेंगे।

"धर्म का अर्थ", यू[illegible] लिखा है, "यह नहीं है कि यह अन्य बातों की तुलना में एक विशेष विषय हो; इसका आशय तो यह है कि यह सारे जीवन की भीतरी आत्मा और सर्वोच्च शक्ति बन जाए।" इस बात को स्कूल पर लागू किया जाए तो इसका अर्थ यह है कि धर्म सिर्फ पढ़ाई का एक विषय ही न होना चाहिए, यद्यपि इसके विशेष अध्ययन के लिए समय अवश्य नियत होना चाहिए।

यह तो सारे जीवन और कार्य को व्याप्त करने वाली एक भावना और क्रिया होनी चाहिए। हमें ईसाई धर्म के सिद्धांत और आचरण की छात्रों को शिक्षा दे देने मात्र से कुछ अधिक चीज़ का यत्न करना चाहिये। हमें अपनी सभ्यता की ईसाई बुनियादों का वैषयिक अध्ययन मात्र न करा देना चाहिए, बल्कि कुछ ऐसा कार्य कराना चाहिए जिससे छात्र ईसाई बन सकें। सामान्यतया हमें छात्रों के लिए ऐसी अनुकूल अवस्थाएँ बनानी चाहिएँ जिनमें वे आप से आप ईसा के प्रति निष्ठावान् हो जाएँ और स्वयं अपने विश्वास को पक्का बनाएँ। हमारे स्कूल, जैसे कि डा० जे० डब्ल्यू० स्कीनर ने जान वैजले के शब्द उद्धृत करते हुए कहा है, "ईसाइयों के पोषणालय (Nurseries of Christians) होने चाहिएँ।" अपने छात्रों के मनों में हमें वह बीज बो देना चाहिए जिससे "ईश्वर के प्रेमी और सेवक तथा मनुष्यों के प्रेमी और सेवक पैदा हों", और हमें अपने प्रयत्न जारी रखने चाहिएँ, चाहे उनके तात्कालिक परिणाम हम देख सकें या न देख सकें।

यदि हम धर्म को स्कूल के जीवन की आधार-भूमि बनाना चाहते हैं, तो इसके लिए हमारे पास कौन से साधन हैं ? सबसे पहले, दिन के शुरू और अन्त में उपासना के लिए होने वाली सभाएँ हैं, पर इन सभाओं में सर्वथा लौकिक प्रकार की बातें ही आसानी से कही जा सकती हैं। यह कहना तो ठीक नहीं कि धार्मिक प्रकृति की बातों के अलावा और कोई बात कभी कही ही न जाए, पर अधिकतर लोग यह स्वीकार करेंगे कि यदि मूर्खतावश और बेसमय दंगा अधिनियम (Riot Act) स्कूल में पढ़कर सुनाया जाए तो उपासना का सारा प्रभाव आसानी से खत्म हो सकता है। स्कीनर ने लिखा है कि स्कूल की उपासना तब ही प्रभावकारी हो सकती है जब उसमें कुछ विशेषताएँ हों : यह हार्दिक होनी चाहिए, सरल होनी चाहिए, संक्षिप्त होनी चाहिए। यदि ये अवस्थाएँ हो जाती हैं, यदि प्रार्थना अपने ऊँचे आशय के अनुरूप काफी ऊँचे दर्जे की है, तो बहुत कुछ सफलता हासिल की जा सकती है, भावनाएँ ठीक दिशा में और उच्चता की ओर ले जाया जा सकता है, और दिन का काम ठीक भावना से शुरू या समाप्त होगा। उचित भजनों का गाना स्कूल की उपासना का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है। यह समझना बड़ी भूल है कि भजन सब ऐसे हों जो "बच्चों के लिए ठीक" कहलाते हैं, क्योंकि यदि मामूली दर्जे के बालिश भजन ही गाए जाएँगे तो किशोर

अवस्था का बालक इसे अपनी बुद्धि का अपमान समझेगा और उसके मन में पूजा के सारे कार्य के प्रति घृणा हो जाएगी। ईसाई धर्म के महान् भजन, जिनमें शुरू के पादरियों के लिखे हुए भजन भी हों और आधुनिक काल के लेखकों के गीत भी हों, प्रयोग में लाने चाहिएँ। दैनिक सभाओं में बाइबिल को व्यवस्थित रूप से पढ़ने का भी अवसर मिलता है, क्योंकि इस तरह स्कूल में बाइबिल पढ़ाने को सामान्य योजना के साथ अच्छी तरह जोड़ा जा सकता है। यदि मुख्य अध्यापक या उपासना करने वाले दूसरे व्यक्ति में सामर्थ्य हो तो प्रार्थनाएं पहले से बिना याद की हुई और स्वतःस्फूर्त हो सकती हैं। अन्यथा यह अच्छा होगा कि किसी अच्छी प्रार्थना पुस्तक में से चुनी हुई प्रार्थनाओं का प्रयोग किया जाए। अन्तिम बात यह है कि बड़े छात्रों को बाइबिल के कुछ हिस्से तैयार करके पढ़ने और प्रार्थनाएँ कराने के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

दूसरे, हम स्कूल के समष्टिगत जीवन को सच्चे ईसाई बनाने का महत्त्वपूर्ण साधन बना सकते हैं। अध्यापक और छात्र के तथा एक छात्र और दूसरे छात्र के पारस्परिक सम्बन्धों में हमें ईसाई नैतिक नियमों का प्रयोग करने का सुनहरा अवसर है। खेल के मैदान में भी इसके लिए अवसर है। सच पूछिए तो "खेल समझकर खेलना" (Playing the game) असल में एक ईसाई गुण है। आदर्श राज्य की अपेक्षा आदर्श स्कूल मिलना अधिक आसान है और किसी स्कूल में वास्तविक ईसाई बंधुता पैदा करना असम्भव नहीं है। ऐसा स्कूल पर्वत के शिखर पर मौजूद प्रकाश की तरह होगा जिसे छिपाया नहीं जा सकता और इसका समाज पर असीमित प्रभाव पड़ सकता है। ऐसे आदर्श पर पहुँचने में छात्रावासों वाले विद्यालय उन विद्यालयों से स्पष्टतया अधिक उपयोगी हो सकते हैं जो दिन के समय पढ़ाते हैं, क्योंकि वे अपने छात्रों के सारे जीवन को प्रभावित करते हैं।

तीसरे, बाइबिल और [illegible] सिद्धान्त का अध्यापन है। हमें स्पष्ट रूप से यह अनुभव करना चाहिए कि बाइबिल को महान् साहित्य मानना नाकाफी है, यद्यपि यह सचमुच इंग्लिश-भाषी लोगों को उत्तराधिकार में मिली शानदार साहित्यिक थाती है। इसे इतिहास मानना भी काफी नहीं, यद्यपि यह और प्राचीन यूनान तथा रोम का साहित्य हमारी सभ्यता की बुनियाद हैं। हम बाइबिल मुख्यतः इसलिए पढ़ाना चाहते हैं क्योंकि यह ईसाई धर्म की प्रतिष्ठित

पुस्तक है और ईसाई विश्वास और उपासना के ढांचे का आधार है"। ईसाइयत एक ऐतिहासिक धर्म है और बाइबिल उन घटनाओं और आंदोलनों का अभिलेख है जिनके परिणामस्वरूप यह धर्म पैदा हुआ। पुराना अहदनामा और नया अहदनामा (Old Testament and New Testament) दोनों पढ़ाने चाहिएँ क्योंकि पुराना अहदनामा पढ़ने के बाद ही नये अहदनामे को ठीक-ठीक समझा जा सकता है। पुराने अहदनामे यानी Old Testament में ईश्वर सम्बन्धी विचारों का विकास पता चलता है, जिससे समय आने पर ईश्वर के विश्वव्यापी पितृत्व का विचार सम्भव हो सका, जिसे ईसा ने उद्घोषित किया था और यद्यपि इस बात पर सदा बल देना चाहिए कि धर्म बौद्धिक विश्वास का ही विषय नहीं है बल्कि एक ऐसी चीज है जो भावनाओं और इच्छा को अनुशासित करती है, तो भी यह समझना गलत है कि बौद्धिक अंश महत्त्वहीन है। ईसाई धर्म में बौद्धिक वस्तु भी है और वह बाइबिल पर आधारित है। इन सब कारणों से ईसाई शिक्षा के लिए बाइबिल का अध्यापन बिलकुल आवश्यक है।

कहीं-कहीं से कोई-कोई हिस्सा लेकर उससे कोई शिक्षा निकालने की विधि स्थायी मूल्य की दृष्टि से बेकार है। "यदि पाठ्यक्रम में किसी तरह की धार्मिक शिक्षा को स्थान देना है तो इसका अध्यापन उतना अच्छा, और आयोजना उतनी प्रभावकारी होनी चाहिए जितनी किसी अन्य विषय की।" यह अन्य विषयों के सर्वथा समकक्ष होना चाहिए, यहाँ तक कि यह परीक्षा का विषय भी होना चाहिए और इसका निरीक्षण भी होना चाहिए। इसे ऐसा अध्यापक ठीक तरह नहीं पढ़ा सकता जिसके विचार बाइबिल सम्बन्धी अध्ययन के विभिन्न पहलुओं के बारे में स्वयं स्पष्ट नहीं हैं—वे विभिन्न पहलू ये हैं : ईश्वर विषयक विचारों का पैदा होना; नैतिक आदर्शों का ईसाई नैतिक आचरणों की ओर बढ़ना; ईसा का जीवन और शिक्षाएँ; ईसाई चर्च की बुनियाद; और ईसाई धर्मविद्या (Theology) के आधार। उसे प्राचीन इ[illegible] का ज्ञान होना चाहिए जिससे वह उस पृष्ठभूमि को समझ सके जिसमें बाइबिल [illegible]ी गई है और उसे आधुनिक विद्वानों के सहमत निष्कर्षों का भी ज्ञान होना चाहिए। उसे अपने छात्रों के मानसिक विकास की मंजिलों का ध्यान रखना चाहिए और एक-एक सीढ़ी चढ़ते हुए उन्हें ऊँची-से-ऊँची जगह पहुँचा देना चाहिए। संक्षेप में, वह बाइबिल की पढ़ाई में उत्साह रखने वाला ही न होना चाहिए, बलिक इस विषय में भी

विशेषज्ञ होना चाहिए कि कौनसी वस्तु बताई जाए और किस विधि से बतायी जाए। प्राथमिक विद्यालयों के बाद की शिक्षा के लिए किशोर अवस्था के छात्रों को पढ़ाने के लिए किसी ऐसे अर्हता-प्राप्त विशेषज्ञ की आवश्यकता है जिसने डिविनिटी अर्थात् धर्मशिक्षा की उपाधि या प्रमाणपत्र प्राप्त किया हो, जो तीव्र-बुद्धि छात्रों के प्रश्नों और समस्याओं का संतोषजनक रीति से जवाब दे सके। पर प्राथमिक विद्यालयों में भी अध्यापन यथासम्भव अच्छा होना चाहिए और उन लोगों के हाथ में होना चाहिए जिनके प्रमाणपत्र में स्क्रिप्चर या डिविनिटी भी शामिल हो। छठी कक्षा के अध्यापक, जो स्वयं दार्शनिक झुकाव रखते हों, अपनी कक्षाओं में विभिन्न दर्शनों के अनुसार किए जाने वाले जीवन के विभिन्न निर्वचनों पर बातचीत कर सकते हैं, और ईसाई धर्मविद्या को उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि में पेश कर सकते हैं। कुछ मुख्याध्यापकों ने देखा है कि इस तरह के पाठ्यक्रम से बड़े लड़कों में बहुत दिलचस्पी पैदा की जा सकती है।

कठिनाइयों को नज़रन्दाज नहीं करना चाहिए। एक बड़ी स्पष्ट कठिनाई बाइबिल के आकार से पैदा होती है। यह सिर्फ एक पुस्तक होने के बजाए एक पुस्तक-संग्रह है, और कुछ-न-कुछ चुनाव करना आवश्यक है। दूसरी कठिनाई यह है कि चौदह या पन्द्रह वर्ष की आयु नें बच्चे स्कूल की पढ़ाई खतम कर लेते हैं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि उन्हें कितना कुछ सिखाना सम्भव है। शायद अध्यापक अधिक से अधिक इतनी आशा कर सकता है कि एक दिलचस्पी पैदा करदे, और ऐसी बुनियादें डाल दे जिन पर बाद में कोई इमारत खड़ी की जा सके। पर जब "माध्यमिक शिक्षा सबको दो," यह नारा अन्त में मूर्त्त रूप में आ जाए, तब यह कठिनाई दूर हो जानी चाहिए, और युवक आन्दोलन के सिल-सिले में, जो अब इतनी तेज़ प्रगति कर रहा है, और भी अवसर प्राप्त होने चाहिएँ। गौस्पल (Gospel) की, जिसे केन्द्र बनाकर अध्ययन करना चाहिए, अपनी विशेष कठिनाइयाँ हैं। इन कठिनाइयों को तुच्छ समझना ठीक नहीं। तो भी स्पेन्स रिपोर्ट प्रबल शब्दों में यह मानती है कि "बाइबिल सम्बन्धी साहित्य में बहुत से ऐसे सर्वथा सुबोध विचार हैं जिन्हें व्यवस्थित रूप में रखा और पढ़ा जा सकता है।" यह वैषयिक (Objective) और ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने की सलाह देती है। बच्चों को यह जानना चाहिए कि जिन्होंने ये पुस्तकें लिखीं, उनके लिए, और जिनके लिये ये पुस्तकें लिखी गईं उनके लिए, इनका क्या अर्थ था। "इस

प्रयोजन को दृष्टि में रखकर पढ़ाने पर बाइबिल स्कूल में, साथ-साथ या बाद में दी जाने वाली किसी अन्य धार्मिक शिक्षा के लिए सर्वोत्तम बुनियाद होगी।"

जीवन के प्रति धार्मिक रुख पैदा करने का हमारा चौथा महत्त्वपूर्ण साधन अध्यापक का वैयक्तिक प्रभाव है। स्पेन्स रिपोर्ट में कहा गया है कि इस पर किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि सर्वोत्तम अध्यापक वह है जिसकी अपने विषय में दिलचस्पी और उसे पढ़ाने की इच्छा धार्मिक विश्वास से प्रेरित होती हो। हम इससे भी आगे बढ़कर यह कह सकते हैं कि यदि उसका ऐसा रुख नहीं है तो वह अपने मुख्य उद्देश्य में असफल रहेगा, क्योंकि बच्चे की अभिवृत्तियों का निर्माण मुख्यतः प्रशंसित व्यक्तियों के सहानुभूति-पूर्ण संसर्ग और सुझाव से होता है। यदि उसमें धार्मिक प्रवृत्ति है, तो भी उसके कुछ साथियों में इसका अभाव होने पर उसके कार्य का प्रभाव नष्ट हो सकता है। स्कीनर ने इस समस्या पर विचार किया है और अध्यापकों के सर्वकक्ष (Common Room) से हो सकने वाली कठिनाई का कल्पित चित्र पेश किया है। इस सर्वकक्ष में "सहृदय प्रकृति का अज्ञेयवादी, स्पष्टभाषी नास्तिक और धर्म-विरोधी" ये सब तरह के लोग हैं और उनमें से कोई भी अपने विचार अपने छात्रों से छिपाने की परवाह नहीं करता। हमारा यह मतलब नहीं है कि ऐसे लोगों को हमारे लोकतन्त्र में शिक्षा-कार्य करने का अधिकार नहीं है, या कि नेशनल यूनियन आफ टीचर्स को नापसन्द धार्मिक परीक्षा लागू कर दी जाए, पर समस्या वास्तविक है और इस प्रश्न का किसी न किसी समय और किसी न किसी प्रकार जवाब देना होगा। कम-से-कम इतनी बात पर तो सब लोग सहमत होंगे ही कि नास्तिक और अज्ञेयवादी अध्यापकों को जान-बूझकर या अनजाने में अपने सहयोगियों के प्रयत्नों में बाधा नहीं डालनी चाहिए। पर हम इससे कुछ अधिक बात चाहते हैं। ईसाई धर्म हमारे पुनर्रचना काल के स्कूलों के जीवन और कार्य का आधार तब तक नहीं बन सकता जब तक हम अध्यापन के पेशे में ऐ[illegible]वकों और नवयुवतियों की बड़ी संख्या को आकर्षित करने में सफल नहीं हो [illegible] जो स्वयं विश्वास और व्यवहार में ईसाई हैं।

चूँकि यह पुस्तक एक ऐसे सनिवास (Residential) ट्रेनिंग कालेज से निकाली जा रही है जो क्रिश्चियन चर्च की एक महत्त्वपूर्ण शाखा से सम्बन्धित है, इसलिए यह उचित होगा कि अन्त में दो शब्द इस तरह के कालिजों के बारे में भी कह

दिये जाएँ। विचारणीय विषय की दृष्टि से उनकी स्थिति मनोरंजक भी है, और महत्त्वपूर्ण भी। शुरू में वे साम्प्रदायिक (Denominational) स्कूलों के लिए अध्यापक प्रशिक्षित करने के वास्ते बनाये गये थे, पर अब वे स्थानीय निकायों के स्कूलों को अधिकाधिक संख्या में अध्यापक दे रहे हैं। यह प्रश्न प्रायः उठाया गया है कि क्या अब उनका मुख्य कार्य खत्म नहीं हो गया, और क्या अब उनका जारी रहना उचित है? क्या वे अब बिल्कुल व्यर्थ हैं, और आज के नये ज़माने में वे सिर्फ भावनावश जीवित रखे जाते हैं? उन पर यह आरोप लगाया गया है कि वे ऐसे स्थान हैं, जहाँ नौजवानों को समाज के सम्पर्क से अलग रख कर बिल्कुल दूर रखा जाता है। उनको मतवाद (Sectarialism) के अड्डे बताया गया है। जो लोग उनके प्रयोजन से अनभिज्ञ हैं उन्होंने उनकी बार-बार निन्दा की है। असली स्थिति क्या है? आज उनका वास्तविक औचित्य क्या है?

पहली बात तो हम यह कह सकते हैं कि वे अध्यापन-कार्य के लिए ऐसे नवयुवकों और नवयुवतियों को बड़ी संख्या में एकत्र और प्रशिक्षित करते हैं जो ईसाई विश्वासों और व्यवहारों वाले घरों में पले हैं। यदि किसी कालिज का, जो किसी धार्मिक संस्था द्वारा पोषित और अनुप्राणित हो, समझदारी से प्रबंध किया जाए, यदि उसके अधिकारी अपने महान् दायित्वों को उठाने में सफल हो सकें, तो वे ऐसे तरुण लोगों के विश्वास को उनके परिवर्धन की एक नाजुक अवस्था में पुष्ट, कायम और अनुप्राणित कर सकते हैं। इसका आदर्श एक ऐसी ईसाई बंधुता पैदा करना है जो इसके सब सदस्यों को शक्ति और प्रेरणा देने वाली हो।

ऐसी संस्था में कालेज के उपासना-घर को सारे जीवन का केन्द्र बनाया जा सकता है। इसके धार्मिक कार्यों का प्रभाव बड़ा महत्त्वपूर्ण है और अंत में वह सारे देश की शिक्षा पर पड़ेगा बशर्ते कि वे धार्मिक कार्य सरल और ऊँचे दर्जे के हों। उनमें ऊँचे दर्जे के भजन गाये जाएँ और ऐसा उपदेश दिया जाए जो ठोस और उदार सहृदयता से परि[illegible]। इन धार्मिक कार्यों या सत्संगों का कार्यक्रम इस तरह बनाना चाहिए कि उनसे न केवल उस चर्च के सदस्यों की आवश्यकताएँ पूरी हों, जिसका वह कालिज है, बल्कि उन सदस्यों की आवश्यकताएँ भी पूरी हों जो किसी अन्य चर्च के सदस्य हैं या किसी भी चर्च के सदस्य नहीं हैं। यदि उपासना-घर अच्छा होगा तो कालिज में स्वतः ईसाई क्रियाशीलता और बंधुत्व

पैदा हो जावेगा। कोई आपत्ति उठा सकता है कि उपासना-घर सबके लिए अनिवार्य क्यों हो। लेखक इसका यही उत्तर दे सकता है कि वेस्टमिंस्टर कालेज में छात्रों को इतना ही बताना काफी था कि उपासना-घर कालिज जीवन का केन्द्र है और केन्द्र होने के लिए आशयित है। इतना बता देने से, और साथ ही दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा के कारण लड़के उसमें अपने आप आते हैं। अधिकतर छात्र यह बता दिये जाने पर संतुष्ट हैं कि इस मामले में उनसे क्या आशा की जाती है।

धार्मिक आधार पर बनाये गये सनिवास कालेज इस तरह ईसाई अध्यापकों के पोषणालय बनने का उत्तम अवसर प्रस्तुत करते हैं। उन्हें ईसाइयत बाहर से नहीं लानी पड़ती, बल्कि ईसाइयत उनके रोम-रोम में व्याप रही होती है। उनके काम का एक महत्वपूर्ण पहलू हमेशा यह होना चाहिए कि बाइबिल और क्रिश्चियन सिद्धान्त का अध्ययन किया जाए। उनमें ऐसे विशेषज्ञ होने चाहिएँ जो न केवल उपासना करा सकें और उनमें प्राण भर सकें, बल्कि आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में बाइबिल पढ़ा सकें, क्रिश्चियन सिद्धान्त को व्यापक और विद्वत्तापूर्ण रीति से पेश कर सकें, छात्रों को यह विश्वास दिला सकें कि इस तरह की पढ़ाई में उन्हें अपनी बुद्धि का पूरा प्रयोग करना चाहिए और विविध प्रकार के स्कूलों में कार्य सँभालने के लिए छात्रों को तैयार कर सकें।

यदि ये बातें थोड़े से छात्रों में भी आ सकें तो ऐसे कालेजों के बने रहने की कोई सफाई देने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रथमतः, इनका ही यह काम है कि स्पेंस रिपोर्ट में कही गई बातों, आर्कबिशपों की अपील और **टाइम्स** के विचारों को क्रियान्वित करने के लिए स्कूलों द्वारा अपेक्षित अध्यापक दें। अब उन्हें, जिस काम के लिए उनकी स्थापना हुई थी उनकी अपेक्षा अधिक व्यापक और महवत्त्पूर्ण काम करना है। उनका प्रयोजन अपने यहाँ से ऐसे पुरुषों और स्त्रियों को तैय्यार करके लगातार बा[illegible] भेजते रहना है जो सारी राष्ट्रीय शिक्षा को ईसाई धर्म के सिद्धांतों के प्रचार द्वारा[illegible] बल्कि स्वयं उदार हृदय, व्यापक दृष्टिकोण और संजीदगी तथा जानकारी वाले ईसाई बन कर अनुप्राणित कर सकें, जो हमारी ईसाई सभ्यता की बुनियादों की पुनर्रचना में अपना योगदान करने को उत्सुक और समर्थ हों।